जीव-विज्ञान

भाग 3

जंतु-जीवन की विविधता

संपादक
स्व. प्रो. पंचानन महेश्वरी
डा. मनोहरलाल

अनुवादक
रमेशदत्त शर्मा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

प्रकाशकीय विज्ञप्ति

प्रस्तुत पुस्तक राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद् के अतर्गत नियुक्त विशेषज्ञों की समिति द्वारा उच्चतर माध्यमिक स्कूलों के लिए तैयार की गई पाठ्यपुस्तक 'बायोलाजी सेक्शन 3' का हिंदी अनुवाद है। इस पाठ्यपुस्तक-समिति के अध्यक्ष स्व. प्रो. पंचानन महेश्वरी थे। इस पाठ्यपुस्तक के अन्य भागों का अनुवाद तैयार किया जा रहा है और आशा है कि चौथा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित कर दिया जाएगा।

अंग्रेजी की मूल पाठ्यपुस्तकों के सात भागों के प्रथम संस्करण पाँच खंडों में प्रकाशित हो चुके हैं। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने 1967-68 से इस संपूर्ण पुस्तक को पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकार कर लिया है। हमारा विश्वास है कि इसका उच्चतरमाध्यमिक स्कूलो मे जीव-विज्ञान के ऐच्छिक अध्ययन में सर्वत्र उपयोग किया जाएगा।

स्व. प्रो. महेश्वरी को इस पुस्तक के तैयार करने के उत्तरदायित्व को पूरा करने में जीव-विज्ञान पाठ्यपुस्तक-समिति के इन सदस्यों ने सक्रिय सहयोग प्रदान किया है :

(1) डा. एन. बी. इनामदार, जंतु-विज्ञान के विभागाध्यक्ष, इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस, बंबई; (2) डा. एल. एन. जौहरी, रीडर, वनस्पति-विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय; (3) प्रो. आर. डी. मिश्रा, वनस्पति-विज्ञान विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय; (4) डा. एल. पी. मल, वनस्पति-विज्ञान विभाग, विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर; (5) प्रो. बी. त्यागी, वनस्पति-विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर; (6) डा. मनोहरलाल, वनस्पति-विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय; (7) प्रो. बी. एम. जौहरी, जीव-विज्ञान के विभागाध्यक्ष; दिल्ली विश्वविद्यालय (8) डा. एच. एस. विश्नोई, व्याख्याता जंतु-विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय; और (9) श्री एस. दुरैस्वामी, विज्ञान शिक्षा विभाग (सचिव)। इनके अतिरिक्त देश के कई विख्यात जीवविज्ञानियों ने विभिन्न पाठो के मूल प्रारूप तैयार करने में समिति की मदद की थी।

अंग्रेजी पाठ्यपुस्तक के लिए स्व. प्रो. महेश्वरी द्वारा लिखे गए प्राक्कथन का निम्न उद्धरण लेखकों के अभिप्राय, विषय के प्रति दृष्टिकोण और पाठ्यपुस्तक में निहित प्रयुक्त पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है :

"पिछले कई वर्षो से मै स्कूल तथा कालेज-स्तर की जीव-विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों की कमी अनुभव कर रहा था। इस विषय पर जो भी किताबें मिलती हैं, उनमें से अधिकतर जीव-विज्ञान के वर्णनात्मक पक्ष पर बल देती और उनमें इस विषय की नई और मूलभूत बातों की उपेक्षा की गई होती है। पूरी तरह नही तो कम-से-कम आशिक रूप से ऐसी पुस्तको के कारण जन-साधारण के मन में जीव-विज्ञान का महत्त्व बहुत ऊँचा नही उठ पाया है और विज्ञानों की सूची में इसको सबसे बाद में गिना जाता है। कोई भी विचारवान मनुष्य इस बात से इन्कार नहीं कर सकता है कि जीव-विज्ञान मानव जीवन को बहुत अधिक प्रभावित करता है और किसी भी जिम्मेदार बुद्धिमान नागरिक के लिए इसका अध्ययन एक प्रकार से अनिवार्य ही है। इतना ही नहीं, कालेज और यूनिवर्सिटी कक्षाओं के लिए टालने के बजाय जीव-विज्ञान की पढ़ाई शुरू में ही स्कूल से प्रारंभ करनी होगी और इसको स्कूली पाठ्यक्रम

का अविभाज्य अंग बनाना होगा। देखा गया है कि विद्यार्थी आगे जाकर अपने विषय का चुनाव प्रायः उन्हीं विषयों में से करता है जो उसने स्कूल में ही पढ़ लिए हों तथा जिनमें सुचारू रूप से विषयवस्तु रखी गई हो।"

"विकास पर हमने अलग से दो अध्याय दिए हैं, लेकिन जीव जगत् के अध्ययन में भी इस सर्वव्यापी सिद्धांत की झाँकी बराबर मिलती रहे, इसका भी ध्यान रखा गया है। वनस्पतियों और जंतुओं में समान रूप से मिलनेवाली जीवन की बातें यथासंभव एक साथ ली गई हैं। पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग कम-से-कम करने की कोशिश की गई है और जहाँ उनके प्रयोग से समझाने में मदद मिलती है, वहीं उनको अपनाया गया है। जीव-विज्ञान की महत्त्वपूर्ण खोजों के ऐतिहासिक पक्ष को भी सामने रखा गया है जिससे विद्यार्थी यह समझ लें कि विज्ञान की प्रगति कैसे होती है।"

विषय को सुबोध, प्रेरक और ज्ञानवर्द्धक रूप से प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य रहा है। इस पर सम्मतियों, आलोचनाओं और सुझावों का हम स्वागत करेंगे और इस पुस्तक के संशोधित संस्करण में इन सबसे लाभ उठाया जाएगा।

भूमिका

आज राकेट, परमाणु-ऊर्जा, कृत्रिम प्लास्टिक और कृत्रिम वस्तु, तथा अंतरिक्ष-यात्रा जैसी उल्लेखनीय उपलब्धियों की चकाचौंध मे जीवों के अध्ययन और उनके कार्य तथा महत्त्व की ओर या तो कम ध्यान दिया जा रहा है, या उसे नजरअंदाज़ करने की कोशिश हो रही है। बहुत बार यह भुला दिया जाता है कि बौद्धिक जिज्ञासा की शांति के अलावा विज्ञान का मूल उद्देश्य मानव जाति को विनाश से बचाना और उसका कल्याण करना है। मानव-कल्याण में और आदमी को जंगलीपन की हालत से छुटकारा दिलाकर 'आदमी बनाने' में जितना योग वनस्पतियों, जंतुओं और स्वयं मनुष्य की देह के ज्ञान ने अर्थात् जीव-विज्ञान ने दिया है, उतना और किसी ने नहीं दिया। कहा जाता है कि मानवजाति के चार शत्रु हैं—रोग, युद्ध, अकाल और अब बढ़ती हुई आबादी। अतः मानव को दृष्टि में रखते हुए जीव-विज्ञान समस्त विज्ञानों से अधिक आधारभूत और महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। यह राज्यों की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं से संबंधित नीतियों को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए: प्राकृतिक तथा मानवीय स्रोतों का परिरक्षण (preservation) परमाणु-परीक्षण, जनसंख्या-नियंत्रण, संगरोध (quarantine) और स्वास्थ्य-संबंधी योजनाएँ। यही नहीं, जीव-विज्ञान उन अनेक पहेलियों को सुलझाता है, जो अकसर आदमी को चक्कर में डाले रहती हैं, जैसे कि सेक्स का निर्धारण कैसे होता है। संतान के सेक्स का उत्तरदायी कौन है—माँ या पिता; जुड़वाँ बच्चे कैसे पैदा होते हैं; बच्चे अपने माँ-बाप से मिलते-जुलते कैसे होते हैं; किसी रोग से हमारी रक्षा किस प्रकार होती है; बुढ़ापा आने पर आदमी निर्बल क्यों हो जाता है; वनस्पतियाँ और जंतु एक-दूसरे पर निर्भर हैं तो क्यों कर; आदि, आदि।

सफ़ाई, पोषण तथा कीटों के नियंत्रण-जैसी आदर्श नागरिकता की ओर भी बहुत-सी बातों के लिए जीव-विज्ञान की जानकारी होना बड़ा जरूरी है। और सबसे आखिरी बात तो यह है कि जीव-विज्ञान जो वनस्पति-जगत् और जंतु-जगत् की समानताओं और विविधताओं का पूरा चित्र प्रस्तुत करता है, बौद्धिक मनोरंजन और सौन्दर्यबोध की दृष्टि से भी बड़ा ही आनंद और संतोष देने वाला विषय है। सच तो यह है कि दैनिक जीवन में इसकी उपयोगिता को देखते हुए सभी विद्यार्थियों के लिए जीव-विज्ञान को एक अनिवार्य विषय बना देना चाहिए। इस सबके लिए हमे उचित पाठ्यपुस्तकों की जरूरत है, जोकि हमारे देश की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए इस विषय को संतोषजनक ढंग से प्रस्तुत कर सकें। यह पुस्तक इसी दिशा में एक प्रयास है।

क्या जंतु-विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान को अलग-अलग विषयों के रूप में पढ़ना चाहिए

इस पुस्तक में वनस्पतियों और जंतुओं का विवरण साथ-साथ देते हुए जहाँ तक संभव था सजीव पदार्थ के संगठन और क्रिया की मूलभूत एकता पर बल देने की कोशिश की गई है। पहली नज़र में यह तरीका उन सभी लोगों को अखर सकता है, जो वनस्पति-विज्ञान और जीव-विज्ञान को दो अलग-अलग विषयों के रूप में पढ़ाने के आदी रहे हैं और दोनों में बहुत कम समानता देखते हैं या फिर कोई समानता नही पाते। हो सकता है कि वे यह पूछ बैठें कि नीम के पेड़ और गाय में क्या समानता है। ऐसे आलोचकों के लिए हम बिलकुल शुरू में ही अपनी बात रखे देते हैं।

उन्नीसवीं सदी में हर विषय को दूसरे से अलग करके देखने-समझने की प्रवृत्ति थी, लेकिन पिछले पचास वर्षों में जीवन-प्रक्रमों के बारे में ज्यों-ज्यों हम गहराई से उतरते जा रहे हैं, इस तरह

विभाजन का खोखलापन साफ़ होता जा रहा है और सभी विज्ञान पास-पास सिमट आए हैं। कुछ समय पहले ही जीव-रसायन (Biochemistry) और जीव-भौतिकी की नवीन विधियों से कोशिका के क्रिया-विज्ञान के बारे में जो-जो खोजें हुई हैं, उनसे खासतौर पर जंतु और वनस्पति की मूल समता की ओर ध्यान खिंचा है। इसी तरह आनुवंशिकी (Genetics), कोशिका-विज्ञान (Cytology), विकास (Evolution), शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) और इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी से प्राप्त ज्ञान को देखें तो जंतु-विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान एक ही जमीन पर खड़े नजर आएँगे। कोई कारण समझ में नहीं आता कि दिन-दूने बढ़ते हुए इन विषयों का ज्ञान विद्यार्थी को उच्चतर माध्यमिक (हायर सेकेण्डरी) स्तर पर ही क्यों न कराया जाय। जहाँ तक अन्य पक्षों का प्रश्न है, वहाँ हमने भी वनस्पतियों और जंतुओं का विवरण अलग-अलग खंडों में दिया है। यहाँ हम यह बता दें कि इंग्लैंड और अमरीका के स्कूलों में तो पिछले 10-15 साल से जीव-विज्ञान का एक मिश्रित पाठ्यक्रम चल रहा है और कुछ समय से वहाँ के विश्वविद्यालयों में भी बी. एससी. स्तर के लिए इसी तरह के पाठ्यक्रम अपना लिए गए हैं।

अनुसंधान के स्तर पर भी इंग्लैंड और अमरीका की कुछ विख्यात प्रयोगशालाओं में कुछ यूनिट ऐसे हैं, जिनमें कि वनस्पति और जंतु दोनों पर साथ-साथ काम किया जाता है। अगर हम चाहते हैं कि हमारे देश के भावी कर्णधार जीव-विज्ञान संबंधी अनुसंधान के क्षेत्र में आगे चलकर देश का मस्तक ऊँचा उठाएँ, तो यह बड़ा ज़रूरी है कि स्कूल-स्तर पर ही पाठ्यक्रम को सुधार कर ऐसा कर दिया जाए कि वे विषय को सही दृष्टिकोण से पढें। यहाँ एक यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जीव-विज्ञान का पाठ्यक्रम ही एकमात्र विषय है, जिससे लड़के-लड़कियाँ अपने जीवन में आगे चलकर अवश्य ही लाभ उठाएँगे, भले ही, जीविका के लिए वे इसे चुनें या न चुनें।

बीसवीं शताब्दी में जीव-विज्ञान

उन्नीसवीं सदी में जीव-विज्ञानियों ने अपना ध्यान मुख्यत: वनस्पति और जंतुओं की आकारिकी (morphology) और शारीर (anatomy) के अध्ययन में लगाया था। उस समय ऐसा किया जाना स्वाभाविक ही था, लेकिन इधर बीसवीं सदी में आकर जीव-विज्ञान के विषय और उसकी प्रवृत्ति दोनों में ही बड़े भारी परिवर्तन हुए हैं। हालाँकि अनेक आधारभूत उपलब्धियाँ, तीखी जाँच-परख और तर्क-युक्त विश्लेषण के द्वारा भी प्राप्त की गईं, परंतु इस जीव-विज्ञान की इस अप्रत्याशित प्रगति के पीछे निश्चय ही भौतिकी तथा रसायन-विज्ञान की नई विधियों का बड़ा हाथ है। मेंडल के आनुवंशिकता-नियमों को फिर से कसौटी पर परखा गया, जिससे कि आनुवंशिकी में लोगों को नए सिरे से रुचि पैदा हुई और वंशागति की ठीक-ठीक प्रक्रिया क्या है, यह समझने की कोशिश की गई, जिसमें सफलता भी मिली। वनस्पति और जंतुओं में कृत्रिम रूप से उत्परिवर्तन (mutation) पैदा करने के साधन खोज निकाले गए। किसी खास किस्म के लक्षण को अभिव्यक्त करने वाले जीन पर जीव-विज्ञानी ने जैसे उँगली रखकर बता दिया कि ऐसा अमुक जीन के कारण होता है। इलैक्ट्रॉन माइक्रोस्कोपी, अल्ट्रा-सेंट्रीफ्यूगेशन, स्पैक्ट्रो-फोटोमिट्री और अन्य तकनीकों की सहायता से जीवित कोशिका की जटिल कारीगरी की एक-एक बारीकी जान ली गई, यहाँ तक कि आनुवंशिक पदार्थ-डी एन ए (DNA) को कोशिका से पृथक करने और उसका कृत्रिम संश्लेषण करने में भी सफलता मिली। पिछली सदी में एंजाइमों का अध्ययन एक बहुत ही छोटा विषय था, वही आज बढ़कर एंजाइमोलोजी के रूप में अनुसंधान का एक विशाल क्षेत्र बन गया है। विटामिन, हार्मोन, और एंटीबायोटिकों का ज्ञान भी इस सदी के ही जीव-विज्ञान की देन है। तंत्रिकाएँ कैसे काम करती हैं, मस्तिष्क कैसे काम करता है, और प्रकाशसंश्लेषण (photosynthesis) तथा श्वसन (respiration)—जैसे अनेक शरीर-क्रियात्मक प्रक्रमों के बारे में हमारी जानकारी पिछले

40 वर्षों की खोजों से ही बढ़ी है। इस सूची में हम कुछ और नए-नए विषय जोड़ सकते है, जैसे विपाणु-विज्ञान (virology), विकिरण-जैविकी (radiation biology), अंतरिक्ष-जैविकी (space biology) कैंसर और हृदय-रोगो की औषधियों की खोज और अंत में स्वयं जीवन को प्रयोगशाला में पैदा करने के रोमांचकारी प्रयास ।

इस तरह हम देखते है कि जीवों के नाम गिनाने और उनके रूप-आकार के बोझिल विवरणों को छोड़कर अब क्रियात्मक पक्षो पर अधिक बल दिया जाने लगा है। स्पष्ट है कि यदि हम, जैसा कि हमारे अधिकतर स्कूलों और कालेजों में चल रहा है, उसी तरह उन्नीसवीं सदी के ही जीव-विज्ञान की शिक्षा अपने विद्यार्थियों को देते रहे, तो आगे चलकर आधुनिक विज्ञान-जगत् में ये विद्यार्थी अपने को अजनबी पाएँगे, और वे उसकी माँगो की पूर्त्ति न कर सकेंगे ।

परिवर्तन जरूरी है

वर्त्तमान पाठ्यक्रमों के शुष्क और नीरस होने का एक कारण यह है कि उनकी विषयवस्तु का अधिकांश या सबका सब वर्णनात्मक होता है। हम यह मानते हैं कि आकारिकी आज भी जीव-विज्ञान की आधारशिला है और होनी चाहिए, परंतु एक वही तो नहीं है; शरीर-क्रिया-विज्ञान (physiology) पारिस्थितिकी (ecology), विकास, तथा वनस्पति और जंतुओ के पारस्परिक संबंध आदि को भी छोड़ा तो नही जा सकता। हम जिस सदी मे साँस ले रहे है उसके द्वारा कमाया गया ज्ञान-भंडार इतना अपार है, किन्तु अधिकतर भारतीय पाठ्यपुस्तकों में उसका कोई उल्लेख नही किया जाता और न उनमें वनस्पति और जंतुओ की आपस में एक-दूसरे पर निर्भरता पर ही कोई प्रकाश डाला जाता है। सच तो यह है कि प्रचलित पाठ्यपुस्तको में से अधिकतर जीव-विज्ञान की आधुनिक विचारधारा से पचास साल तक पीछे हैं। शायद यह भी सच हो कि जीव-विज्ञान के जिन पक्षो मे रसायन-विज्ञान और भौतिकी की एक तरह से गहरी जानकारी अपेक्षित है, वे स्कूली विद्यार्थी के लिए काफी उच्च स्तर के और जटिल हैं। लेकिन तरुण विद्यार्थियो के सीखने की क्षमता को लेकर पिछले दिनों ही जो प्रयोग किए गए है, उनसे यह बिलकुल साफ़ हो गया है कि शरीर-क्रिया-विज्ञान और आनुवंशिकी के सामान्य सिद्धांत बड़े ही प्रभावकारी ढंग से पढ़ाए जा सकते है, बशर्ते कि इसके लिए एक सरल और रोचक तरीका अपनाया जाए और उन्हें दिखाने के लिए कुछ प्रदर्शन-सामग्री भी हो। उदाहरण के लिए, प्रकाशसंश्लेषण और श्वसन के दौरान क्या होता है और जीव बाहरी और भीतरी उद्दीपनों के प्रति क्या अनुक्रिया करता है, इस तरह की समस्याओं में विद्यार्थियों की पौधों और कुलों के लक्षण याद करने या मेंढक की अंस-मेखला (pectoral girdle) का वर्णन करने की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी होती है। इसी तरह प्रैक्टीकल करते समय भी एक तरुण विद्यार्थी एक एंजाइम द्वारा स्टार्च के पाचन-संबंधी प्रयोग में, पत्तियो और हड्डियों के चित्र बनाने से अधिक रुचि लेगा। यह वास्तव में बड़ी खेदपूर्ण बात होगी कि जीव-विज्ञान के किसी विद्यार्थी के मन में यह धारणा बैठ जाए कि कुछ मेढक काटने, घास-फूस इकट्ठा करने या पौधों और जंतुओं को एक अपरिचित भाषा में नाम देने के सिवा जीव-विज्ञान में है ही क्या ?

कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि हमारी पाठ्यपुस्तकें पहले से ही विश्वकोश-जैसी पोथी बनी हुई है, और विद्यार्थी के पास जितना समय रहता है उसको देखते हुए अब और नई सामग्री शामिल करना बड़ा मुश्किल है। निस्संदेह यह एक बड़ी कठिनाई है; क्योंकि वैज्ञानिक ज्ञान तो हर दस-पंद्रह वर्ष की अवधि के बाद दुगुना हो जाता है ? वास्तव में अकेली बीसवीं सदी ने जितनी वैज्ञानिक जानकारी दी है, वह उससे पहले 5000 वर्षों में भी नहीं मिली थी। स्वाभाविक है कि इस बढ़ी हुई जानकारी को कुछ मोटी-मोटी जीव-विज्ञानीय संकल्पनाओं में ढालकर, ऐसा बना दिया जाए कि वे हमारी दैनिक विचार-

धारा में घुल-मिल सकें। इसके लिए कुछ अनावश्यक बातों को तो छोड़ना ही पड़ेगा। वे सभी तथ्य जो केवल गिनती में बढ़े है और वे सभी विषय जो अनावश्यक विस्तार में जाते है, काट फेंकने होंगे। उदाहरण के लिए, हम यह कह सकते है कि पुष्पों या कशेरूकों के संगठन में जो अपार विविधताएँ मिलती है, विद्यार्थी को उन सभी के जानने के लिए ज्यादा समय खपाने की जरूरत नहीं है, सारी चीजें स्कूल-स्तर पर ही तो पढ़ाई नही जा सकतीं, इसलिए कितने गहरे में उतरना है, और कितनी दूर ले जाना है, इसमें संतुलन कायम रखना होगा।

एक और विस्मय की बात यह रही है कि भारत में प्रचलित पिछले सभी पाठ्यक्रमों में खुद आदमी के बारे में कुछ भी जानना ज़रूरी नहीं समझा गया और मानव-जैविकी (Human Biology) का अध्ययन सदैव वर्जित रक्खा गया। तरह-तरह के तनों और जड़ों के साथ-साथ मेढक की छोटी-से-छोटी हड्डी के बारे में विद्यार्थी हर बारीकी को जानने के लिए विस्तार से यह सब कुछ पढ़ते रहे, जबकि अपने स्वयं के शरीर के बारे में उनका दिमाग कोरी स्लेट बना रहा।

प्रस्तुत प्रयास

यह पुस्तक सात भागो मे बॉटी गई है, जो एक-दूसरे-से बहुत कुछ स्वतंत्र है। पहले भाग में विद्यार्थी को विज्ञान, विशेषतौर पर जीव-विज्ञान की विषयवस्तु से और सजीव पदार्थ की विशेषताओं से परिचित कराया गया है। दूसरे और तीसरे भागों में क्रमश: वनस्पति और जंतु-विज्ञान की झाँकी दी गई है, जिससे कि वह इन जीवों के विविध रूपों की विस्तृत जानकारी पा सके। जंतु और वनस्पतियों के प्रमुख शरीर-क्रियात्मक प्रक्रमों के बारे में, सरल शैली में समझाने की कोशिश चौथे भाग में की गई है। पाँचवें में वनस्पति और जंतु-जगत् की जननविधियों का तुलनात्मक विवरण दिया गया है। आनुवंशिकता, विकास और पारिस्थितिकी छठे भाग में शामिल है। पुस्तक का उपसंहार करते हुए मनुष्य के रोग, जंतु और वनस्पतियों की परस्पर-निर्भरता तथा मानव-कल्याण में जीव-विज्ञान का योग जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों और अध्यापकों के हाथों में इस पुस्तक को सौंपते हुए, हमें बड़े हर्ष का अनुभव हो रहा है। जो भी सुझाव आएँगे, उन्हें अगले संस्करण में स्थान देने का हम पूरा प्रयत्न करेंगे।

संपादक

पंचानन महेश्वरी

मनोहर लाल

वनस्पति-विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

विषय-सूची

भाग 3

भाग 3

जंतु-जीवन की विविधता

विषय-प्रवेश

जंतुओं के कुछ बड़े-बड़े समूहों का परिचय तुम प्रथम भाग में प्राप्त कर चुके हो अत: अब जंतुओं के जीवन की विविधता के साथ-साथ उनकी और अपनी देह के कार्य करने की विधि के बारे में विस्तार से जानना अच्छा रहेगा।

जैसा कि हमने पौधों के वर्णन में (दूसरा भाग) किया था, यहाँ भी हम उन्हीं जंतुओं से शुरू करेंगे जिनसे तुम भली-भाँति परिचित हो अर्थात् कशेरुकियों (vertebrates)। जंतु की देह किस तरह सारे कार्य करती है इसकी जानकारी तुम्हें मेंढक के विभिन्न अंगों के बारे में अध्ययन करके और प्रयोग-कक्षा में डिसेक्शन करने से मिलेगी।

जंतुजगत पर सरसरी निगाह डालते समय तुम्हें लगेगा कि जंतुओं की क्रम विकासीय कथा में कुछ मोटी-मोटी प्रवृत्तियाँ हैं। इनमें सबसे पुरातन जंतु एककोशिक प्रोटोजोआ हैं, लेकिन एक कोशिका के भीतर जीवन के रूप और आचरण में जितनी विविधता संभव हो सकती है, वह सब उनके अंदर देखी जा सकती है। जैसा कि मेटाजोआ में होता है अनेक कोशिकाओ के समूहों के जुड़ने से जीवन में और अधिक विविधताएँ हो जाने के अवसर बढ़ जाते हैं और कोशिकाओं के विभेदन के फलस्वरूप और अधिक अंग बनने लगते हैं, जिसके साथ ही जटिलताओं अथवा विशेषीकरण के रास्ते खुल जाते हैं। मेटाजोआ में सबसे भिन्न श्रेणी के जंतु स्पंज और सीलेन्टरेटा हैं, जिनमें देह के बीच में एक खोखली जगह होती है जो कि भोजन को पचाने के साथ-साथ कुछ अन्य क्रियाएँ करती है। बाद के जंतुओं में, पाचन गुहा एक निश्चित शक्ल की हो जाती है और इनमें से भी उच्चतर जंतुओं में पाचन क्रिया में सहायता करने के लिए अग्न्याशय (pancreas) और यकृत (liver) आदि अनेक अतिरिक्त अंग भी शामिल हो जाते हैं।

मेटाजोआ की देह एक ही कोशिका निषेचित अंड या युग्मनज से परिवर्धित होती है। यह कोशिका बार-बार विभाजित होकर कोशिकाओं की एक खोखली गेंद-सी बना देती है। यह गेंद एक स्थान से भीतर धँसने लगती है (invagination-अंतर्वलन) और एक प्यालानुमा रचना बनाती है, जिसमें कोशिकाओं की दो परतें होती हैं। बाहरी परत **बाह्यचर्म या एक्टोडर्म** (ectoderm) कहलाती है और भीतरी परत **अंतश्चर्म या एन्डोडर्म** (endoderm)। सीलेन्टरेटों में वयस्क जंतु की देह में भी सिर्फ ये ही दो परतें होती है (चित्र 1)। अत: इस तरह के जंतुओं को **द्विकोरकी या डिप्लोब्लास्टिक** कहते हैं। (ग्रीक-*डिप्लोऑस*=दो, द्वि; *ब्लास्टास*=कली, कोरक—अर्थात् जिनमे दो भिन्न जनस्तर (germinal layer) होते हों। उच्चतर श्रेणी के जंतुओं की देह की बनावट में जटिलता का प्रवेश तीसरे जनस्तर के साथ हुआ, जिसे मध्यजनस्तर या **मेसोडर्म** (mesoderm) कहते है, जो कि बाह्यचर्म और अंतश्चर्म के बीच में स्थित होता है। इनमें से प्रत्येक स्तर या परत से अनेक ऊतक बनते है, जिनके फलस्वरूप फिर तरह-तरह के अग बनते है। जिन वयस्क जंतुओं के अंग तीन जनस्तरों से बनते हैं, उनको **त्रिकोरकी या ट्रिप्लोब्लास्टिक** (triploblastic) कहा जाता है (ग्रीक-*ट्रिप्लीऑस* =तीन, त्रि; *ब्लास्टास*=कली, कोरक)। तीसरी
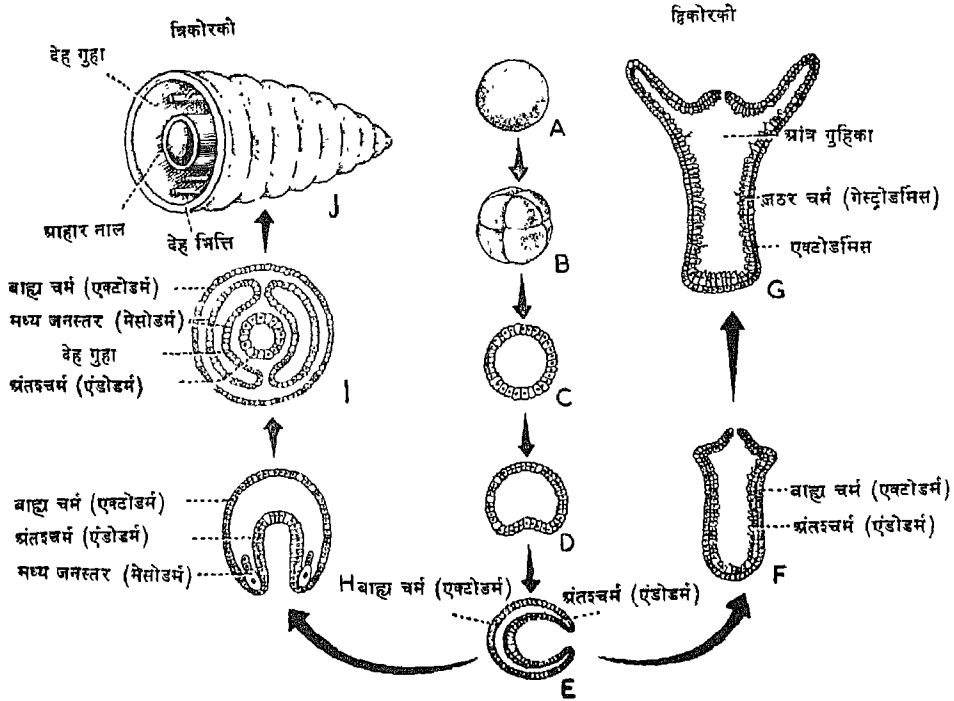
चित्र 1 बहुकोशिक जंतुओं में द्विकोरकी (Diploblastic) और त्रिकोरकी (Triploblastic) अवस्था का परिवर्धन।

परत के बनने के समय के साथ ही देह भित्ति (body wall) और पाचन नाल (digestive canal) के बीच में एक दूसरी खोखली जगह या गुहा (cavity) बनती है, जिसे देह गुहा या सीलोम (coelome) कहते है। इस तरह देह रचना की उस सुपरिचित शैली नलिका के भीतर दूसरी नलिका का उदय होता है, जो कि निमेट हेल्थीज से लेकर सभी मेटाजोआ की विशेषता है।

जंतुओं के बाहरी रूप और आकृति का वर्णन करने से पहले इससे संबंधित कुछ मूल पारिभाषिक शब्दों को समझ लेना उचित होगा। बाह्य रूप का वर्णन करते समय प्राय: यह बताया जाता है कि जंतु सममित है या असममित। **सममित** (symmetrical) जंतु – वह होता है, जिसको अगर केन्द्र से गुजरती हुई काल्पनिक रेखाओ से काटा जाए तो समान अर्धकों (जिनमें प्रत्येक भाग दूसरे भाग से इस प्रकार मिलता-जुलता हो जैसे कि दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिंब समान दिखाई पड़ता है) में बाँटा जा सके। तुम तुरंत सोचने लगे होगे कि इस तरह तो हर जंतु में कोई न कोई सममिति (symmetry) अवश्य होती है। किन्तु तुम देखोगे कि अमीबा-जैसे जंतु का कोई स्थायी रूप नही होता। किधर से भी काटे उसे कभी भी समान अर्धकों मे नहीं बाँटा जा सकता। इस तरह के जंतुओ को **असममित** (asymmetrical) कहते हैं (चित्र 2)। अधिकतर जंतुओं में जिनमें मानव भी शामिल है, **द्विपार्श्विक सममिति** होती है। द्विपार्श्विक सममिति वाले जतुओं की देह को केवल एक उदग्र तल (vertical plane) से ही ऐसे दाएं और बाएँ अर्धकों में बाँटा जा सकता है जो कि एक दूसरे के समान हों। अधिकतर द्विपार्श्विक जंतुओं में देह की एक दिशा हमेशा ऊपर की ओर रहती है, जब कि दूसरी भूमि की ओर। ऊपरी दिशा को **पृष्ठीय** (dorsal; लैटिन, *डार्सन्*=
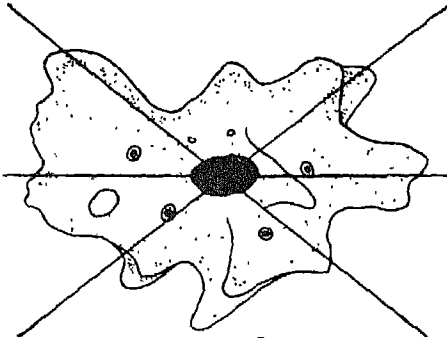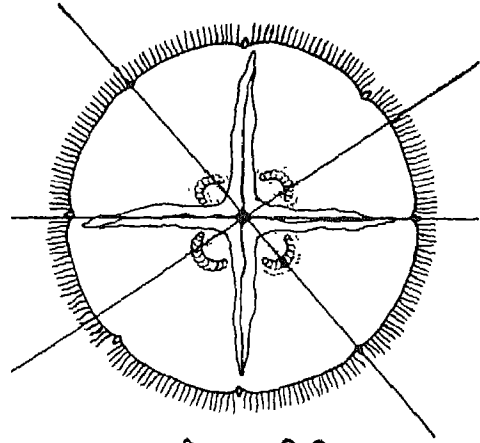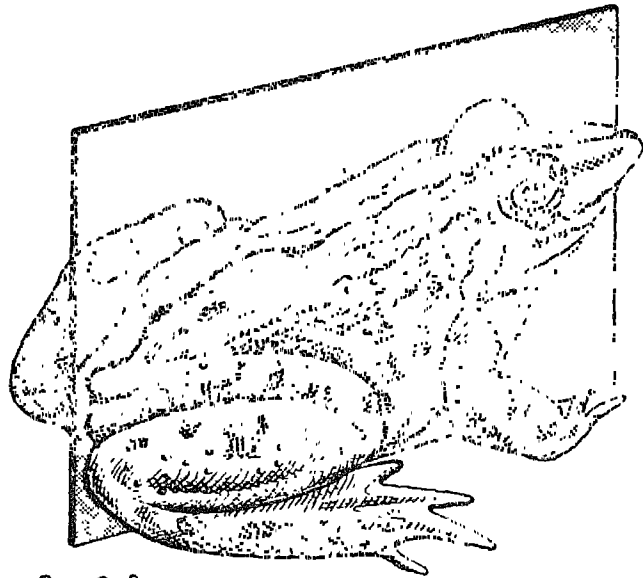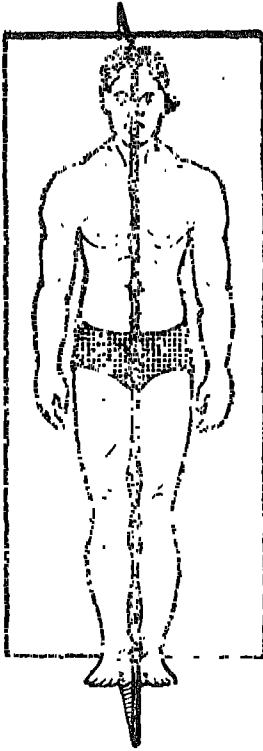
चित्र 2 जंतुओं में सामान्य रूप से मिलने वाली सममिति के प्रकार।

पीठ, पृष्ठ) सतह और नीचे वाली को **अधर** (ventral; लैटिन-*वेन्टर*=उदर) सतह कहते हैं। पृष्ठीय और अधर सतहों के बीच में दोनों पार्श्व पर **पार्श्विक** (lateral; लैटिन-*लैटस*=पार्श्व) सतह होती है। चलन (locomotion) के दौरान देह के जिस सिरे को रखते हैं, उसे अग्र या शीर्ष सिरा (head

कहते हैं और उसके ठीक विपरीत सिरे को पश्च या पुच्छ-सिरा (tail end) कहते हैं।

सिलिंडर के आकार के अथवा गोल जंतु की सममिति को **अरीय** (radial) **सममिति** कहते हैं क्योंकि उसके व्यास से गुजरती हुई लंबी काट उसे समान अंडों में बाँट सकती है। उदाहरण के लिए जेलीफिश में भी अरीय सममिति (चित्र 2) होती है। कुछ अन्य जंतुओं मे सममिति के दो अरीय तल एक दूसरे के समकोण पर होते हैं। प्रत्येक तल से काटने पर दो समान अर्धक बनते हैं; एक ही दिशा में स्थित तलों से काटे गए अर्धक उनसे नहीं मिलते जो कि उनसे समकोण की दिशा में स्थित तलो से काटे गए हों। हाथ-पैर, पंख (wings) और पख (fins) मुख्य देह के **उपांग** (appendage) होते हैं। किसी अंग या उपांग का जो भाग देह के केन्द्रीय अक्ष की ओर होता है जैसे कि बाँह का कोहनी से ऊपर का भाग और जंघा—उसे **निकटस्थ** (proximal) कहा जाता है, जब कि केन्द्रीय अक्ष से दूर स्थित अंग जैसे कि हाथ और पाँव **दूरस्थ** (distal) कहलाते हैं।

कशेरुकी और उनका वर्गीकरण

तुम्हें याद होगा कि संपूर्ण जंतुजगत को प्रायः दो विभागों (डिवीजनों) मे बाँटा जाता है : अकशेरुकी या बिना रीढ़ वाले जंतु और कशेरुकी या रीढ़ वाले जंतु। अकशेरुकी प्राणियों (अमीबा से स्टारफिश तक) में इतनी विविधता मिलती है कि उनको किसी एक समूह मे रख सकना असंभव है, अतः उनको कई फाइलमो में बाँटा गया है जिनका वर्णन हम इस भाग के दूसरे खंड मे करेंगे। कशेरुकी प्राणियों (मछली, मेढ़क, साँप, पक्षी, बंदर इत्यादि) में भी कम विविधता नही है, पर स्वभाव और संरचना में भिन्न होते हुए कुछ मूल लक्षणों में उनमें आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है—मेरु या रीढ़ का होना। देह के मध्य-पृष्ठीय अक्ष मे स्थित शरीर को साधने वाला कंकाल ही रीढ़ या मेरु है। इसमें क्रम से कुछ अस्थियाँ लगी होती हैं जिन्हें कशेरुकाएँ (vertebrae) कहते है। इन्ही के कारण इस जतु समूह का नाम कशेरुकी पड़ा है। भ्रूणावस्था में सभी कशेरुकियों में रीढ़ की जगह एक अन्य अंग होता है, जिसे **नोटोकॉर्ड** (notochord) या **पृष्ठरज्जु** कहते हैं। यह फूली हुई या स्फीत (turgid) कोशिकाओं से बना हुआ अक्षीय दंड (axial rod) होता है। बाद में परिवर्धन होने पर नोटोकॉर्ड के चारों ओर कशेरुकाओं की माला बन जाती है।

चित्र 3 ऐम्फिऑक्सस (amphioxus) एक आदिम समुद्री प्रोटोकॉर्डेट जिसमें नोटोकॉर्ड की जगह रीढ़ नहीं बनती।

कुछ जंतु ऐसे भी है जिनमें असली मेरु (रीढ़) कभी नही बनता और केवल नोटोकॉर्ड ही होता है। उदाहरण के लिए मछली जैसे जंतु **ऐम्फिऑक्सस** (Amphioxus) मे जीवन भर नोटोकॉर्ड बना रहता है (चित्र 3)। कुछ जंतुओं जैसे कि एसीडियनों में नोटोकॉर्ड उनकी अर्भक अवस्थाओं में और केवल पश्च भाग में ही होता है और यह भी वयस्क जीव में बिना रीढ़ में बदले ही खत्म हो जाता है। ये सभी जंतु जिनमें मेरु (रीढ) की जगह केवल नोटोकॉर्ड होता है, प्रोटोकॉर्डेट कहे जाते हैं।

प्रोटोकॉर्डेट और वर्टीब्रेट (कशेरुकी) दोनो मिलकर फाइलम कॉर्डेटा बनाते हैं। निम्नलिखित लक्षण कॉर्डेटों को अ-कॉर्डेटों से अलग करते हे, (1) इनमें एक पृष्ठीय कंकाल-अक्ष या नोटोकॉर्ड होता है, जिसकी जगह कशेरुकियों में कशेरुकाओं से बनी हुई रीढ़ ले लेती है,
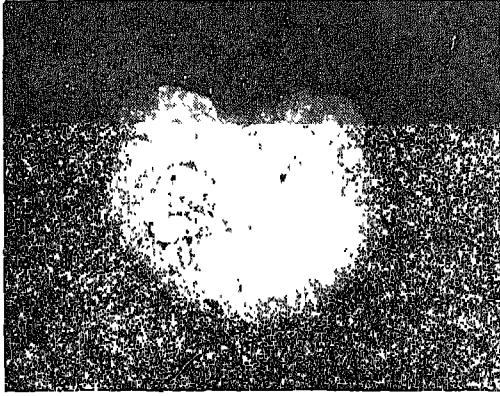
चित्र 4 हर्डमैनिया (Herdmania) एक और प्रोटोकॉर्डेट, जिसके वयस्क रूप में न तो नोटोकॉर्ड होता है, न रीढ़ ही।

(2) नोटोकॉर्ड के ठीक ऊपर मध्य-पृष्ठीय तल में या रीढ़ से घिरी हुई एक खोखली तंत्रिका रज्जु (मेरु रज्जु-spinal cord) होती है, (3) ग्रसनी (pharynx) के पार्श्वों पर गिल छिद्रों के जोड़े होते है। निम्न श्रेणी के कॉर्डेटों और मछलियों में ये गिल छिद्र जीवन भर क्रियाशील होते हैं जब कि उच्चतर जंतुओं में भ्रूणीय परिवर्धन के दौरान ही गायब हो जाते हैं।

कॉर्डेटों के ये लक्षण चित्र 5 में बताए गए हैं। कशेरुकियों मे इन लक्षणो के अतिरिक्त सामान्यत: कोष्ठों में बँटा हुआ एक हृदय होता है जो अधर में स्थित होता है; साथ ही उपांगो के दो जोड़े (पक्ष या पाद—limbs) होते हैं।

कशेरुकी आमतौर पर सात वर्गों में विभाजित किए जाते है—साइक्लोस्टोमेटा (Cyclostomata), कोन्ड्रिक्थीस (Chondrichthys), ओस्टिक्थीस (Osteichthyes), ऐम्फीबिया (Amphibia), रेप्टीलिया (Reptilia), एवीज (Aves), मैमेल्यिा (Mammalia), इनमें से प्रथम तीन वर्गो को एक साथ मछलियो के अंतर्गत वर्गीकृत किया जाता है और शेष चार को टेटापोडा (चतुष्पाद—चार टाँगों वाले जंतु) मे।

वर्ग **साइक्लोस्टोमेटा** (ग्रीक-*क्राइक्लॉस*=वृत्त, *स्टोमा*=मुख). हैगफिश और लैम्प्रे। इनमें से बड़े वृत्ताकार मुख-कीप (mouth-funnel) होते है, जिनमें जबड़े (jaw) नहीं होते, अत: ऐग्नाथा (Agnatha) ग्रीक-*a*=बिना, अ; *ग्नैथॉस*=जबड़ा) कहलाते हैं।

वर्ग **कोन्ड्रीक्थीस** (ग्रीक-*कॉन्ड्रास*=उपास्थि; *इक्थिस*=मछली) : शार्क और रे मछलियाँ। इन मछलियों में उपास्थि का बना कंकाल होता है और ये केवल समुद्र में पाई जाती हैं।
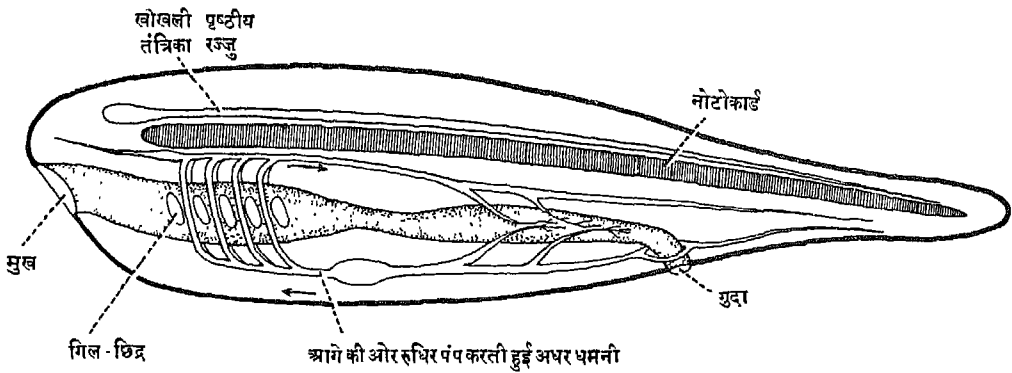
चित्र 5 कॉर्डेटों के प्रमुख अभिलक्षणों का आरेखीय प्रदर्शन जैसे कि वे गिल से साँस लेने वाले जंतुओं में दिखाई देते हैं। आधार: टी० एच० ईटन जूनि०, "कम्पैरेटिव एनाटोमी ऑफ दी वर्टीब्रेट्स," हार्पर एंड ब्रदर्स, पब्लिशर्स, न्यूयार्क 1951।

वर्ग **ओस्टिक्थीस** (ग्रीक-*ऑस्टियॉन*=अस्थि; *इक्थिस*=मछली): रोहू, 'कटला' आदि। इस वर्ग की मछलियों का कंकाल अस्थियों का बना होता है। ये समुद्र में भी होती है और अलवण जल (fresh water) मे भी।

वर्ग **एम्फीबिया** (ग्रीक-*ऐम्फि*=दोनो; *बायॉस*=जीवन): सैलामैन्डर, मेढ़क और भेक (toad)। इस वर्ग के जंतु भूमि और अलवण जल दोनों में रहते हैं। इनकी त्वचा बड़ी चिकनी होती है और उसमें शल्क (scales) नहीं होते।

वर्ग **रेप्टीलिया** (लैटिन-*रेप्टेरे*=रेंगना): छिपकली, साँप, कछुए और घड़ियाल। इन जंतुओं की त्वचा सूखी और शल्की होती है।

वर्ग **एवीज़** (लैटिन-*एविस*=पक्षी): कबूतर, चील, कौवे इत्यादि। इनमें उड़ने के लिए एक जोड़ी पंख होते हैं और इनकी देह पिच्छों (feathers) से ढँकी होती है।

वर्ग **मैमेलिया** (लैटिन-*मैमा*=स्तन): घोड़ा, गाय, ऊँट, बंदर, मानव, इत्यादि। ये रोंएदार जंतु होते हैं जो कि अपने बच्चों को स्तनों से दूध पिलाते हैं।

24

मछलियाँ

इन जलचरों को कौन नही जानता ! लेकिन अंग्रेजी में कई जंतुओ के नाम बहुत गलत रख दिए गए है, जिनसे मछलियों का भ्रम होता है, जैसे कि जेलीफिश, क्रेफिश, और स्टारफिश। ये जंतु तो खैर जल में ही रहते है, पर सिल्वरफिश एक कीट का नाम है। कई मछलियाँ बड़े चाव से खाई जाती हैं। इसलिए मछलियों की पैदावार बढ़ाने की ओर अब पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है।

सामान्य लक्षण

अधिकतर मछलियों की देह तकुआनुमा या तर्कुरूप होती है। उनके सिर होता है, धड़ होता है, पूँछ होती है पर गर्दन नही होती। उनकी खाल शल्कों (scales) से ढँकी रहती है। ये शल्क बड़े और कोरद्वारी (दूसरे के किनारो को ढकते हुए) हो सकते है जैसे कि रोहू में या बहुत छोटे और त्वचा में धँसे हुए हो सकते हैं, जैसे कि शार्क में। यह भी हो सकता है कि शल्क बिल्कुल न हो, जैसे कि सिंघाड़ा मछली में। मछलियों में पखों के दो जोड़े होते हैं, जिन्हें अंस-पख (pectoral fin) और श्रोणि-पख (pelvic fin) कहते हैं। ये क्रमश: उच्चतर कशेरुकियों के अग्रपाद (fore-limbs) और पश्चपाद (hind-limbs) का प्रतिनिधित्व करते हैं। पीठ, पेट और पूँछ पर एक-एक मध्य-पख (median fin) भी होता है (चित्र 24.1)।

मुख बड़ा होता है और सिर के अगले सिरे पर या उसके बहुत निकट स्थित होता है। जबड़ों में नुकीले और शंकुरूप (conical) दाँत होते है। आँखों की पलकें और बाह्य कर्ण (external ears) नहीं
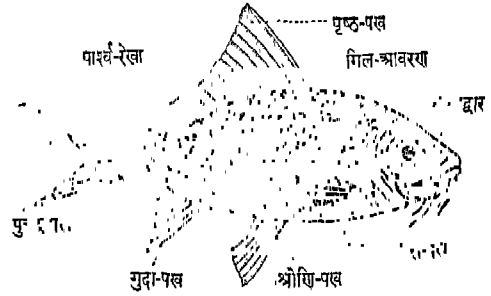
चित्र 24.1 सामान्य कार्प मछली (लेबियो कल्बासु (Labeo Calbasu) के सामान्य बाह्य लक्षण। आधार: टी० जे० पार्कर, डब्ल्यू० एन० पार्कर, बी०एल० भाटिया और एम० ए० मोघे, "ऐन एलीमेन्ट्री टेक्स्ट बुक ऑफ जूलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्टस," मैक्मिलन एंड कंपनी, लिमिटेड लंदन, 1957।

होते। सिर से पूँछ तक देह के दोनों ओर एक खात (groove) होता है, जिसे पार्श्व-रेखा (lateral line) कहते हैं। जल की धाराओं (currents) या दाब का पता लगाने के लिए यह रेखा एक संवेदी-अंग (sense-organ) का काम करती है। दो नासाद्वार (nostrils) होते है जो सिर्फ सूँघने के काम आते हैं। मछलियों मे सूँघने की ज्ञानेन्द्रिय बड़ी तेज होती है।

मछलियाँ गलफड़ो या गिल (gills) की सहायता से साँस लेती है, जो कि सिर के ठीक पीछे दोनों ओर स्थित होते है। अधिकतर मछलियों में गिलों के ऊपर एक अस्थि-पट्टिका होती है, जो उन्हें ढके रहती है। इसे

गिल-आवरण या छद (operculum) कहते हैं। कुछ में गिल-आवरण नहीं होता और कतार में लगी खुली हुई थैलियों के भीतर गिल स्थित होते हैं। इन थैलियों के बाह्य द्वार को गिल-छिद्र (gill slits) कहा जाता है। प्रत्येक गिल में असंख्य पतले और धागे-नुमा गिल-तंतु होते है, जिनमें रुधिर-केशिकाएँ (blood-capillaries) प्रचुरता से होती है (चित्र 24 2)। यह जंतु मुँह से पानी पीता है, गिल-छिद्रों से बाहर निकालता है। इस प्रकार पानी गिलों की सतह पर से बहता है और उसमें घुली हुई आक्सीजन गिल-तंतुओं में विसरित हो जाती है। उसी समय कार्बन डाइआक्साइड बाहर निकलकर पानी मे मिल जाती है। जब मछली को पानी से बाहर निकाल लिया जाता है तो हम देखते हैं कि उसके गिल-तंतु आपस में चिपक जाते हैं। उनके बीच पानी का बहाव नहीं रहता और आक्सीजन की भूख से मछली मर जाती है। बहुत थोड़ी मछलियाँ हैं, जिनमें फेफड़े
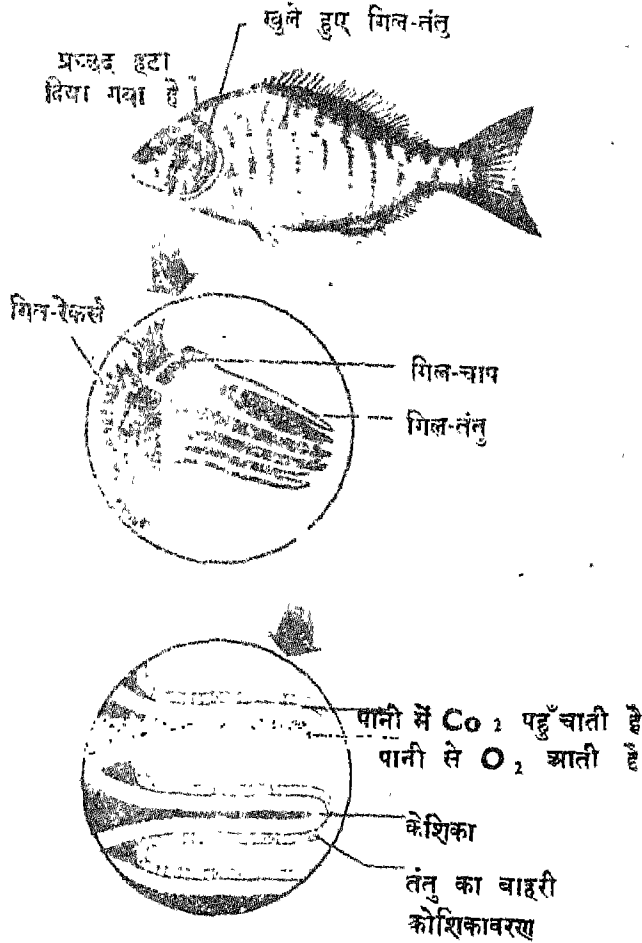
चित्र 24.2 मछलियों के गिल और श्वसन में उनका योगदान। आधार: बी० एस० सी० एस०, "मोलीक्यूल्स टू मैन," हाफ्टन मिफ्लिन कंपनी, बोस्टन, 1963।

होते हैं और जो पानी से बाहर आकर हवा में साँस ले सकती हैं।

उच्च श्रेणी के कशेरुकियों की तुलना में मछलियों के आतरिक अंग बहुत साधारण होते है। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि मछलियो के हृदय मे कभी आक्सीजनीकृत रुधिर नहीं पहुँचता और न यहाँ से पंप किया जाता है। केवल एक अलिंद (auricle) और एक निलय (ventricle) होता है। अलिंद शरीर के समस्त भागो से आक्सीजनहीन रुधिर ग्रहण करता है और फिर उसको निलय में पहुँचा देता है। निलय से यह सारा रुधिर आक्सीजनीकरण के लिए गिलो में भेज दिया जाता है। गिलों से आक्सीजनीकृत रुधिर देह में वितरित किया जाता है।

अधिकतर मछलियाँ अंडे देती हैं (**अंडप्रजक**-oviparous), पर शार्क जैसी अन्य मछलियाँ सीधे बच्चे को जन्म देती ह (**जरायुज**-viviparous)।

सामान्य मछलियों के उदाहरण

लैम्प्रे (चित्र 24.3) की देह लंबी और साँप-जैसी होती है। इसमें न तो जबड़े होते है, न शल्क और न जोड़ेदार पख। जबड़ों की जगह एक बड़ा गोल, कीपाकार मुख होता है, जिसमे सीगनुमा दाँत होते हैं। यह मछली दूसरी मछलियों की बड़ी खतरनाक दुश्मन है। यह अपने कीपाकार मुख को किसी मछली की देह के एक किनारे से चिपकाकर जीभ से छेद बना लेती है और रुधिर चूसने लगती है, बल्कि कभी-कभी तो शिकार के आंतरिक अंग ही हड़प जाती है। यह मछली उत्तरी गोलार्द्ध के ठंडे भागों के समुद्र में पाई जाती है।

चित्र 24.3 लैम्प्रे, एक जबड़ा-विहीन मछली-सम कशेरुकी। अपने कीपाकार मुख से यह दूसरी मछलियों का खून चूसता है। चूषक पर स्थित हुक-जैसे दाँतों पर गौर कीजिए।

शार्क और रे समुद्री उपास्थिमीन (cartilaginous fish) हैं (चित्र 24.4)। इनका कंकाल उपास्थि का बना होता है, और उसमें अस्थियाँ बिल्कुल नहीं होतीं। गिल-छिद्र तो होते हैं पर उनके ऊपर कोई आवरण नहीं होता। छोटे-छोटे नुकीले सिरों वाले शल्क हमेशा त्वचा में धँसे हुए रहते है। इनमे से अधिकतर मछलियाँ अंडे नहीं, बच्चे देती हैं। भारत के तटीय समुद्र में पाई जाने वाली स्वान मीन या उड़ंबन सूरा (डॉगफिश) एक तरह की छोटी शार्क है। कुछ शार्क इतनी बड़ी होती हैं कि उनकी देह 10 मीटर तक लंबी होती है और वजन 2000 किलोग्राम। लंबे, बाहर की ओर निकले हुए आरे से दाँतों वाले तुंड (rostrum) वाली आरामीन (सॉफिश) भी भारतीय समुद्रो में पाई जाने वाली एक शार्क है। सभी शार्क बड़ी कुशल तैराक होती हैं।

रे मछली की देह पृष्ठाधरतल पर चपटी होती है। उनकी पूँछ आमतौर पर लंबी और चाबुक-जैसी होती है। दंशमीन (स्टिंग रे) की पूँछ में एक जहरीला डंक होता है। इलैक्ट्रिक रे में एक अंग होता है जिससे यह बिजली का काफी तेज झटका मार सकती है। रे मछलियाँ मुख्यत: समुद्रतल पर रहती हैं।

हमारे भोजन के काम आने वाली अधिकतर मछलियाँ हड्डीवाली होती हैं। रोहू, मृगाल, कटला, कल्वसु, मल्ली, गूँच और सिगी सबसे आम मछलियाँ हैं जो अलवण जल यानी नदी, तालाब और झील वगैरह के मीठे पानी से पकड़ी जाती हैं। खाई जाने वाली समुद्री मछलियों में पोम्फ्रेट, मैकेरेल, इंडियन सामन और बॉम्बे डक सबसे मुख्य हैं। इनकी खाल या तो नंगी

होती है या कोरदारी शल्कों से ढकी रहती है। इनमें एक गिल-आवरण सदैव पाया जाता है। आमतौर पर इनकी देह में एक गैसभरी थैली होती है जो तैरने के काम आती है। उस थैली में गैस की मात्रा बढ़ाकर या घटाकर ये अपनी देह को समुद्र की किसी भी गहराई में संतुलित कर लेती है।

हड्डीदार मछलियो मे से कुछ तो बड़ी विचित्र हैं (चित्र 24.5)। समुद्री घोड़े (सी हॉर्स) की शक्ल बड़ी
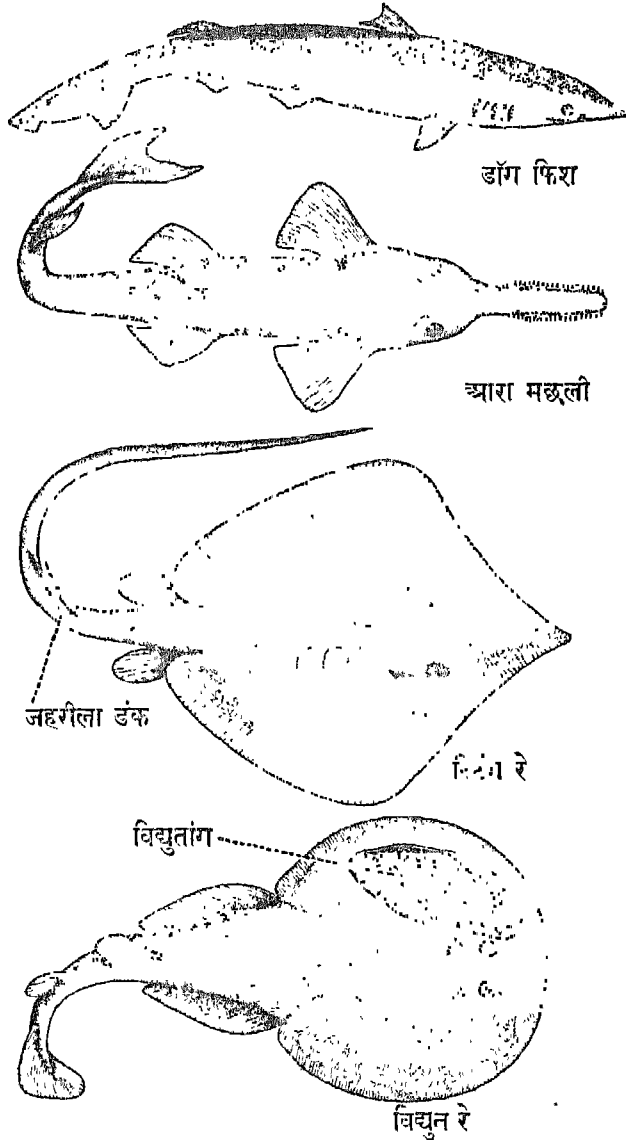
चित्र 24.4 उपास्थिल मछलियाँ (Cartilaginous fishes) शार्क (पहले दो), और रे (आखिरी दो)। विद्युत रे का एक विद्युतांग (electric organ) खोलकर दिखाया गया है।
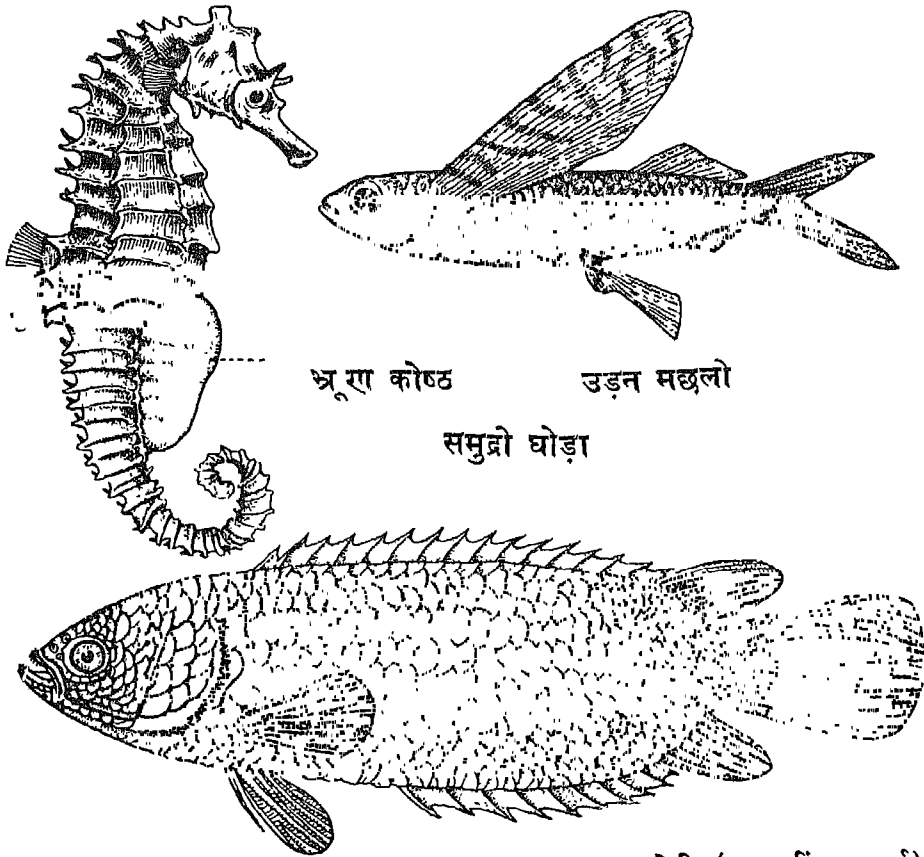
चित्र 24.5 कुछ विचित्र अस्थिल मछलियाँ। नर 'समुद्री घोड़ा' हिप्पोकैम्पस (Hippocampus) अपने भ्रूण-कोष्ठ में निषेचित अंडे तब तक रखे रहता है, जब तक कि वे पूर्ण बन कर बाहर नहीं आ जाते। उड़न मछली (एक्सोसीटस) कुछ दूरी तक हवा में तैर सकती है। क्लाइम्बिग पर्च अथवा 'कोई' नामक मछली (एनाबास) पेड पर तो नहीं चढ़ सकती पर गिल आवरण और अधर पंखों के काँटों से जमीन पर घूम-फिर सकती है। विभिन्न स्रोतों से।

अजीब होती है और उसका सिर घोड़े जैसा लगता है। यही खड़ी स्थित में तैरता है। इसकी पूँछ समुद्री-पौधों के इर्द-गिर्द लिपट कर इसको सहारा दे सकती है। मैथुन के समय मादा 'सी हॉर्स' अपने अंडे नर के पेट पर लगी एक विशेष थैली में डाल देती है। उड़न मछली (फ्लाइंग फिश) में अंस-पख (pectoral fin) के लंबे, चिपटे और पंख जैसे जोड़े होते है, जिनकी सहायता से यह पानी की सतह से थोड़ा ऊपर उठकर सैकड़ों मीटर तक हवा में उड़ती रहती है। 'सी हॉर्स' और उड़न मछली, दोनों ही भारतीय समुद्रों में मिलते है। क्लाइम्बिंग पर्च या 'कोई' अक्सर पानी से बाहर आकर काँटेदार गिल-आवरण और अधरतल पर शूलमय पख (spiny fin) की सहायता से जमीन पर घूमती-फिरती है। इसके गिल-कोष्ठ (gill chamber) में गिलों के अलावा एक विशेष अंग होता है, जो कि खुली हवा में साँस लेने के लिए ही बना होता है। एशिया भर के सरोवरों में यह मछली पाई जाती है।

मछलियों के प्रवास

कुछ मछलियाँ सामान्यतः समुद्र में रहती हैं, लेकिन प्रजनन के लिए सैकड़ों किलोमीटर तक तैरकर ऊपर नदियों में आ जाती हैं। उदाहरण के लिए 'हिल्सा' नामक एक ज्वारनदमुखी (estuarine) मछली बाढ़ के समय अंडजनन (spawning) के लिए तैरकर गंगा में आ जाती है। दूसरी ओर प्रवास के लिए प्रसिद्ध यूरोपी ईल (चित्र 24.6) तथा कुछ अन्य

चित्र 24.6 प्रवासी ईल रहती तो हैं नदियों में, पर प्रजनन के लिए महासागर में जाती हैं। उनकी सिलिंडराकार देह मछली की अपेक्षा साँप से अधिक मिलती है।

मछलियाँ इसके उल्टा व्यवहार करती हैं। ये बड़े-बड़े झुंड बाँधकर सामूहिक प्रजनन के लिए यूरोपी नदियों से हजारों किलोमीटर दूरी तय करके उत्तरी अतलांटिक महासागर में आ जाती हैं। अंडे देने के बाद नर और मादा दोनों मर जाते हैं और बच्चों में ऐसा जन्मजात गुण होता है कि वापस अपने माता-पिता के घर लौट आते हैं। जीव-विज्ञानी मछलियों के प्रवास का अध्ययन करने के लिए उनमें धातु या प्लास्टिक के डोरे बाँधकर निशान लगा देते हैं।

आर्थिक महत्त्व

भोजन और व्यापारिक वस्तुओं के लिए संसार भर में मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। शार्क, कॉड, हैलीबट और अन्य मछलियों से तेल निकाला जाता है। इस तेल में विटामिन ए और डी खूब होता है जो औषधिरूप से प्रयोग किया जाता है। भारत के तटीय समुद्रों में शार्क मछली पकड़ने का व्यवसाय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। शार्क का मांस घटिया किस्म का होता है और उसे गरीब लोग खाते हैं। शार्क के पखों से सरेस (ग्लू) और जिलेटिन बनाए जाते हैं। इनकी सूखी हुई खुरदरी त्वचा शैग्रीन कहलाती है और चमकाने के काम में इस्तेमाल होती है।

कुछ मछलियाँ हानिकर जलकीटों, जैसे कि मच्छर के डिम्भकों (larvae) को मार देती हैं। शौकिया मछली मारना या एंगलिंग भी बड़ा सुखकारी मनोरंजन है। बहुत-से लोग सुंदर और रंगीन मछलियों को जलघरों में पालने का शौक पाल लेते हैं।

सारांश

शल्क, पख और गिलों के कारण मछलियों को आसानी से पहचाना जा सकता है। उनमें पलकें और बाह्य कर्ण नहीं होते। जल में रहने और गिलों से साँस लेने के लिए वे पूरी तरह अनुकूलित होती हैं। कुछ मछलियों में वायु-श्वसन के लिए फेफड़े होते हैं। रूप और रंग की दृष्टि से मछलियों में बड़ी विविधता मिलती है।

लैम्प्रे मछलियों में जबड़े, शल्क और जोड़ेदार पख नहीं होते। उपास्थिमय मछलियों में उपास्थि का बना कंकाल होता है और उनके गिल-छिद्र ढँके हुए नहीं होते। वे केवल समुद्र में पाई जाती हैं। संसार की भोज्य मछलियों में अस्थिल (bony) मछलियाँ प्रमुख हैं।

प्रश्न

1. किसी अन्य जलीय कशेरुकी से किसी मछली को तुम कैसे अलग पहचानोगे ?
2. पानी से बाहर निकालने पर मछली मर क्यों जाती है ?
3. क्या ऐसी भी मछलियाँ हैं जो खुली हवा में साँस ले सकती है ? इस तरह की एक भारतीय मछली का नाम बताओ ?
4. क्या तुम किन्हीं ऐसी मछलियों को जानते हो जो बच्चे जनती है ?
5. भारत की सामान्य भोज्य मछलियों के नाम बताओ ?
6. भोजन के अतिरिक्त मछलियों के अन्य क्या उपयोग हैं ?
7. मछली अपना मुँह खोलती-मूँदती रहती है । क्यो ?
8. कुछ मछलियाँ प्रजनन-काल में हर बार लाखों अंडे देती हैं । फिर समुद्र इन मछलियों से ठसाठस भर क्यों नहीं जाता ?

अन्य पठनीय सामग्री

अनाम 1963, फिशेज़, प्रोलीफिक ऐग प्रोड्यूसर्स । *अंडरस्टैंडिंग साइंस*, भाग 6 अंक 68, पृष्ठ 1076-1077 ।
कर्टिस, बी० 1951, *दॉ लाइफ स्टोरी ऑफ फिशेज़* । जोनाथन केप, लंदन ।
कीनेस, आर० डी० 1956, दॉ जेनरेशन ऑफ इलैक्ट्रिसिटी बाई फिशेज़ । *एन्डेवर*, भाग 15, पृ० 215-221 ।
रंधावा, एम० एस० 1958, *फिशेज़-एग्रीकल्चर एंड एनीमल हसबैन्ड्री इन इंडिया* । इंडियन काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली ।
शा, ई० 1962, दॉ स्कूलिंग ऑफ फिशेज । *साइंटीफिक अमेरिकन*, भाग 206 अंक 6, पृ० 128-138 ।
सिलास, ई० जी० 1960, फिशज फ्रॉम दी कश्मीर वैली । *जर्नल ऑफ दॉ बाम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी*, भाग 57, अंक 1, पृ० 66-67 ।

25

ऐम्फिबिया प्राणी—मेंढक और उसके संबंधी

जैसा कि नाम से पता चलता है जलस्थलचर या एम्फिबियनों (ग्रीक-ऐम्फि=दोनों या दुहरा: बॉयॉस= जीवन) के जीवन में दो प्रावस्थाएँ होती हैं। पहली बैंगची या टैडपोल अवस्था में उनका रूप जल में तैरने-वाले मछली-जैसे प्राणी का होता है। दूसरी या वयस्क प्रावस्था (adult phase) में वे स्थल पर भी विचरन करने लगते हैं। प्रेस्टन की अंग्रेजी कविता का निम्नलिखित रूपांतर इनके दुहरे जीवन पर ठीक ही प्रकाश डालता है :

धरे वेष चंचल मछली का
मस्त बैंगची तैरा करते,
पूँछ त्याग लट्ठों पर चढ़कर
समय हुआ तो मेंढक बनते।

सामान्य लक्षण

जलस्थलचर अनियततापी (cold-blooded) कशेरुकी होते हैं और उनमें से अधिकांश में पादों के दो जोड़े होते हैं—अग्रपाद (fore-limb) में चार पादांगुलियाँ (toes) और पश्चपाद (hind-limb) में पाँच पादांगुलियाँ होती हैं। भेकों (toads) के अलावा सब में गीली-लिसलिसी त्वचा होती है जिसमें ग्रंथियों (glands) की भरमार होती है पर रक्षा के लिए रोम, पंख या शल्क (scales) नहीं होते जो कि अन्य कशेरुकियों में पाए जाते हैं। कुछ टाँग-विहीन जलस्थल-चरों में त्वचा की परतों (सिकुड़नों) के बीच सूक्ष्म शल्क होते हैं, पर बाहर से ये शायद ही कभी दिखाई देते हों। भेक तथा कुछ अन्य जलस्थलचरों में खुरदरी त्वचा होती है।

वितरण

ऐम्फिबिया प्राणी सामान्यतया नम शीतोष्ण या उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में पाए जाते हैं और ज्यों-ज्यों हम ठंडे भागों की ओर बढ़ते हैं, ये प्राणी कम होते जाते हैं। फिर भी मेंढक की दो और सैलामैंडर की एक स्पीशीज (जाति) नार्वे और रूस के ध्रुवीय प्रदेश में पाई जाती हैं। समुद्र में कोई जलस्थलचर नहीं पाया गया। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जलस्थलचरों की त्वचा जल के लिए अत्यंत पारगम्य (permeable) होती है। जलस्थलचर प्राय: त्वचा द्वारा ही जल प्राप्त करते हैं, अत: उन्हें बार-बार पानी में लौटना पड़ता है। परंतु समुद्र के खारे जल में लवणों की सांद्रता जलस्थलचरों की देह की तुलना में अधिक होती है। इसका परिणाम यह होगा कि अगर कोई जलस्थलचर समुद्र में चला जाए तो बजाय इसके कि उसकी त्वचा में होकर पानी भीतर देह में प्रवेश करे, उल्टे देह का पानी बाहर निचुड़ने लगेगा।

आर्थिक महत्त्व

मेंढक और भेक कीट-पतिंगे खाते हैं और इस प्रकार हमारी फसलों को नुकसान पहुँचाने वाले अनेक कीड़ों की संख्या में कमी करते रहते हैं। मेंढक की टाँग दुनिया के कई भागों में उदर-पूर्ति का प्रमुख साधन है। चीन में मेंढक और भेक की सुखाई हुई टाँग दवाई के काम आती है। जापान तथा कुछ अन्य देशों में भेक की त्वचा से बढ़िया चमड़ा तैयार किया जाता है। सुखाए हुए सैलामैंडरों को जापान में कृमिहारी (आँतों में से कीड़े निकालने वाली दवा) के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

मेंढकों और सैलामैंडरों का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग है विज्ञान के लिए उनका बलिदान। प्राणियों की देह की बनावट और उसकी कार्य-विधि की जानकारी के लिए मेंढक बहुत पहले से अध्ययन-सामग्री के रूप में प्रयुक्त होता आ रहा है। शायद इतनी जाँच-पडताल मनुष्य के अलावा और किसी प्राणी की नही की गई। इसके अतिरिक्त मेंढक आसानी से मिल भी जाता है। इसका साफ-सुथरा डिसेक्शन करने में भी सुविधा होती है क्योंकि यह काफी बड़ा होता है। मेंढक के जीवन की सभी अवस्थाओं का बिना किसी कठिनाई के भलीभाँति वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है।

ऐम्फिबिया के सामान्य उदाहरण

वर्तमान जलस्थलचरों को तीन समूहो में बाँटा जा सकता है: (क) दुमदार जलस्थलचर; (ख) पादहीन जलस्थलचर; और (ग) दुमहीन जलस्थलचर।

दुमदार जलस्थलचर, जैसे कि सैलामैंडर और न्यूट (चित्र 25.1), आमतौर पर नम शीतोष्ण भू-भागो में पाए जाते है। इनमे से ज्यादातर जलीय होते हैं और जीवन भर गिलों द्वारा साँस लेते है। मेढको के विपरीत उनकी देह पतली और लंबी होती है और उनके पादो के दो जोड़े आकार में लगभग बराबर होते हैं। कुछ सैलामैंडर चमकीले रंग के होते है और उनका ऊपरी हिस्सा जैतूनी हरे से लेकर बादामी तक किसी रग का और निचला हिस्सा पीले रग का होता है। सबसे बड़ा सैलामैंडर एक मीटर से भी अधिक लंबा होता है और चीन तथा जापान में पाया जाता है।
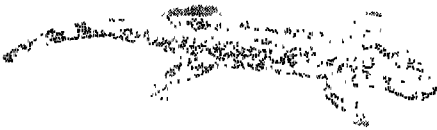
चित्र 25.1 दुमदार ऐम्फिबिया प्राणी-सामान्य सैलामैंडर (ऊपर) और न्यूट (नीचे) न्यूट में पंखनुमा गिल जीवनभर लगे रहते हैं।

पादहीन जलस्थलचर पूरे ऊष्ण कटिबंध में हर जगह मिलते है, पर बिल बनाकर रहने की आदत के कारण कभी-कभी ही नजर आते है। ये एक बडे केंचुए से मिलते-जुलते हैं। उनकी सारी देह पर सिकुडनें पड़ी रहती हैं जिनके बीच में छोटे-छोटे शल्क होते हैं। उनकी आँखें त्वचा के अदर छिपी रहती हैं। इक्थायोफिस (*Ichthyophis*) एक सामान्य भारतीय उदाहरण है, जिसकी मादा अपने अंडों की रक्षा के लिए उनके चारों ओर कुंडली मार कर बैठ जाती है (चित्र 25.2)।
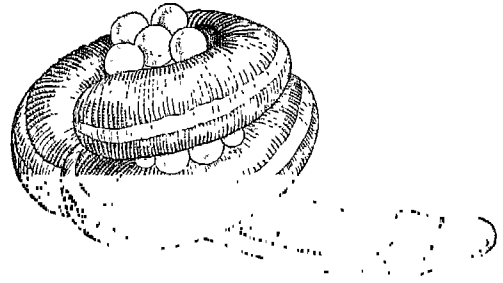
चित्र 25.2 "इक्थायोफिस ग्लुटिनोसा" (Ichthyophis glutinosa) एक पाद विहीन ऐम्फिबियाई प्राणी।

दुमहीन जलस्थलचरों में मेंढक और भेक आते हैं। ये ऊष्ण कटिबंध में बहुतायत से मिलते है। वयस्कों में छोटी, बिना दुम की देह होती है; पिछली टाँगे लंबी होती है और लंबी कूद मारने में शक्तिशाली लीवरो का काम करती हैं।

सामान्य मेंढक और भेक एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते होते हैं, पर जिसे हम आमतौर पर बाग-बगीचों में घास पर उछलते-कूदते देखते हैं, वह भेक है (चित्र 25.3)। दोनों के बीच भेद करना कोई कठिन बात नहीं है। मेढक की देह बड़ी कटावदार होती है, जबकि भेक की देह भद्दी और फूली-फूली लगती है। मेंढक की खाल चिकनी और चमकदार होती है जबकि भेक की त्वचा सूखी, खुरदरी होती है और छोटी-छोटी उभरनों से ढंकी रहती है। ये उभरनें वास्तव में त्वचा की विषैली ग्रंथियाँ है। आँखो के ठीक पीछे ये विषैली-ग्रंथियाँ एक झुंड में इकट्ठी होकर लबूतरी *पैरोटॉइड ग्रंथियाँ* (parotid glands) बनाती हैं, जिनसे एक गाढ़ा दूधिया स्राव निकलता है। यह जहरीला स्राव खुजली पैदा कर देता है।
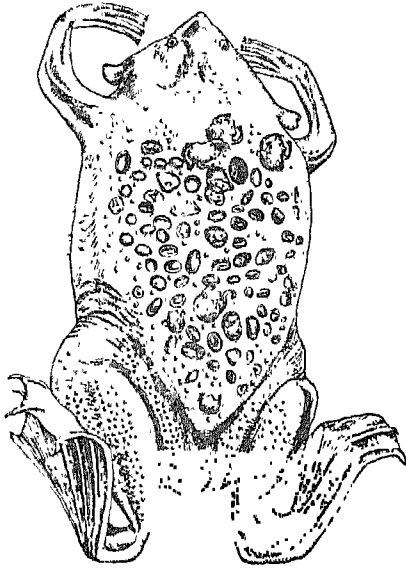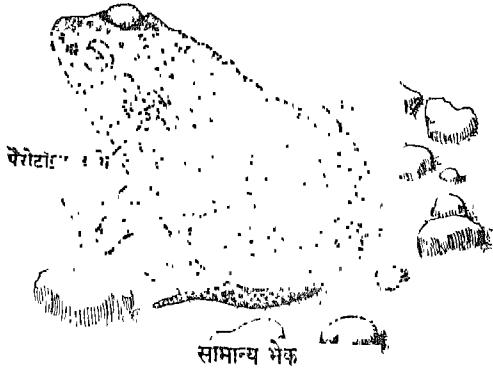
चित्र 25.3 सामान्य भेक में बनी पैरोटॉइड ग्रंथि पर, और सुरीनाम भेक की पीठ पर बने गर्तों पर नन्हीं भेकों पर ध्यान दीजिए।

इसको कोई दूसरा जानवर खा ले तो उसे मतली आ सकती है, साँस लेने में कठिनाई हो सकती है और पेशियों का पक्षाघात हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। मेंढकों और भेकों की जीभ, थूथड़ या प्रोथ (snout), दाँत, पादांगुलि और टाँगों में भी बहुत अंतर होता है। इन भेदों की जानकारी वास्तविक नमूनों से कीजिए।

भारत में कोई एक दर्जन किस्म के मेंढक मिलते हैं। इंडियन बुल फ्रॉग या *राना टिग्रीना* (*Rana tigrina*) हमारे यहाँ सबसे आम स्पीशीज है। दूसरे भारतीय मेंढक हैं: उड़न मेंढक या *रैकोफोरस मैक्सिमस* (*Rhacophorus maximus*) और पेड़ का मेंढक या *हाइला आर्बोरिआ* (Hyla arborea)।

यहाँ सबसे आम भेक *बूफो मेलानोस्टिक्टस* (*Bufo melanostictus*) है। यूरोप का दाई भेक या *ऐलाइटिस ऑब्स्टेट्रिकन्स* (*Alytes obstetricans*) और मध्य अमेरिका का सुरीनाम भेक *पाईपा अमेरिकाना* (*Pip americana*) अपनी प्रजनन-संबंधी आदतों के लिहाज से बड़े दिलचस्प होते हैं। सुरीनाम भेक की मादा की पीठ पर बहुत-से छोटे-छोटे ढक्कनदार गर्त होते हैं (चित्र 25.3)। मैथुन के समय नर भेक मादा की बाहर निकली हुई अंडवाहिनियों (oviducts) में से अंडे इन गर्तों में धकेल देता है। प्रत्येक गर्त बढ़ते हुए अंडों के लिए एक छोटे-से सरोवर का काम करता है। दाई भेकों में, नर प्राणी अंडों को अपनी पिछली टाँगों से लिपटाकर उस समय तक रखता है, जब तक कि उनमें से बैंगची न बन जाएँ (चित्र 25.4)। ये जनककृत हिफाजत के कुछ अनोखे उदाहरण हैं।
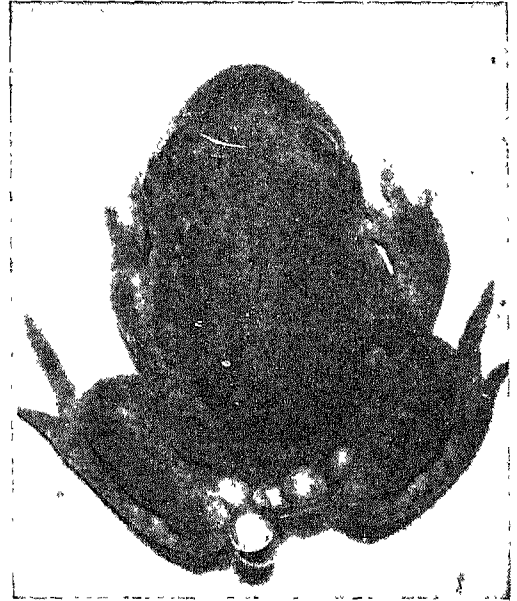
चित्र 25.4 दाई भेक। नर की पिछली टाँगों पर अंडों की माला तब तक लिपटी रहती है, जब तक उनमें से बच्चे नहीं निकल आते।

मेंढक

कशेरुकी-देह का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम सामान्य भारतीय मेंढक—*राना टिग्रीना* (*Rana tigrina*) का कुछ विस्तार से अध्ययन करेंगे।

स्वभाव और बाह्य लक्षण

मेंढक ताल-तलैया, पोखर, झील, नहर या नदियों में या इनके बहुत निकट रहते हैं। पानी के साथ इस लगाव के उन्हें बहुत फायदे हैं। ज़मीन पर जब कोई दुश्मन पीछा करने लगे तो वे जल्दी से पानी में कूदकर जान बचा सकते हैं। मेंढक अपनी त्वचा से श्वसन कर सकता है, पर इसके लिए उसका गीला रहना जरूरी है। साथ ही मेंढक की उदरपूर्ति के साधन कीट-पतंगे, घोंघे और केंचुओं की भी बहुत-सी किस्में पानी के पास बहुतायत मे मिलती हैं। इसके अलावा मेंढकी के अंडों के निषेचन और अभेकों (larvae) के परिवर्धन के लिए तो पानी के बिना काम ही नहीं चलेगा।

जाड़े के मौसम में या बहुत शुष्क मौसम में मेंढक नम स्थानों में गढ़े खोदकर भूमिगत हो जाते हैं। निष्क्रियता की इन अवधियों को क्रमशः 'शीतकालीन निद्रा' (winter sleep) और 'ग्रीष्मकालीन निद्रा' (summer sleep) कहा जाता है। इन दिनों वे कुछ भी नहीं खाते और अपनी देह में संचित चिकनाई या वसा (fat) पर निर्भर रहते हैं। देह में **उपापचय** (metabolism) की क्रिया मंद होकर न्यूनतम हो जाती है और अब केवल त्वचा द्वारा श्वसन पर्याप्त होता है। सभी अनियत-तापी कशेरुकी (cold blooded vertebrates) निष्क्रियता की इस अवस्था में से अवश्य गुजरते है, जिसे **शीतनिष्क्रियता** (hibernation) और **ग्रीष्म-निष्क्रियता** (aestivation) कहते हैं।

एक मेंढक को बेलजार में रखकर उसके निम्न-लिखित लक्षणों पर ध्यान दो और चित्र 25.5 से तुलना करो :

1. देह को सिर, धड़ और पादों में बाँटा जा सकता है, गर्दन और दुम नहीं होती।
2. देह में दो मुख्य सतहें होती हैं—पृष्ठीय (पीठवाली—dorsal) और अधर (पेटवाली—ventral)।
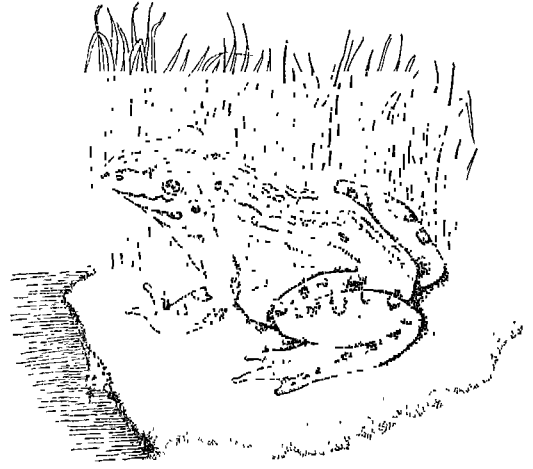
चित्र 25.5 सामान्य भारतीय मेंढक। "राना टिग्रीना" (*Rana tigrina*)

3. सिर चपटा और तिकोना होता है, पर उसका आगे की ओर निकला भाग नुकीला नहीं होता। आँखें बडी और उभरी हुई होती हैं। दो पलक होते हैं, जिनमें से ऊपरी मोटा, रंगीन (वर्णकयुक्त) और लगभग निश्चल होता है, जबकि निचला पलक अर्ध-पारदर्शी (semi-transparent) होता है और उसे आसानी से घुमाया-फिराया जा सकता है। किसी जीवित मेढक की आँख की सतह को हल्के-से छूकर देखो तो उसकी निचली पलक उठ जाती है, और पूरी आँख अंदर की ओर धँसने लगती है। तीसरा पलक **निमेषक पटल** (nictitating membrane) है जो पारदर्शी होता है। यह आँख को ढँके रहता है और तैरते समय उसकी रक्षा करता है। दोनों ओर की आँखों के नीचे एक काले रंग का गोल भाग तिरछी स्थिति में उपस्थित होता है—यह है **कर्ण पटह** (car drum or tympanic membrane)।
4. पादो के दो जोड़े होते हैं। अग्रपाद में प्रगंड (upper arm), प्रकोष्ठ (fore arm) और चार अंगुलियों वाला हाथ होता है। अँगूठा बहुत छोटा और अस्पष्ट होता है। पश्चपाद अग्रपाद से कहीं अधिक लंबा होता है और उसमे जंघा या उरु (thigh), टाँग (shank), एड़ी और झिल्ली से

परस्पर जुड़ी हुई पाँच पादांगुलियों वाला पैर होता है ।

5. शरीर पर चार ऊपरी द्वार होते हैं । देह के अगले सिरे पर चौड़ा मुखद्वार और पिछले सिरे पर टाँगों के बीच स्थित छोटा गोल अवस्कर-द्वार ध्यान देने योग्य है । सिर की पृष्ठीय सतह पर दो नासाद्वार होते हैं ।

नर मेंढक के हाथों की पहली अंगुली के अंदरूनी किनारे पर एक फूला हुआ रंगीन भाग होता है, जिसे **मैथुन-पीठिका** (copulation-pad) कहते हैं (चित्र 25.6 B) । प्रजनन-काल में यह भलीभाँति परिवर्धित होता है । नर मेंढक में ही सिर के अधर-तल (ventral surface) पर त्वचा में एक जोड़ी

चित्र 25.6 (A) मादा मेंढक के हाथ और (B) नर मेंढक के हाथ । मैथुन-पीठिका (*Copulation pad*) केवल नर में होती है ।

ढीली तहें होती हैं, जिन्हें **वाक्-कोश** (vocal sacs) कहते हैं । मेंढक और भेक दोनों ही सबसे अधिक शोर मचाने वाले जंतुओं में गिने जाते हैं, और विशेष रूप से प्रजनन-काल में तो ये बेहद शोर मचाते हैं । टर्राने की आवाज मेंढक मुँह बंद करने के बाद हवा को फेफड़ों और मुख के बीच इधर से उधर घुमाकर पैदा करता है । यहाँ आवाज तेज करने के लिए वाक्-कोश अनुनादकों (resonators) का काम करते हैं और टर्राने के समय छोटे गुब्बारों की तरह फूल जाते हैं (चित्र 25.7) ।*

* मेंढक के टर्राने पर तुलसीदास जी की यह उक्ति देखिए :
"दादुर-धुनि चहुँ ओर सुहाई ।
बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई ॥" —अनुवादक

चित्र 25.7 नर मेंढक के फूले हुए वाक्-कोश, इनकी सहायता से मेंढक जानी-पहचानी टर्राहट पैदा करता है ।

बाहरी लक्षणों के अध्ययन से मेंढक के दुहरे जीवन का भेद प्रकट होता है । धारारेखित नौकाकार देह जल में जीवन-यापन का पूर्ण अनुकूलन प्रकट करती है । बाहर की ओर निकले तलों के न होने से भी इसमें मदद मिलती है और नुकीले प्रोथ या थूथन तो पतवार की तरह पानी काटने का काम करते हैं और झिल्ली में बंद पैर तैरने में सहायता करते हैं । लंबी पिछली टाँगें असमानुपाती होते हुए भी तैरने और भूमि पर छलाँग मारने, दोनों ही कार्यों में सहायक होती हैं । गर्दन की कमी उभरी हुई आँखों से दूर हो जाती है, जिनको घुमा-फिराकर मेंढक अपने आसपास चारों ओर निहार सकते हैं ।

पीठ की त्वचा का अधिकांश हरे रंग का होता है और उस पर काले या भूरे रंग के धब्बे बने होते हैं । पेट हल्के पीले रंग का होता है । मेंढक में अपना रंग बदलने की क्षमता होती है । अपने आसपास के पेड़-पौधों या कीचड़ आदि के अनुकूल ही अपनी त्वचा का रंग बदलकर मेंढक अपने शत्रुओं की निगाह से बचने में सफल हो जाता है । इस तरह सुरक्षा के लिए त्वचा का रंग बदल लेने को **छद्मावरण** (camouflage) कहा जाता है । त्वचा के अंदर छितरी हुई कुछ वर्ण-कोशिकाओं में मौजूद वर्णक की सांद्रता या वितरण में परिवर्तन होने से रंग बदलने की क्रिया संपन्न होती है । आसपास के वातावरण की जो तस्वीर आँखों में आती है, उसीके अनुसार त्वचा के रंग में परिवर्तन आ जाता है । यह बात निरीक्षण से भी सिद्ध

होती है, क्योंकि अंधे मेंढक अपना रंग आसपास की चीजों के अनुसार नहीं बदल पाते ।

त्वचा की सूक्ष्म रचना

मेंढक की त्वचा 'हरफनमौला की तरह' कई प्रकार के काम करती है। पहला काम तो रक्षा का ही है, क्योंकि त्वचा सारी देह पर लिपटी हुई अंदर के ऊतकों की सभी तरह के यांत्रिक आघातों अर्थात् चोट-धक्कों से बचाव करती है। यही नही, रोगाणुओं को भी प्रवेश नही करने देती। इसका रंग मेंढक को उसके शत्रुओं की नज़र से छिपने में सहायक होता है। साथ ही यह एक महत्त्वपूर्ण श्वसन-अंग है। कुछ सीमा तक देह का ताप त्वचा की सतह से वाष्पीकरण के द्वारा बाहर जाता है। यो मेंढक पानी नहीं पीता, पर त्वचा द्वारा जल-अवशोषण करके देह में आवश्यक नमी बनाए रखता है।

त्वचा के दो प्रमुख स्तर होते हैं : बाहरी **अधिचर्म** (epidermis) और भीतरी **चर्म** (dermis) (चित्र 25 8)। अधिचर्म में कोशिकाओं की अनेक परतें होती है। समय पाकर इसकी सबसे बाहरी कोशिकाएँ झड़ जाती है और नई कोशिकाएँ उनकी जगह ले लेती है। ये नई कोशिकाएँ अधिचर्म की सजीव (**मैलपीगी**) परत द्वारा पैदा की जाती हैं। त्वचा बड़ी कारगर रक्षक अंग है क्योंकि यह टूट-फूट को सहन कर लेती है। त्वचा में स्थित श्लेष्मा-ग्रंथि छोटे-छोटे छिद्रो के रूप में बाहर की ओर खुलती है। इन छेदो मे से श्लेष्मा-ग्रथि की कोशिकाओं द्वारा पैदा किया गया एक तरल बहता रहता है, जो त्वचा को गीली और चिकनी बनाए रखता है। चर्म में अनेक रुधिर वाहिकाएँ विद्यमान होती हैं। अतः नम और शिराओं से भरी हुई त्वचा एक कुशल श्वसन-अंग का भी कार्य करती है। चर्म में वर्णक-धारी कोशिकाएँ भी होती है, जो त्वचा को उसका विशिष्ट हरा, पीला या मटमैला रंग प्रदान करती हैं। यह संपूर्ण त्वचा अपने नीचे स्थित पेशियों से योजी ऊतकों द्वारा ढीली-ढीली जुड़ी रहती है।

कंकाल

सभी कशेरुकियों में देह का मूल स्वरूप अस्थियो और उपास्थियों के कारण बना रहता है। अस्थियाँ और उपास्थियाँ मिलकर कंकाल-तंत्र (skeletal system) बनाती हैं (ग्रीक-स्केलेटॉस=सख्त)। सभी
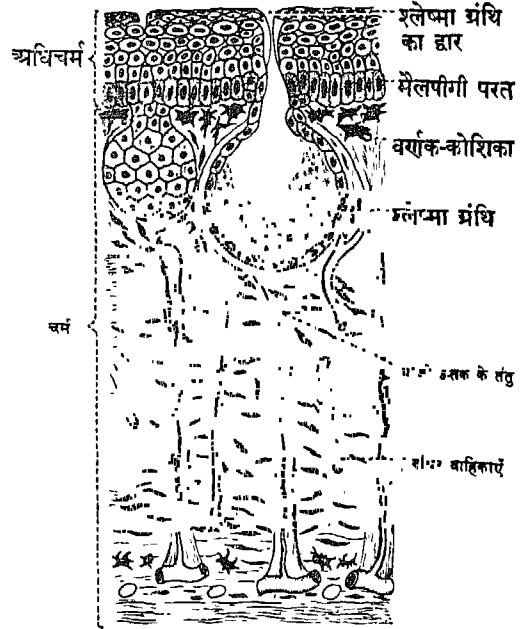
चित्र 25.8 त्वचा की रचना, जैसी कि खड़ी काट में दिखाई देती है। अधिचर्म की सबसे भीतरी परत (मैलपीगी) में तीव्र विभाजन होता है और उससे बनी परतें बाहरी परतों में जुड़ती जाती है। सुराही के आकार की ग्रंथियों में छोटे द्वार होते हैं जिनमें से वे एक चिपचिपा स्राव निकालती है। इससे त्वचा चिकनी और फिसलनी हो जाती है। आधार : टी० जे० पार्कर, डब्ल्यू० एन० पार्कर, बी० एल० भाटिया एंड एम० ए० मोघे, "एन ऐलीमेंट्री टैक्स्टबुक ऑफ ज़ुलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्ट्स", मैकमिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन, 1957।

अस्थियाँ मूलत. आधार या सहारा देने वाली रचनाएँ हैं जो देह को ढेरमात्र नहीं बनने देतीं। चित्र 25 9 में मेंढक की देह के ढाँचे का पार्श्व-रूप दिखाया गया है।

करोटि में अनेक अस्थियाँ होती हैं, जो सिर के विभिन्न अंगों को सहारा देती है। सबसे प्रमुख भाग केन्द्रीय मस्तिष्क कोष **कपाल** (cranium) है जो कोमल मस्तिष्क को आघात से बचाता है। ऊपरी जबड़ा करोटि के गिर्द एक अर्धवृत्त बनाता है। निचला

जबड़ा मुख को सहारा देता है और दो अर्धांगों का बना होता है।

रीढ़ नौ अस्थियों से बनी होती है, जिन्हें कशेरुक (vertebrae) कहते हैं। कशेरुक-दंड के अंतिम सिरे में यूरोस्टाइल या **पुच्छदंड** होता है। पहली, आठवीं और नवीं कशेरुक को छोड़कर बाकी सब लगभग समान होती हैं। एक सामान्य कशेरुक (चित्र 25.9) अंगूठीनुमा होती है, जिसकी दोनों बगलों से प्रवर्ध निकले रहते हैं। अंगूठी के मीनाकारी वाले हिस्से पर ऊपर उठा हुआ एक छोटा-सा कंटक या स्पाइन (spine) होता है। नीचे का ठोस भाग **कशेरुककाय** (centrum) आगे अवतल (concave) और पीछे की ओर उत्तल (convex) होता है जिससे कि एक कशेरुक का उभरा हुआ अंश अपने बाद की कशेरुकों के पिचके हुए अग्र भाग में बैठ जाता है। स्नायु (ligament) कशेरुकों को एक साथ जोड़े रहते हैं, पर थोड़ा-बहुत हिलने-डुलने में कोई बाधा नहीं डालते। इन सभी कशेरुकों के छल्ले मिलकर एक लंबी खोखली नली बना देते हैं, जिसमें मेरु-रज्जु बंद रहती है। मेरु-रज्जु मस्तिष्क का ही पिछला भाग है, जो यहाँ तक फैला रहता है।

कंधा—या **अंस मेखला** (pectoral girdle) अग्रपादों के स्तर पर देह के अग्रभाग को साधे रहती है। यह पेशियों द्वारा पीठ की ओर तो कशेरुक-दंड से और अधर तल पर छाती की हड्डियों से जुड़ी रहती है।

अग्रपाद (चित्र 25.9) में के प्रगंड (upper arm) में एक मोटी सिलिंडराकार अस्थि **ह्यूमेरस** या **प्रगंडिका** होती है। इसका गोल सिरा अंस मेखला की गुहिका (cavity) में बैठ जाता है। इसके ऊपरी
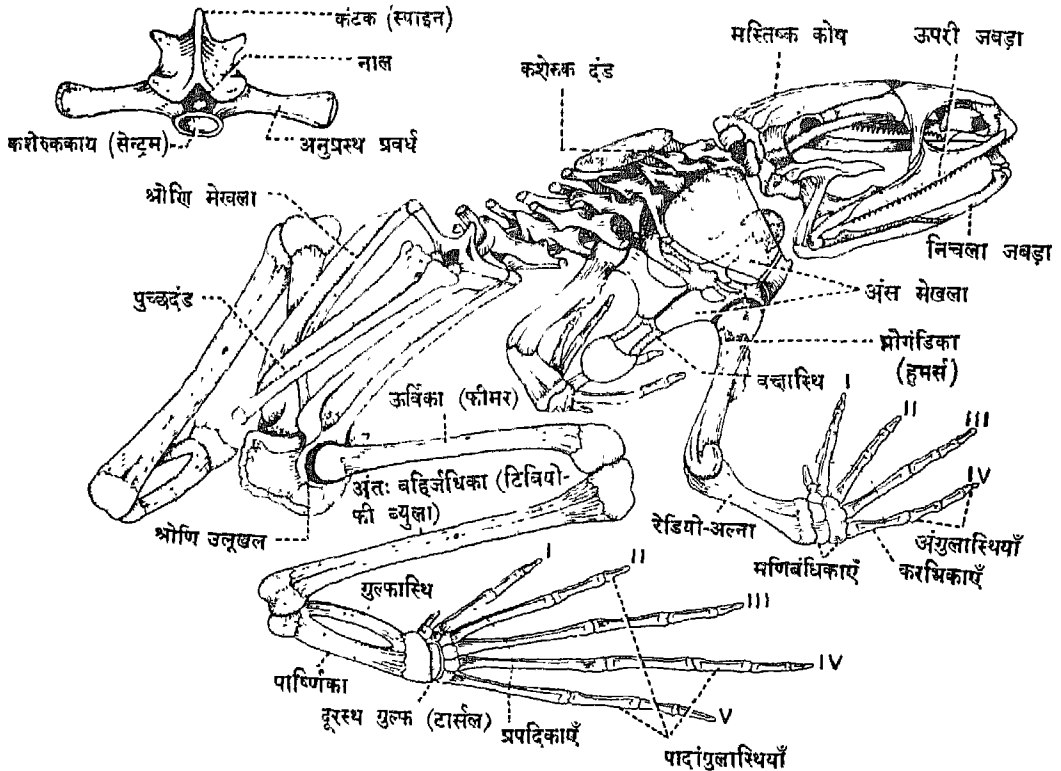
चित्र 25.9 बैठने की मुद्रा में मेंढक के कंकाल का पार्श्व-दृश्य (Lateral view) बाएँ पश्चपाद की अंगुलियों की अस्थियाँ नहीं दिखाई गई। ऊपर बाईं ओर एक प्ररूपी कशेरुक (typical vertebra) का अग्र-दृश्य (anterior view) है। सौजन्य : एम०एल० भाटिया, नई दिल्ली।

भाग पर एक उभरा हुआ कटक (ridge) होता है, जबकि निचला सिरा लगभग गोल होता है और **रेडियो-अल्ना** (radiaoulna) के निकटस्थ सिरे की गुहिका में बैठ जाता है। कलाई में छ छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं, जिन्हे **मणिबंधिका** (carpals) कहते हैं और जो दो कतारो में स्थित होती हैं। हथेली में चार लंबी **करभिकाएँ** (metacarpals) होती हैं, जिनसे अंगुली की हड्डियाँ जुड़ी रहती है। यहाँ एक करभिका और होती है, जो बहुत छोटी है (अंगूठे के अनुरूप) और त्वचा में छिपी रहती हैं।

मेंढक के कूदकर चलने की आदत के अनुकूल उसका **कूल्हा** अथवा **श्रोणि-मेखला** (pelvic girdle) रूपांतरित हो जाती है। अग्रभाग की ओर से यह दो तलवारनुमा लंबी अस्थियों द्वारा कशेरुक-दंड से जुड़ी रहती है।

पश्चपाद (चित्र 25.9) की हड्डियाँ अपनी सामान्य रचना मे अग्रपाद की जैसी ही होती हैं। जंघा या उरु (thigh) में एक लंबी **ऊर्विका या फीमर** होती है, जिसका ऊपरी गोल सिरा श्रोणि-मेखला की गुहिका में जुड़ा रहता है। इसका निचला सिरा घुटने की हड्डी **टिबियोफिब्यूला** से जुड़ा रहता है। पाद के तीन भाग होते हैं: **गुल्फ़ या टार्सस, प्रपद या मैटाटार्सस** और **पादांगुलि**। गुल्फ़ में दो लंबी अस्थियाँ होती हैं—**गुल्फास्थि** (astragalus) और **पार्ष्णिका** (calcaneum) और दो छोटी अस्थियाँ दूरस्थ पंक्ति में होती हैं। गुल्फास्थि और पार्ष्णिका लंबूतरा टखना (ankle) बनाती है और जो कि कूदने में सहायक टाँगो का एक अतिरिक्त खंड है। यहाँ पाँच प्रपदिकाएँ (metatarsals) होती हैं जिनसे पादांगुलि की हड्डियाँ जुड़ी रहती हैं।

कंकाल के लाभ

कंकाल देह का अस्थिमय ढाँचा या पंजर बनाता है और शरीर को एक निश्चित आकृति प्रदान करता है। यह मस्तिष्क मेरु-रज्जु, हृदय और फेफडों जैसे कोमल अंगों की रक्षा करता है। देह का लचीला होना जिन पेशियों पर निर्भर है वे हड्डियों से ही जुड़ी रहती हैं। अस्थि-मज्जा लाल रुधिर कोशिकाओं का निर्माण करती हैं।

अस्थि की प्रकृति

छठे अध्याय में आप पढ़ चुके हैं कि अस्थि एक तरह का योजी ऊतक है जिसमे कैल्सियम लवण भारी मात्रा में जमा होते है। 'लेकिन ऊतक की तरह लगती तो है ही नहीं।' आप शायद आश्चर्यचकित होकर कहें। सचमुच ही हड्डी पूरे तौर पर कैल्सियम या किसी किस्म के प्लास्टर की बनी लगती है लेकिन अस्थि की वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिए एक सरल किन्तु शिक्षाप्रद प्रयोग कर सकते है। मेंढक या किसी दूसरे जानवर की हड्डी लेकर तनु हाइड्रोक्लोरिक एसिड से भरे हुए बीकर में डालो; जल्दी ही उसमें झाग उठने लगते हैं और लगता है कि सारी हड्डी पानी में नमक की तरह जरा-सी देर में घुल जाएगी लेकिन ऐसा नही होता। हड्डी की आकृति वही रहती है जो पहले थी। हाँ! वह इतनी मुलायम जरूर हो जाती है कि आप दोनो हाथों की अंगुलियों से मोड़ सकते हैं (चित्र 25.10)। दबाने के बाद आप छोड़ दें तो यह फिर अपनी पुरानी आकृति धारण कर लेती है। यह कोमल लचीली वस्तु अधिकांशत: योजी ऊतक ही है। इसके विपरीत यदि आप किसी अस्थि को आग पर रख दें तो उसका योजी ऊतक तो सारा-का-सारा जल जाएगा और केवल चूना बच रहेगा। अब यह इतनी भंगुर होगी कि छूते ही बिखरकर चूरा बन जाएगी।

पेशी-तंत्र

अंगो को हिलाने-डुलाने का काम पेशियाँ करती है। इन पेशियों में से अधिकतर अपने एक या दोनों सिरो पर हड्डियों से जुड़ी रहती हैं। यह जुड़ना सीधे-सीधे भी हो सकता है और किसी कंडरा (tendon) के माध्यम से भी (कंडरा योजी ऊतक की एक सख्त पट्टी होती है जो लचीली नही होती)।

पेशियाँ आमतौर पर विपरीत गति प्रभावित करने वाले विरोधी तत्वों (आकोचक और प्रसारिणी) की बनी होती है। **आकोचक पेशियाँ** (flexors) किसी संधि या जोड़ को मोड़ती हैं, जबकि **प्रसारिणी** (extensors) उन्हें सीधा करती है। मूत्राशय (urinary bladder), आंत्र, हृदय तथा अन्य आंतरिक अंगों की पेशियाँ जीव के ऐच्छिक नियंत्रण मे नहीं होती, इसलिए अनैच्छिक पेशी (involuntary muscle)
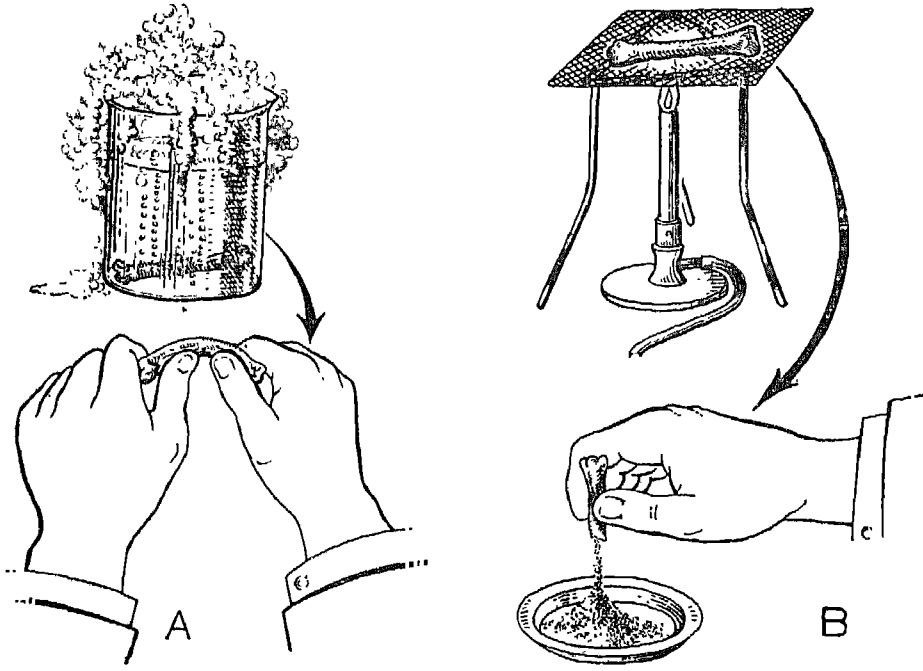
चित्र 25.10 हड्डी बनाने वाले पदार्थ की प्रकृति। अम्ल से प्रभावित करने पर दृढ़ पदार्थ (A) निकल जाता है, जबकि जलाने पर लचीला पदार्थ (B) निकल जाता है।

कहलाती है। दूसरी ओर टाँगों और बाहों की पेशियाँ (तथा अन्य सभी कंकाल-पेशियाँ) इच्छानुसार सिकोड़ी और फैलाई जा सकती हैं, इसलिए वे ऐच्छिक पेशी (voluntary muscle) कहलाती हैं।

सीलोम और आंतरांग

मेंढक की मुख्य देह या धड़ को चीरकर देखने पर एक बड़ी देह-गुहा खुल जाती है जिसमें इसके आंतरिक अंग स्थित होते हैं (चित्र 25.11)। यह गुहा सीलोम अथवा **देह-गुहा** (coelome) कहलाती है और इसमें स्थित अंग **आंतरांग** (viscera) कहे जाते हैं। इस पूरी देह-गुहा का अस्तर एक पतली चमकदार झिल्ली **पेरिटोनियम** (peritoneum) का होता है। पीठ की ओर यानी पृष्ठीय दिशा में यह झिल्ली आंतरांग अंगों पर भी चढ़ी रहती है और निलंबी रचनाएँ बनाती है। आंतरागों पर चढ़ा पेरिटोनियमी आवरण उन्हें परस्पर घिसने से बचाता है। देह-गुहा में भरा एक तरल, आंतरांग को परस्पर रगड़ से बचाने के लिए चिकना किए रहता है। इसमें दिखाई देने वाले विविध अंगों का वर्णन विभिन्न तंत्रों (systems) के अंतर्गत किया गया है।

पाचन-तंत्र

खाद्य मार्ग या **आहार-नाल** (alimentary canal) मुख से शुरू होता है और एक लंबी मुड़ी हुई नली के रूप में अवस्कर-द्वार (cloacal aperture) तक फैला रहता है। इसके अनेक भाग अलग पहचाने जा सकते हैं। ये हैं: गला (ग्रसनी—pharynx), ग्रसिका (oesophagus) आमाशय, छोटी आँत या क्षुद्रांत्र, बड़ी आँत या बृहत् आँत्र और अवस्कर (cloaca) आहार-नाल से दो अंग और जुड़े रहते हैं—**यकृत** liver) और **अग्न्याशय** (pancreas) (चित्र 25.11)।

मुख-गुहा (buccal cavity) के अंदर एक बड़ी पेशीमय और चिपचिपी जिह्वा या जीभ होती है (चित्र 25.12)। यह आगे की ओर तो जुड़ी रहती है,
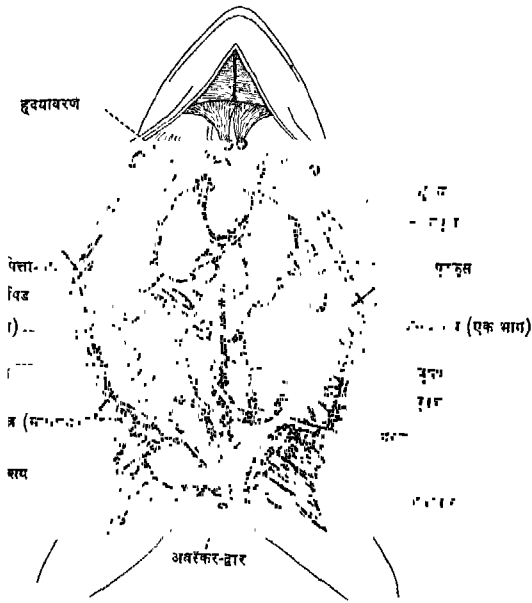
चित्र 25.11 मेंढक की आहार-नाल और अन्य आंतरिक अंगों की स्थिति जो अधर-तल से काटकर खोले गए हैं।
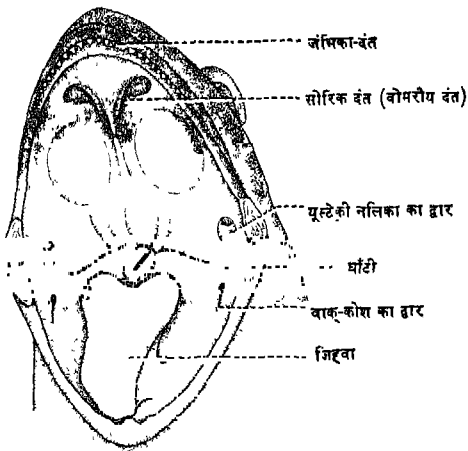
चित्र 25.12 मुख-गुहा (buccal cavity) दिखाने के लिए मेंढक के दोनों जबडे फैलाकर खोल दिए गए हैं।

जबकि पिछला सिरा मुक्त होता है और दो हिस्सों में बँटा होता है। शिकार पकड़ने के लिए मेंढक जीभ को बड़ी तेजी से बाहर फेंकता है। इसकी चिपचिपी सतह पर शिकार चिपक जाता है और बड़ी फुर्ती से भीतर खींच लिया जाता है (चित्र 25.13)। ऊपरी जबड़े के **जंभिका-दंत** (maxillary teeth) और मुख-गुहा की छत पर लगे **वोमरीय या सोरिक दंत** (vomerine teeth) शिकार को बाहर फिसलने से रोकते ह। पीछे की ओर मुख-गुहिका संकरी हो कर **ग्रसनी** (pharynx) बनाती है। मुख मे कोई पाचक ग्रंथि नहीं होती इसलिए यहाँ भोजन में कोई परिवर्तन नहीं होता। शिकार को
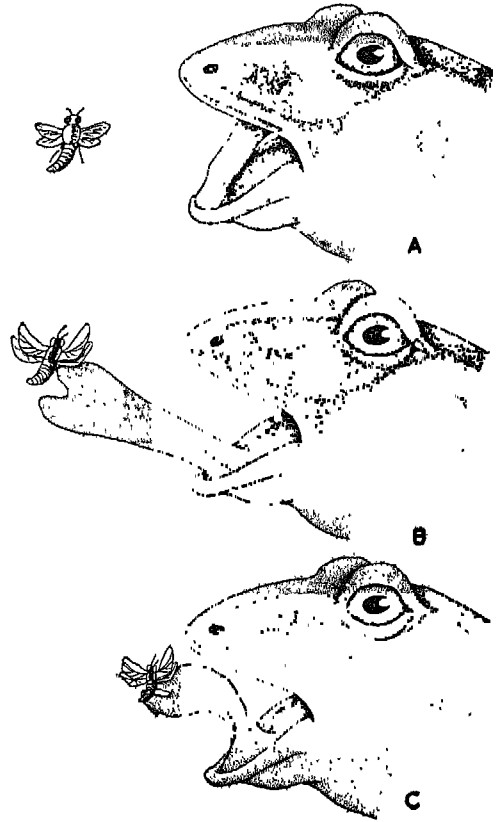
चित्र 25.13 मेंढक की जीभ पीछे की ओर तो खुली, पर आगे से जुड़ी होती है। शिकार पकडते समय यह बड़ी तेजी से जीभ निकाल कर बाहर फेंकता है (A) चिपचिपी जीभ पर शिकार चिपक जाता है (B) जो कि तुरंत ही अंदर कर लिया जाता है (C)।

चबाया नहीं जाता बल्कि ग्रसनी में होकर धीरे-धीरे छोटी-सी नलिकाकार **ग्रसिका** (oesophagus) में निगल लिया जाता है। ग्रसिका की भित्ति में स्थित ऐच्छिक पेशियों के क्रमशः सिकुड़ने **क्रमाकुचन** (peristalsis) से जो लहर-सी पैदा होती है, वह भोजन को अंदर की ओर धकेलती जाती है। अब भोजन आमाशय में पहुँच जाता है।

आमाशय और ग्रसिका एक दूसरे में इस प्रकार जारी रहते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि कहाँ ग्रसिका खत्म हुई और कहाँ आमाशय शुरू हुआ। आमाशय का बड़ा अग्रभाग चौड़ा होता है, जबकि इसका पिछला भाग संकरा होता है। आमाशय की भित्ति बड़ी पेशीमय और बलनयुक्त होती है और भोजन-कणों के भर जाने पर यह फैल सकती है। इसमें अनेक जठर-ग्रंथियाँ होती हैं, जिनका स्राव (**जठर रस**—gastric juice) आमाशय की गुहा में रिसता रहता है। इस रस के अलावा आमाशय में एक चिपचिपा द्रव पैदा होता है, जो इसकी भित्ति और भोजन कणों को चिकना करता है। आमाशय के पिछले सिरे पर स्थित एक संकरा **पाइलोरिक वाल्व या जठर-निर्गम-कपाट** खुलता है और भोजन-कण **ग्रहणी** (duodenum) में खिसक जाते हैं। ग्रहणी छोटी आँत या क्षुद्रांत्र का अगला सिरा है। एक पतली नली—**मूलपित्त-वाहिनी** (common bile duct) द्वारा इस ग्रहणी मे यकृत और अग्न्याशय (चित्र 25.14) से कुछ रस लाए जाते हैं। यकृत लाल-से रंग का बड़ा अंग है, जिसमें तीन पालि (lobes) होते हैं और जो हृदय और फुप्फुसों (lungs) के निकट स्थित होता है। यह असंख्य बहुभुजी कोशिकाओं का बना होता है। इसका स्राव यानी **पित्त** (bile) कोशिकाओं के बीच स्थित पित्त-मार्गों में बहता रहता है। ये पित्त-मार्ग जुड़कर अपेक्षाकृत बड़ी नलिकाएँ बनाते हैं, जो एक पतली भित्तिवाली, हरे-से रंग की थैली—**पित्ताशय** (gall
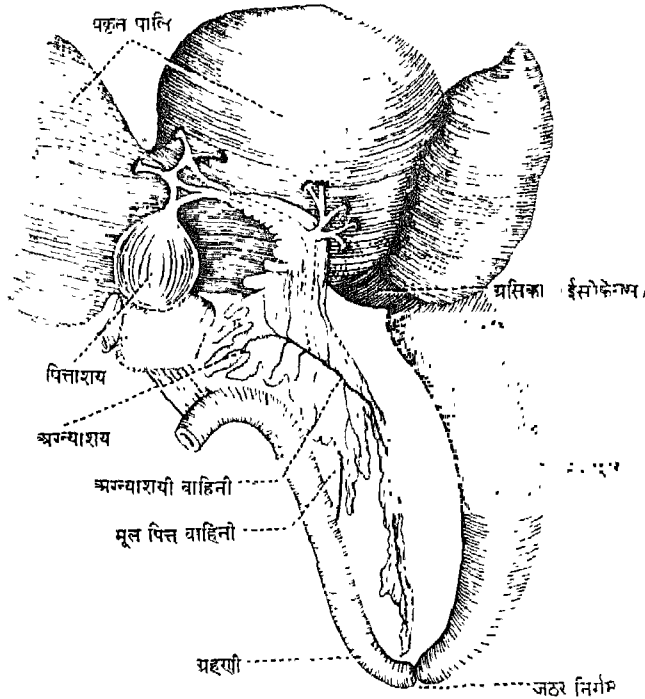
चित्र 25.14 यकृत, पित्ताशय, अग्न्याशय तथा उनके निकट स्थित आहार-नाल के अन्य भाग। आधार: टी० जे० पार्कर; डब्ल्यू० एन० पार्कर; बी० एल० भाटिया एंड एम० ए० मोधे, "ऐन एलीमेंट्री टैक्स्टबुक ऑफ जूलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्टस", मैक्मिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन 1957।

bladder) में खुलती है। यहाँ पर कुछ समय के लिए पित्त संगृहीत रहता है और बाद में पित्त-वाहिनी मे चला जाता है। यह पित्त-वाहिनी अग्न्याशय में होती हुई ग्रहणी तक पहुँचती है । **अग्न्याशय** आमाशय तथा ग्रहणी की बीच के U–नुमा क्षेत्र मे स्थित होता है। यह किनारों पर कटा-फटा पीला-सा अंग है, जो कि ग्रंथिल-कोशिकाओ का बना होता है । जब पित्त-वाहिनी अग्न्याशय में से गुजरती है, तो वहाँ उससे **अग्न्याशयी वाहिनियाँ** आ मिलती हैं । इनमें भरे हुए क्षारीय **अग्न्याशय रस** (pancreatic juice) में अनेक पाचक एन्जाइम होते हैं। पित्त में कोई एन्जाइम नहीं होता, बल्कि इसमे कुछ लवण होते है जो वसाओं को तोड़कर एक तरह का साबुनी घोल (पायस या इमल्शन) बना देते हैं, जिसमें छोटी-छोटी बूँदें होती है और जो फिर आसानी से पचाया जा सकता है।

आँशिक रूप से पचाया हुआ भोजन अब **इलियम** (छोटी आँतों के पिछले भाग) मे पहुँचता है, जहाँ की भित्तियों मे स्थित आँत्र-ग्रंथियाँ इसके ऊपर अपने एंजाइम-रस बरसा देती ह । इस तरह भोजन अनेक सरल द्रव्यो में बदल जाता है, जो कि आँत की दीवार मे अवशोषित हो जाते है । भोजन का जो भाग अनपचा रह गया है, वह अब भी उसी क्रमाकुंचनी गति से पीछे को खिसकता जा रहा है, जिस गति से वह ग्रसिका में से चला था। अंत में यह **बृहत आँत्र** या **मलाशय** (rectum) में आकर इकट्ठा हो जाता है। यहाँ से यह थैलीनुमा **अवस्कर** (cloaca) में आ जाता है, जो कि **अवस्कर द्वार** से मल के रूप में इसे देह से बाहर निकाल देता है । पचा हुआ भोजन आंत्र-भित्ति में फैली रुधिर-वाहिकाओ द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है और वे उसे देह के विविध भागों में पहुँचा देती हैं । जो पोषक पदार्थ देह की जरूरत से ज्यादा होते है, वे यकृत में संगृहीत होते है ।

श्वसन-तंत्र

देह में आक्सीजन ग्रहण करने और उसका अवशोषण करनेवाले अंग श्वसन-तंत्र बनाते है । वयस्क मेंढक में ये अंग हैं फेफड़े और त्वचा और टैडपोल या बैंगची में गिल। जब मुक्त वायु या जल में घुली वायु इन अंगों के सपर्क में आती है तो उनमें बहता हुआ रुधिर आक्सीजन ग्रहण करके कार्बन-डाइआक्साइड बाहर निकालता है । फिर रुधिर देह के सभी भागों में दौड़ता हुआ उन्हें आक्सीजन देता चलता है और उनसे कार्बन-डाइआक्साइड लेता जाता है।

वयस्क मेंढक त्वचा द्वारा (**त्वक्-श्वसन**–cutaneous respiration) मुख-गुहा के अस्तर द्वारा (**मुख-श्वसन**––buccal respiration) और फेफड़ों द्वारा (**फुप्फुसी-श्वसन**––pulmonary respiration) श्वसन करता है।

जब मेंढक पानी में होता है या शीत-निष्क्रियता (hibernation) के दौर से गुजर रहा होता है तो उस समय श्वसन की एकमात्र विधि त्वक्-श्वसन होती है। यहाँ तक कि जब वह स्थल पर होता है, तो उस समय भी श्वसन अशतः त्वचा से और अँशतः फेफड़ों से होता है । त्वचा मे रुधिर-वाहिकाओ का जाल-सा बिछा रहता है । इसकी गीली सतह गैसों के विसरण के काम आती है।

मेंढक सिर्फ शिकार पकड़ने के समय अपना मुख खोलता है नहीं तो उसका मुँह बंद रहता है । अगर तुम किसी जल-जीवशाला मे तैरते या जमीन पर बैठे मेंढक पर ध्यान दो तो तुम देखोगे कि वह बार-बार मुख-गुहा से निचले हिस्से को उठाता और गिराता है। जब गिराता है तो बाह्य और आंतरिक नासाद्वारो मे से हवा भीतर मुख-गुहा में पहुँचती है। जब उठाता है तो हवा उसी मार्ग से बाहर निकल जाती है। इस गतिविधि के दौरान गले से फेफड़े में खुलने वाला दरार-सा द्वार, **घांटी** (glottis) बंद रहता है और हवा फेफड़ो मे प्रवेश नहीं करती। मुख-गुहा के सारे अस्तर में रुधिर-केशिकाएँ बिछी रहती है। इनमें मौजूद रुधिर हवा मे से आक्सीजन अवशोषित कर लेता है, और कार्बन-डाइआक्साइड बाहर निकालता जाता है ।

फुप्फुसी श्वसन (चित्र 25.15) में हवा मुख-गुहा से घांटी में होती हुई फेफड़ों में प्रविष्ट करा दी जाती हैं। यह क्रिया साँस खींचना या **अंतःश्वसन** (inspiration) कहलाती है, जबकि फेफड़ों से हवा बाहर निकालने की क्रिया को साँस बाहर निकालना या **निःश्वसन** (expiration) कहते हैं। फेफड़े लचीले अंडाकार थैले होते हैं, जिनका रंग ताजे चीरे हुए मेंढक में लाल-सा होता है । आगे की ओर दोनों फेफड़े एक पतली भित्ति-वाले छोटे-से कोष्ठ में खुलते है, जिसे **कंठ-श्वासनली**
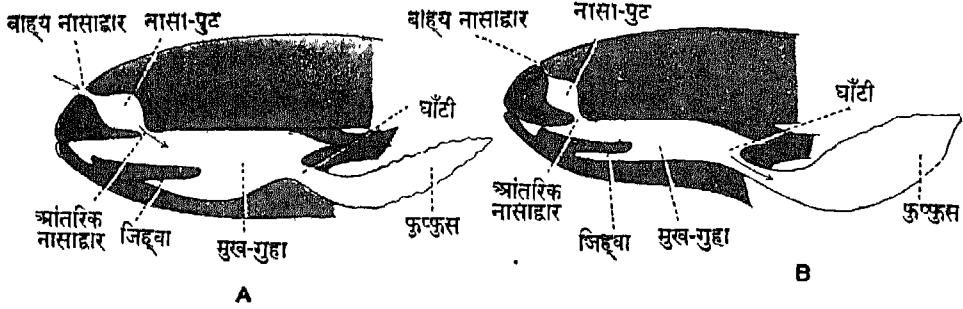
चित्र 25.15 मेंढक में फुप्फुसी श्वसन की प्रक्रिया। जैसे ही मुख-तल नीचे दबता है, नासाद्वार खुल जाते हैं और वायु मुख-गुहा में प्रवेश कर जाती है (A)। जब मुख-तल उठता है, नासाद्वार बंद हो जाते हैं और वायु फुप्फुसों में धकेल दी जाती है (B)। आधार : टी० जे० पार्कर; डब्ल्यू० एन० पार्कर; बी० एल० भाटिया एंड एम० ए० मोघे, "ऐन एलीमेंट्री टैक्स्टबुक ऑफ जूलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्ट्स", मैक्मिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन, 1957।

कोष्ठ (laryngo-tracheal chamber) कहते हैं। यह कोष्ठ घांटी के माध्यम से ग्रसनी (फ़ेरिंक्स) में खुलता है (चित्र 25.16)। कोष्ठ की भित्तियाँ और घांटी के किनारे उपास्थियों (cartilages) द्वारा मजबूत बने रहते हैं। कंठ श्वास-नली कोष्ठ ध्वनि-कक्ष (voice box) बनाता है। इसका भीतरी अस्तर दो क्षैतिज तहों के रूप में उठा रहता है, जिन्हें वाक्-तंतु (vocal cords) कहते हैं। जब हवा फेफड़ों में से बाहर निकाली जाती है तो तंतु कंपन करने लगते हैं। पेशियाँ तंतुओं के तनाव में अंतर पैदा कर सकती हैं और इस तरह इन वाक्-तंतुओं से ध्वनि की ऊँचाई कम या ऊँची की जा सकती है। वाक्-कोश (vocal sac) केवल नर मेंढक में पाए जाते हैं जो उनकी टर्राने की आवाज को बढ़ा देते हैं।

भीतर से हर फेफड़ा अनेक तहों द्वारा कोठरियों में बँटा रहता है जिन्हें **कूपिकाएँ** (alveoli) या वायु-अवकाश (airspace) कहते हैं। इनके कारण हवा के लिए खुली जगह का क्षेत्र काफी बढ़ जाता है। फेफड़ों के भीतर के सारे अस्तर में रुधिर-केशिकाओं का जाल बिछा रहता है। गैसों का अंतर्विनिमय फेफड़ों के वायु-अवकाशों में होता है। फेफड़ों में जो रुधिर आता है, वह कार्बन-डाइआक्साइड से भरा होता है, पर यहाँ कार्बन-डाइऑक्साइड बाहर निकाल दी जाती है और साँस के साथ भीतर खींची हुई हवा से आक्सीजन ग्रहण कर ली जाती है। अब यह आक्सीजनमय रुधिर फेफड़ों की शिरा
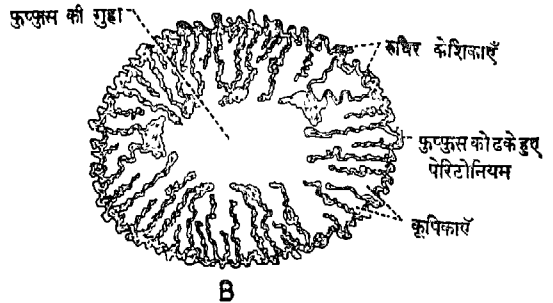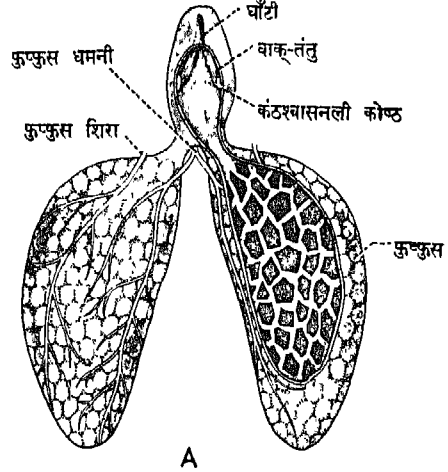
चित्र 25.16A मेंढक के श्वसनांग। जैसे कि अधर-तल से दिखाई देते हैं। कंठ-श्वास-नली कोष्ठ (laryngo tracheal chamber) का एक भाग काटकर खोल दिया गया है। (B) फुप्फुस का अनुप्रस्थ सेक्शन।

द्वारा हृदय तक पहुँचाया जाता है, जहाँ से यह देह के विविध भागों में पंप कर दिया जाता है।

फुप्फुस-श्वसन में मुख-गुहा एक बल पंप का काम करती है। मुख-गुहा की नली का काम यहाँ भी वही होता है जो मुख-श्वसन के समय था, पर अब घांटी खुलती है और उसमें से होकर हवा फेफड़ो में प्रवेश कर जाती है। निःश्वसन (expiration) यानी साँस बाहर निकालते समय, फेफड़ों का लचीलापन और देह की पेशियों का सिकुड़ना, इन दोनों की सहायता से हवा फेफड़ों के बाहर मुख-गुहा में धकेल दी जाती है। फिर यह हवा नासाद्वारों से बाहर निकाली जा सकती है।

परिसंचरण-तंत्र

मेंढक की देह में दो मुख्य द्रव पदार्थ होते हैं--**रुधिर** और **लसीका** (lymph)। ये दोनों ही उसकी देह में परिसंचरण करते हुए अवशोषित खाद्य पदार्थ और आक्सीजन के वितरण का कार्य करते हैं। इसके साथ ही ये देह में पैदा हुए वर्ज्य पदार्थों को इकट्ठा करके, उन्हें निष्कासित करने वाले अंगों मे पहुँचाते हैं। रुधिर नलिकाकार मार्गों में बहता है, जिन्हें रुधिर-वाहिकाएँ कहते हैं और इसका प्रवाह एक शक्तिशाली पेशीमय पंप---हृदय द्वारा नियमित होता है। लसीका रंगहीन होती है और यह लसीका-केशिकाओं, लसीका-वाहिकाओं, लसीका-हृदयों और लसीका-अवकाशों में बहती है, लसीका-अवकाश जो आमतौर पर त्वचा के अंदर और रीढ़ के नीचे स्थित होते हैं।

रुधिर का एक तो द्रव अंश होता है--**प्लाज्मा** और दूसरा कोशिकीय अंश **कणिकाएँ** होती हैं जो द्रव में तैरती रहती हैं। प्लाज्मा रंगहीन-सा द्रव होता है, पर इसमें तरह-तरह के पदार्थ घुले रहते है जिनमें सबसे मुख्य हैं---कार्बन-डाइआक्साइड, पचे हुए खाद्य पदार्थ (अमीनो एसिड, ग्लूकोज, वसा-बिन्दु आदि) अनेक लवण, वर्ज्य उत्पाद (जैसे कि यूरिया), विटामिन, हार्मोन और प्रतिटॉक्सिन जैसे रक्षक द्रव्य। प्लाज्मा में एक और द्रव्य होता है--**फाइब्रिनोजेन** (fibrinogen) जो रुधिर में थक्के जमा देने का काम करता है। सामान्यतया फाइब्रिनोजेन रुधिर में घुला हुआ होता है लेकिन घाव होने या चोट लग जाने पर जब रुधिर सीधे हवा के या किसी अन्य बाहरी वस्तु के संपर्क में आता है, तो फाइब्रिनोजेन गाढ़ा होकर पतले-पतले तंतु यानी **फाइब्रिन** (fibrin) में बदल जाता है। बाकी बचा हुआ प्लाज्मा एक निर्मल द्रव का रूप धारण कर लेता है, जिसे **सीरम** (serum) कहते है। इसमें फंसे हुए फाइब्रिन-तंतु और कणिकाएँ **थक्के** (clot) बना देती हैं, और फिर सीरम बाहर निकल जाता है। इन थक्कों की वजह से कटे हुए भाग से अब और अधिक खून बहना बंद हो जाता है। प्लेटलेट (platelets) या बिम्बाणु (थ्रोम्बोसाइट) भी थक्के बनाने में सहायक होते हैं।

रुधिर कणिकाएँ (चित्र 25.17) तीन तरह की होती है: लाल कणिकाएँ (**रक्ताणु**--erythrocytes) श्वेत कणिकाएँ (**श्वेताणु**---leucocytes) और प्लेटलेट (**बिम्बाणु**---thrombocytes)। लाल कणिकाएँ उभयोत्तली (biconvex), दीर्घवृत्तीय (elliptical) बिम्ब (discs) होती है, जिनके केन्द्रीय भाग में केन्द्रक (न्यूक्लिअस) होता है। एक घन मिलिमीटर रुधिर में पाँच लाख से भी अधिक लाल रुधिर कणिकाएँ (red
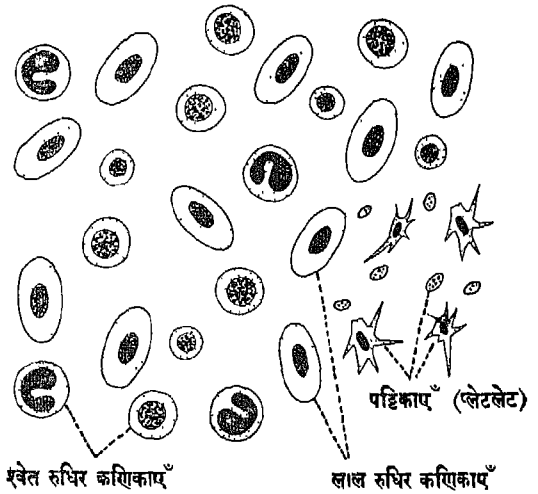
चित्र 25.17 मेंढक के रुधिर में तीन किस्म की कणिकाएँ

blood corpuscle) होती हैं। इनका कोशिकाद्रव्य लगभग पारदर्शी होता है और उसमें एक लौह-प्रोटीन यौगिक होता है जिसे हीमोग्लोबिन कहते हैं। इस यौगिक में आक्सीजन के प्रति बड़ी आसक्ति होती है। जिन्हें हम लाल कणिकाएँ कहते हैं वे वास्तव में

लाल नहीं होती। हर कणिका अलग से पीली-सी लगती है, पर पूरा झुड-मिलकर लाल दिखाई देने लगता है।

श्वेत रुधिर कणिकाओं का कोई निश्चित माप, साइज या आकृति नहीं होती। उनमें अर्धपारदर्शी, रंग-हीन कोशिकाद्रव्य होता है। प्रायः उनमें अनियमित उद्वर्ध (outgrowths) दिखाई देते हैं (कुछ-कुछ अमीबा के जैसे)। केन्द्रक पालियुक्त——यहाँ तक कि विभाजित भी हो सकता है। अपनी अमीबाभ गतियों के कारण श्वेताणु या श्वेत कणिकाएँ रुधिर-केशिकाओं की भित्तियों तक मे से पार हो जाती हैं और ऊतकों के अंतराकोशिकीय अवकाशों में पहुँच जाती हैं। **बिम्बाणु** (thrombocytes) तर्कुरूप पिंड होते हैं, जो केवल प्रारंभिक अवस्था में ही अमीबाभ गति कर सकते हैं (चित्र 25.17)।

एक खास अवधि तक क्रियाशील रहने के बाद कणिकाएँ मर जाती हैं। ये मृत कणिकाएँ परिसंचारी रुधिर से निकालकर मुख्यतः **प्लीहा या तिल्ली** में नष्ट की जाती हैं। प्लीहा एक गहरे लाल रंग का अंडाकार अंग है, जो आँतों की कुंडलियों के निकट ही स्थित होता है। नई कणिकाएँ अस्थिमज्जा (bone marrow) और प्लीहा में बनती हैं। गर्म मौसम में यह पुनरुद्भवन (regeneration) सबसे अधिक सक्रिय होता है। प्लीहा में अनेक छोटे-छोटे अवकाश होते हैं जिनमें संकट-कालीन आपत्-स्थिति मे उपयोग के लिए रुधिर कणिकाएँ संगृहीत होती हैं।

केशिकाओं की भित्तियों द्वारा सारा प्लाज्मा (कुछ प्रोटीनो के सिवा) अंतराकोशिक अवकाशों में रिस आता है। यह द्रव **लसीका** (lymph) या ऊतक-तरल (tissue-fluid) कहलाता है। पोषक-तत्त्वों और आक्सीजन से भरपूर इस द्रव में सजीव कोशिकाएँ मानो नहाई रहती हैं और वर्ज्य पदार्थ भी इसीमें निष्कासित कर दिए जाते हैं। इस लसीका का एक अंश वापस केशिकाओं में विसरित हो जाता है और शेष अंश धीरे-धीरे अतराकोशिक अवकाशों में तब तक खिसकता रहता है, जब तक कि लसीका-वाहिकाओं तक नहीं पहुँच जाता। इनमें से कुछ लसीका-वाहिकाएँ हल्के-हल्के स्पंदित होती रहती है, जिससे कि लसीका को आगे बढ़ा सकें। ये स्पदनशील लसीका-वाहिकाएँ ही 'लसीका हृदय' (lymph heart) कही जाती हैं।

देह में रुधिर-परिसंचरण

परिसचरण-तंत्र (circulatory system) में ये रचनाएँ होती हैं: हृदय जो पंप की तरह काम करता है; धमनियाँ जो विविध अंगो को रुधिर ले जाती हैं; केशिकाएँ और अंगो से वापस हृदय में रुधिर पहुँचाने वाली शिराएँ। रुधिर केशिकाएँ (चित्र 25.18) अत्यंत
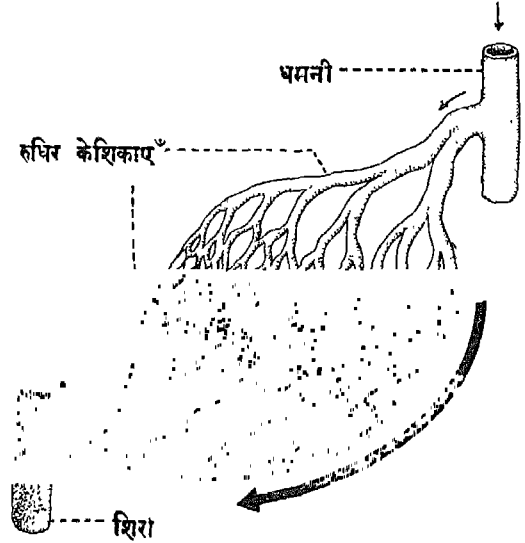
चित्र 25.18 धमनी को शिरा से जोड़ते हुए रुधिर केशिकाएँ महीन जाल-सा बना देती हैं।

पतली-भित्ति वाली वाहिकाएँ हैं जो कि धमनियों की रुधिर-वितरक शाखाओं के आखिरी सिरों से निकलती हैं और उन्हें रुधिर-संग्राहक शिराओं से जोड़ती है। लसीका तो देह-कोशिकाओं के चारों ओर मुक्त बहता रहता है, पर रुधिर हमेशा नलिकाकार मार्गों में बंद होकर ही बहता है।

धमनियों की भित्तियाँ मोटी और पेशीमय होती हैं और उनके अंदर अपेक्षाकृत संकरा रास्ता होता है, जबकि शिराओं में पतली भित्तियाँ होती हैं, जो लचीली नहीं होतीं और उनके अंदर अधिक चौड़ा रास्ता होता है (चित्र 25.19A)। धमनी में बहने वाले रुधिर पर पर्याप्त दाब रहता है और वह धक्के देता हुआ आगे बढ़ता है जिन्हें हृदय की धड़कन के साथ 'स्पंद' (pulse) या नाड़ी के रूप में पहचाना जा सकता है दूसरी ओर
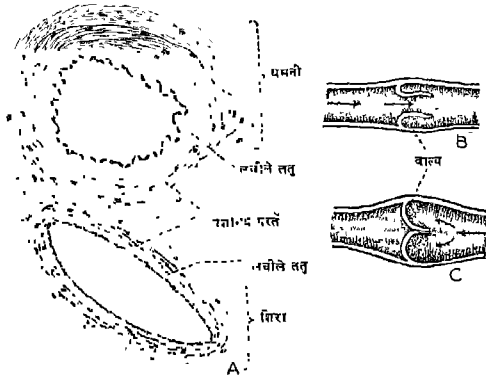
चित्र 25.19A एक धमनी और एक शिरा का अनुप्रस्थ सेक्शन, धमनी में पेशीमय भित्तियों की मोटाई पर ध्यान दीजिए। B और C वाल्वों की क्रिया दिखाने के लिए शिराओं का अनुदैर्ध्य सेक्शन।

शिराओं में बहने वाले रुधिर पर अपेक्षाकृत कम दाब होता है और वह धीरे-धीरे और समान गति से बहता है। शिराओं में जेबनुमा वाल्व (लसीका-वाहिकाओं में पाए जाने वाले वाल्वों से काफी कुछ मिलते-जुलते) होते हैं जो कि रुधिर को विपरीत दिशा मे बहने से रोकते हैं (चित्र 25.19B और C)। शिराओं की तुलना में धमनियाँ देह मे कहीं अधिक गहरे मे पैठी होती है।

हृदय कुछ-कुछ शंकु के आकार का पान के पत्ते जैसा तिकोना होता है और कंधों के स्तर पर वक्ष-अस्थि (breast bone) के ठीक ऊपर स्थित होता है। यह एक पतली और दुहरी भित्ति वाली थैली **हृदयावरण** (pericardium) में बंद होता है।

हृदय में तीन कक्ष होते है। इनमें से ऊपरी दो कक्ष अपेक्षाकृत छोटे और पतली भित्ति वाले हैं और उन्हें दायाँ **अलिद** (auricle) और बायाँ अलिद कहते है। नीचे का शंकु-जैसा कक्ष ऊपर वालों से बड़ा होता है और उसे **निलय** (ventricle) कहते है (चित्र 25.20)।

हृदय की आंतरिक रचना चित्र 25 21 की सहायता
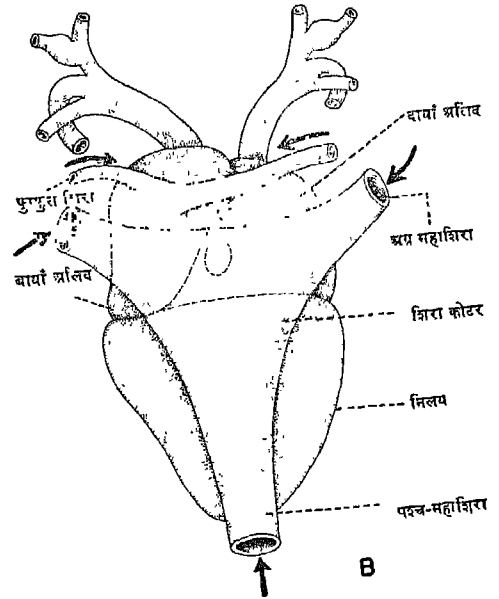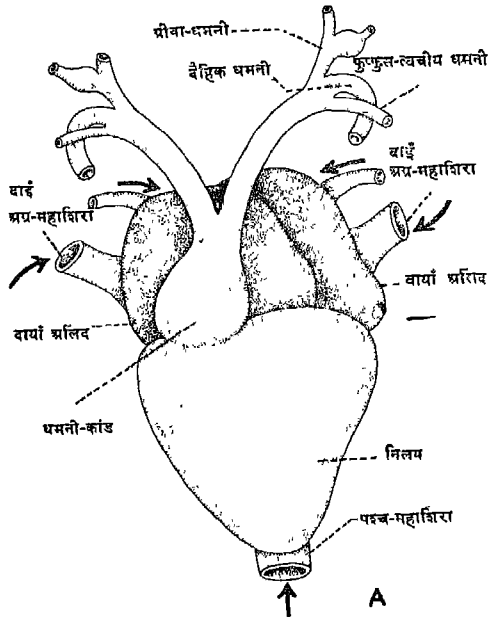
चित्र 25.20 हृदय, पृष्ठतल से (A) और धरातल से (B) आधार : टी० जे० मून०; जे० एच० ओटो एंड ए टाउल "माडर्न बायोलोजी", होल्ट, राइनेहार्ट एंड विंसटन, इंक०, न्यूयार्क, 1960।

से समझी जा सकती है। पतली भित्ति वाले अलिंद एक पट के होने से एक-दूसरे से अलग रहते हैं। दोनों एक सम्मिलित द्वारक (aperture) के माध्यम से निलय (ventricle) में खुलते हैं और यह द्वारक दो पल्लों वाले वाल्व से सुरक्षित रहता है। इस वाल्व के पल्ले निलय में अंदर की ओर निकले रहते हैं और उन्हें निलय की भित्तियों से निकलने वाले कई तंतु साधे रखते हैं।

देह से बहता हुआ रुधिर संग्राहक कक्ष—**शिरा-कोटर** (sinus venosus) में आ जाता है और यहाँ से दाएँ अलिंद में पहुँचता है। शिराकोटर और दाएँ अलिंद के बीच का द्वार भी वाल्व के होने से सुरक्षित होता है। इसी तरह फेफड़ों से आने वाला रुधिर दो **फुप्फुस-शिराओं** (pulmonary veins) के द्वारा बाएँ अलिंद में प्रवेश करता है। इस द्वार पर कोई वाल्व नही होता। अब निलय की ओर चलें तो हम देखते हैं कि उसकी भित्तियाँ बड़ी मोटी, पेशीमय और स्पंजी होती हैं। निलय के चौड़े सिरे के दाहिनी तरफ से एक बड़ी धमनी **धमनी-कांड** (truncus arteriosus) निकलती है, जो दोनों अलिंदो के बीच की सतह पर होकर आगे बढ़ती है। इस धमनी-कांड से तीन शाखाएँ निकलती हैं (**ग्रीवा-शाखा**—carotid; **दैहिक-शाखा**—systemic; और **फुप्फुसत्वचीय-शाखा**—pulmocutaneous)। बाएँ और दाएँ पार्श्व की शाखाएँ कुछ दूर तक एक तरह का बंडल बनाए रहती है। धमनी-कांड या ट्रंकस आर्टीरियोसस के आधार में तीन अर्ध-चंद्राकार वाल्व (semi-lunar valve) होते हैं (चित्र 25.21) जो कि रुधिर को वापस निलय में लौट जाने से रोकते हैं। ट्रंकस आर्टीरियोसस के भीतर एक अनुदैर्ध्य सर्पिल वाल्व होता है जो रुधिर के बहाव को इस तरह नियंत्रित करता है कि पहले वह फुप्फुस-त्वचीय शाखा मे और बाद में दैहिक और ग्रीवा शाखाओ में पहुँचता है। तीनो धमनी-कांड-शाखाओं के आधार-भागो पर वाल्व लगे होते हैं जो रुधिर के बहाव का केवल एक दिशा मे बहना नियमित करते है।

हृदय कैसे काम करता है

अपनी पेशीमय भित्तियों द्वारा हृदय एक तालबद्ध गति से स्पंदित होता रहता है। संकुचन और मोचन यानी सिकुड़ने और फैलने से ही हर स्पंद यानी धड़कन जन्म लेती है। हृदय के भिन्न-भिन्न कक्ष एक-एक निश्चित क्रम से सिकुडते हैं—पहले शिराकोटर, फिर दोनों अलिंद, फिर निलय और सबसे बाद में ट्रंकस आर्टीरियोसस या धमनी-कांड। शिराकोटर संकुचित होते ही रुधिर एक धक्के में दाएँ अलिंद में जा पहुँचता है। इसी बीच फेफड़ों से आक्सीजनयुक्त रुधिर बाएँ अलिंद में आ चुका होता है। फिर दोनों अलिंद एक साथ संकुचित होते है। शिराकोटर और दाएँ अलिंद के बीच के द्वार पर स्थित वाल्व रुधिर को कोटर में लौटने से रोकते हैं। बाएँ अलिंद में फेफड़ों से रुधिर का लगातार बहाव अपने-आप ही फुप्फुसशिरा में रुधिर को लौटने नही देता। अलिंदों के सिकुड़ने की वजह से रुधिर एक अकेले अलिंद-निलय द्वारक में होकर निलय में फेंक दिया जाता है। निलय के बिल्कुल दाईं ओर का रुधिर विआक्सीजनित (de-oxygenated) होता है और बिल्कुल बाईं ओर आक्सीजनित। बीच के हिस्से में दोनों तरह का रुधिर कुछ-कुछ गडमड हो जाता है, पर रुधिर की श्यान प्रकृति के कारण दोनों किस्मों के रुधिर में मिश्रण बहुत धीरे-धीरे होता है।

अलिंदों के सिकुड़ने के एकदम बाद ही निलय सिकुड़ता है। उसके अंदर मौजूद रुधिर के दाब से अलिंद-निलय वाल्व इस तरह बंद हो जाते है कि रुधिर लौटकर अलिंदों में नहीं जा सकता। दूसरी ओर धमनी-कांड या ट्रंकस आर्टीरियोसस के आधार पर स्थित वाल्व दाब के धक्के से खुल जाते हैं। पहले तो दाईं ओर का अधिकतर विआक्सीजनित रुधिर ट्रंकस में प्रवेश करता है और फुप्फुस-शाखा (pulmocutaneous trunk) में जा पहुँचता है। इसके बाद मिश्रित रुधिर चलता है और दैहिक-शाखा (systemic trunk) में जा पहुँचता है और सबसे बाद में वह रुधिर निकलता है जो अधिकांशतः आक्सीजनित है, और ग्रीवा-शाखा में जा पहुँचता है। यह काड-शाखा सिर की ओर जाती है। कुछ जीवविज्ञानियों का विश्वास है कि निलय के अंदर रुधिर का पूरी तरह मिश्रण होता है और पूरी देह में केवल मिश्रित रुधिर ही बहता है। इसमे कोई संदेह नहीं है कि कुछ मिश्रण तो होता ही है। इस प्रकार जलस्थल-चरों (amphibians) का हृदय उतना कुशल नहीं होता, जितना कि सरीसृपों, पक्षियों और स्तन-धारियों का चारकक्ष वाला हृदय होता है, जिसमें धमनी-रुधिर और शिरा-रुधिर पूर्णतः पृथक होते हैं।
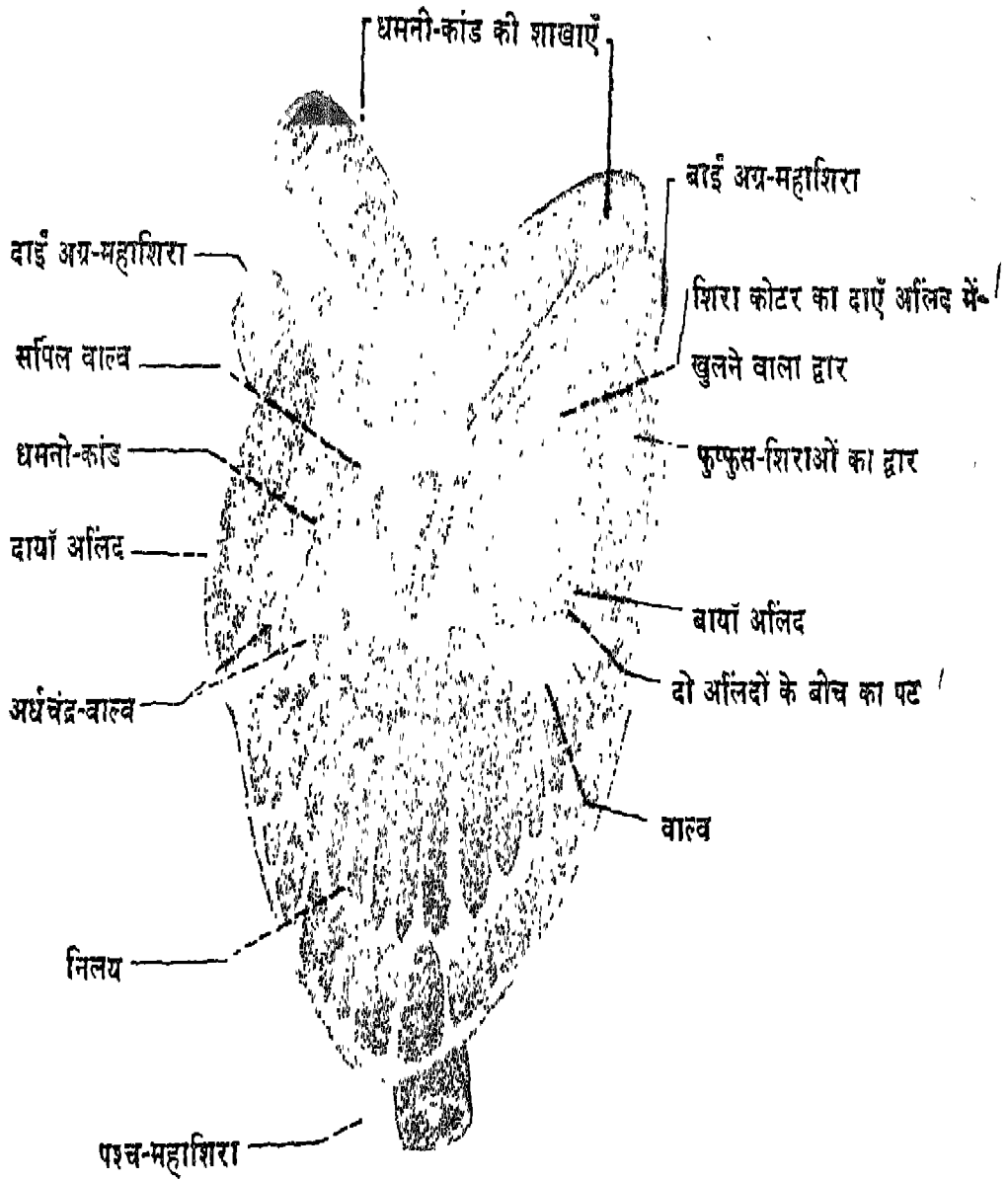
चित्र 25.21 हृदय का अनुदैर्ध्य सेक्शन। आधार : ई० टी० स्मिथ; "एक्सप्लोरिंग बायोलोजी," हारकोर्ट, ब्रेस एंड वर्ल्ड, इंको०, न्यूयार्क, 1959।
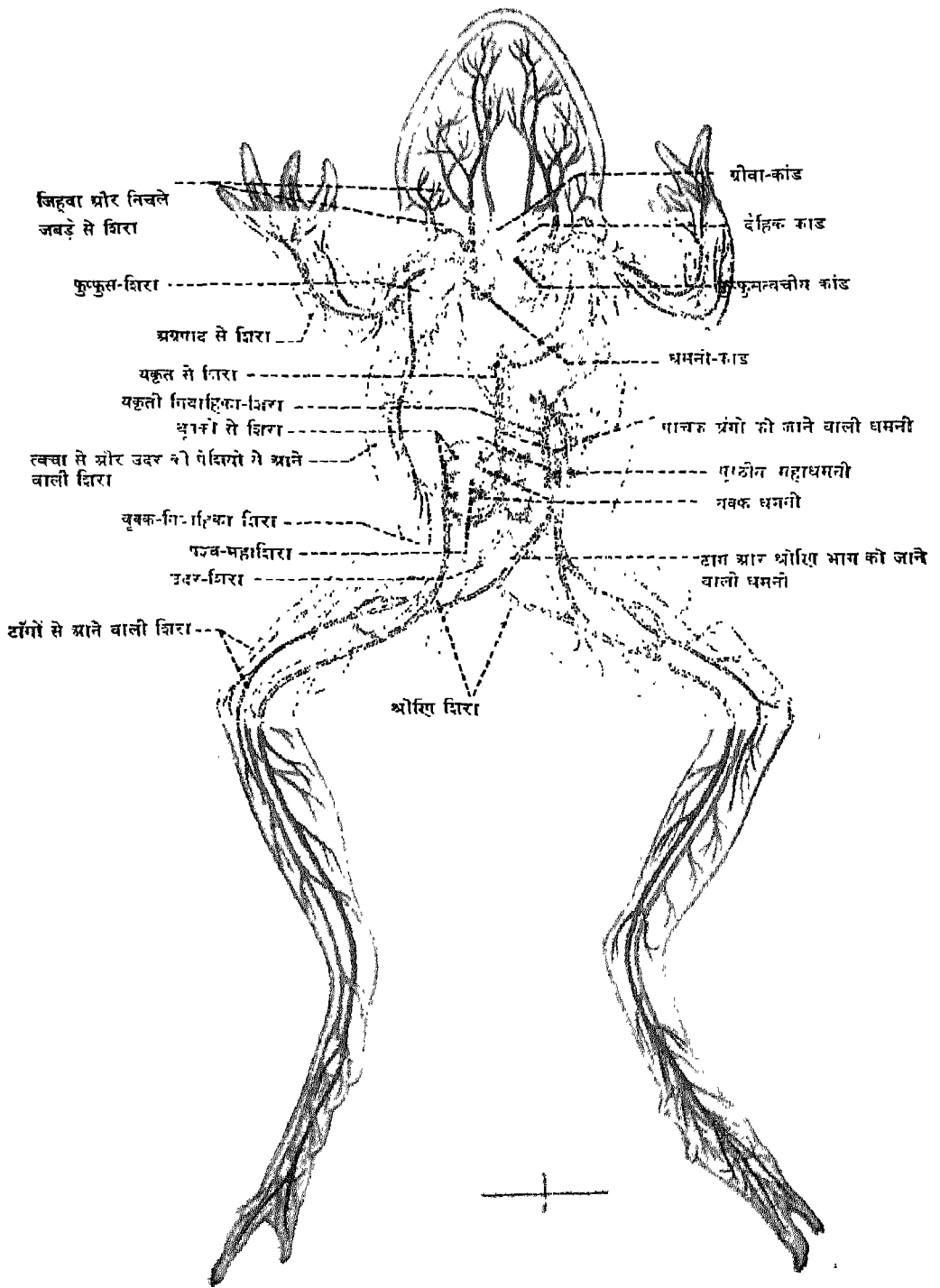
चित्र 25.22 मुख्य धमनियाँ और शिराएँ। आधार, ई० टी० स्मिथ "एक्सप्लोरिंग बायोलोजी" हारकोर्ट, ब्रेस एंड वर्ल्ड, इंको०, न्यूयार्क 1959।

हृदय निरंतर स्पदित होता रहता है और इस प्रकार देह के विविध अंगों को रुधिर पंप करता रहता है। शिराएँ रुधिर फिर वापिस ले आती हैं। जीवन भर बिना किसी व्यवधान के यह प्रक्रम चलता रहता है। हृदय और शिराओं के बीच सभी 'प्रवेश-द्वारों' पर वाल्व लगे होने के कारण रुधिर का बहाव एक ही दिशा में बना रहता है। जैसा कि चित्र 25.22 मे दिखाया गया है, प्रमुख धमनी-कांड अनेक शाखाओं में बँट जाते हैं। इसी चित्र में मुख्य-मुख्य शिराएँ भी दिखाई गई हैं।

निवाहिका उपतंत्र

अधिकतर अंगों से हृदय में रुधिर सीधा पहुँचता है, पर टाँगों और श्रोणि-क्षेत्र (pelvic region) का रुधिर गुर्दो या वृक्कों (kidneys) में होता हुआ और पाचन-क्षेत्र का जिगर या यकृत में होता हुआ हृदय मे पहुँचता है। वृक्को मे होकर गुजरने वाली रुधिर-वाहिकाएँ तो **वृक्क-निवाहिका उपतंत्र** (renal portal system) बनाती है, और यकृत से होकर गुजरने वाली रुधिर वाहिकाएं **यकृती-निवाहिका उपतंत्र** (hepatic portal system) बनाती है।

इस प्रकार तुमने देखा कि रुधिर देह के सभी भागो में परिसंचरण करता रहता है। केशिका-तंत्र इतना घना और विस्तृत होता है कि देह के किसी भी अंग में सुई चुभोएँ तो बहुत-सी केशिकाओं को आघात पहुँचे बिना नही रह सकता। ऊतकों में से गुजरते हुए रुधिर बड़ी महत्त्वपूर्ण सेवा करता है। वह आक्सीजन तथा अन्य पोषक द्रव्य कोशिकाओं में पहुँचाता है और उनसे कार्बन-डाइआक्साइड और दूसरे वर्ज्य पदार्थ ले लेता है। यही नहीं, देह के विभिन्न भागो में स्थित कुछ ग्रंथियो के स्राव भी रुधिर द्वारा ग्रहण किए जाते है और फिर उन स्थानों में पहुँचाए जाते हैं जहाँ उनकी जरूरत है। हम इन सभी बातों पर चौथे भाग में विस्तार से विचार करेंगे।

अंत.स्रावी ग्रंथियाँ

मेंढक की देह मे कुछ ग्रंथियाँ होती है जो कि इस तरह के पदार्थ (हार्मोन या आंतरिक स्राव) पैदा करती है, जो उन ग्रंथियों मे होकर गुजरने वाले रुधिर द्वारा सीधे-सीध ग्रहण कर लिए जाते है। ये पदार्थ उपापचय (metabolism), वृद्धि (growth) और जनन (reproduction) को नियंत्रित करते हैं। इन पदार्थों को पैदा करने वाली ग्रंथियाँ **अंतःस्रावी ग्रंथियाँ** (endocrine glands) या **वाहिनीहीन ग्रंथियाँ** (ductless glands) कहलाती हैं (चित्र 25.23)। इन ग्रंथियों में प्रमुख ये हैं: पीयूष ग्रथि (pituitary) अवटु ग्रथि या थायरॉइड (thyroid), थाइमस (thymus), अधिवृक्क ग्रंथियो (adrenals), अग्न्याशय (pancreas) और जनन-ग्रथियाँ (वृषण—testes या अंडाशय—ovaries)।
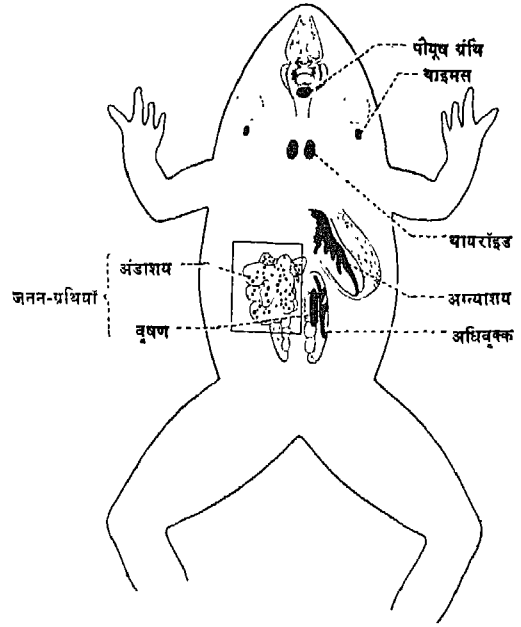
चित्र 25.23 अंतःस्रावी ग्रंथियाँ।

पीयूष-ग्रंथि मस्तिष्क के अधर-भाग (ventral side) में होती है। इसमें तीन पालि होती हैं। अग्र-पालि (anterior lobe) एक वृद्धि-उद्दीपक-हार्मोन और एक जनन-ग्रंथि-उद्दीपक हार्मोन (gonad-stimulating hormone) स्रवित करती है। यदि प्रजनन करने वाली मेंढकी का अग्रपालि निकालकर किसी अ-प्रजननी मेंढकी में प्रतिरोपित (transplant) कर दी जाए तो उसके अंडाशय सक्रिय हो जाते हैं और फिर वह अंडे देती है। इसी तरह प्रजननकारी नर मेंढक की वही पालि निकालकर अ-प्रजननकारी नर में लगा दी जाए तो वह शुक्राणु पैदा करके उन्हें विसर्जित करने

लगता है। मध्यपालि से रिसनेवाला हार्मोन त्वचा में **वर्णकों** (pigments) के वितरण को नियंत्रित करता है। पश्चपालि (posterior lobe) से स्रवित होने वाला हार्मोन त्वचा द्वारा जल-ग्रहण को नियंत्रित करता है।

जिह्वा के पश्च भाग में दोनों ओर **अवटु-ग्रंथि** (thyroid gland) होती है। जिसके स्राव के फलस्वरूप बेंगची (tadpole) एक वयस्क में कायांतरित हो जाती है। यदि बेंगचियों में से ये ग्रंथि निकाल दी जाए तो वे कभी वयस्क न हों। दूसरी ओर सामान्य बेंगचियों में इसकी अतिरिक्त मात्रा पहुँचाने से उनका कायांतरण तेजी से होता है।

थाइमस छोटी, अंडाकार, कुछ-कुछ लाल-सी ग्रंथि है जो कि कर्णपट (tympanic membrane) के पीछे स्थित होती है। आयु बढ़ने के साथ-ही-साथ यह और भी छोटी होती जाती है। इसका कार्य क्या है, यह अभी अच्छी तरह ज्ञात नहीं है। जीवविज्ञानियों ने इसे अनेक कार्यों का श्रेय दिया है, जैसे कि लाल रुधिर कोशिकाएँ पैदा होने का नियंत्रण, जनन-ग्रंथियों के परिवर्धन को उद्दीपित करना और कायांतरण का नियंत्रण।

अधिवृक्क-ग्रंथियाँ (adrenals) पीली धारी-जैसे पिंड होते हैं। प्रत्येक वृक्क की अधर सतह पर एक-एक अधिवृक्क ग्रंथि स्थित होती है। ये एड्रीनलिन पैदा करती है, जो रुधिर-दाब बढ़ा देता है और त्वचा की वर्णक-कोशिकाओं को सिकोड़ देता है।

अग्न्याशय (pancreas) कुछ पाचक एन्जाइम और **इंसुलिन** नामक हार्मोन पैदा करता है। इंसुलिन का स्राव कुछ विशिष्ट कोशिका-समूहों द्वारा नियंत्रित होता है, जो कि **लैंगरहैन्स द्वीपिकाएँ** (Islets of langerhans) कहलाते हैं। ये मेंढक में तो इतने स्पष्ट नहीं होते, पर मनुष्य और खरगोश आदि में सुस्पष्ट होते हैं। इंसुलिन देह में शर्करा के संतुलन का नियंत्रण करती है।

जनन-ग्रंथियों (वृषण या अंडाशय) द्वारा पैदा किए गए हार्मोन द्वितीयक लैंगिक लक्षणों (जैसे कि नर मेंढक की मैथुन-गद्दी) के परिवर्धन को नियंत्रित करते हैं।

ऊपर बताई गई अंतःस्रावी ग्रंथियों के अलावा आमाशय और आँतों के एपिथीलियमी अस्तर भी इसी तरह काम करते हैं और उनके स्राव ग्रहणी (duodenum) में रसों के बहाव को नियंत्रित करते हैं। हार्मोनों के बारे में इस पुस्तक के चौथे भाग में तुम विस्तार से पढ़ोगे।

तंत्रिका-तंत्र

अन्य किसी भी जीवधारी की तरह मेंढक भी दो तरह की क्रियाएँ करता है: (क) ऐच्छिक क्रियाएँ जो इच्छा शक्ति से नियंत्रित होती हैं जैसे कि शिकार पकड़ने में होने वाली क्रियाएँ और (ख) अनैच्छिक या प्रतिवर्त्ती क्रियाएँ जो बिना विचारे अपने-आप होने लगती हैं, जैसे कि सुई चुभोने पर पाँव हटा लेना। इन दोनों ही तरह की क्रियाओं के द्वारा जीव अपने वातावरण के अनुसार ढालने या समंजित करने का प्रयत्न करता है। इसमें बाहरी दुनिया से मिलने वाले उद्दीपनों को ग्रहण करके अपनी देह की पेशियों को तदनुसार वांछित क्रिया करने के लिए प्रेरित करना शामिल है। किसी उद्दीपन के प्रति किस अंग को क्या अनुक्रिया करनी है, ये सब कार्य नियंत्रण तंत्रिका-तंत्र करता है।

तंत्रिका-तंत्र के तीन भाग हैं: (क) **केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र**, (central nervous system) जिसमें मस्तिष्क और रीढ़-रज्जा (spinal cord) शामिल है: (ख) **परिधीय तंत्रिका-तंत्र** (peripheral nervous system) जिसमें मस्तिष्क और रीढ़-रज्जु से निकलने वाली तंत्रिकाएँ शामिल हैं; और (ग) **अनुकंपी तंत्रिका-तंत्र** (sympathetic nervous system)।

मस्तिष्क : खोपड़ी के हड्डियों से बने बक्से में मस्तिष्क पूरी तरह सुरक्षित रहता है। इसी तरह पीछे की ओर जारी इसका हिस्सा—**रीढ़-रज्जु** भी मेरु-दंड या कशेरुक-दंड (vertebral column) की नाल में छिपा रहता है। मस्तिष्क और रीढ़-रज्जु दोनों ही दुहरी झिल्लियों से ढँके रहते हैं। बाहरी झिल्ली कुछ सख्त होती है और भीतरी झिल्ली पतली होती है तथा उसमें रुधिर-केशिकाएँ होती हैं। इन दोनों परतों के बीच एक तरल होता है जो कि इन सुकोमल अंगों का धक्कों और चोट से बचाव करता है।

मस्तिष्क के मुख्य भाग तीन हैं—अग्र-मस्तिष्क, मध्य-मस्तिष्क और पश्च-मस्तिष्क (चित्र 25.24)। अग्र-मस्तिष्क में अगले सिरे पर **घ्राण-पालि** (olfactory
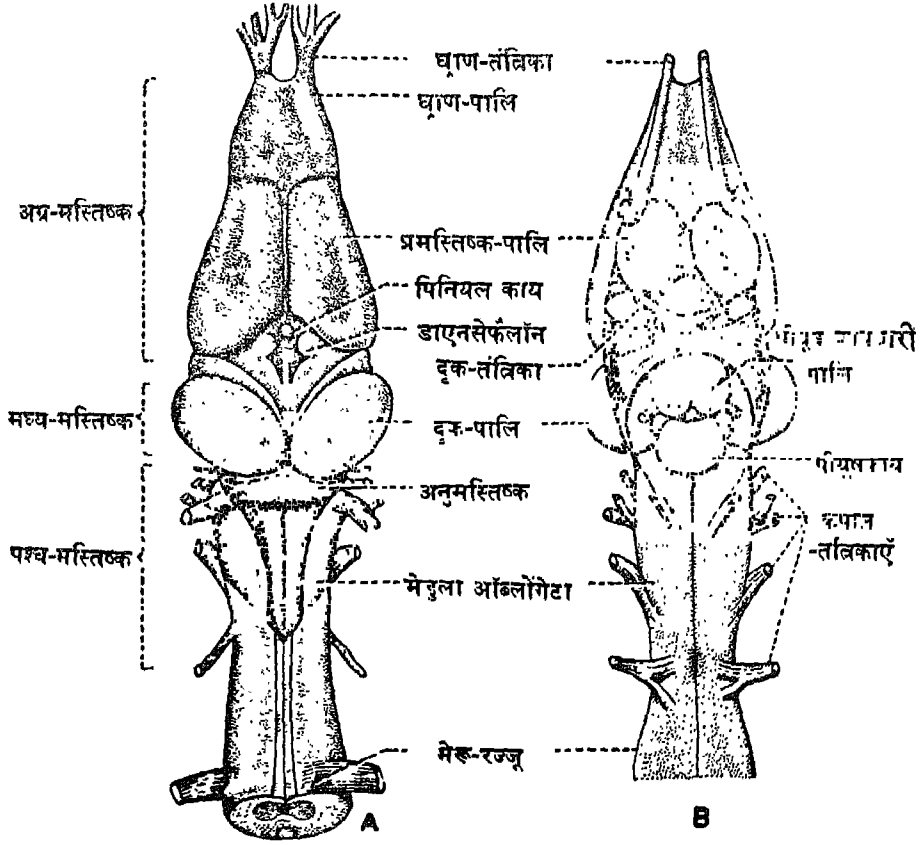
चित्र 25.24 मस्तिष्क का पृष्ठ-तल (A) और अधर-तल (B) आधार : टी० जे० पार्कर; डब्ल्यू एन० पार्कर; बी० एल० भाटिया; एंड एस० एन० मोथे, "ऐन एलीमेंट्री टैक्स्टबुक ऑफ जूलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्टस," मैक्मिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन, 1957।

lobes) होती हैं, और दो **प्रमस्तिष्कीय-पालि** (cerebral lobe) होती हैं, जिन्हें मिलाकर **प्रमस्तिष्क** (cerebrum) कहते हैं; प्रमस्तिष्क के पीछे ही **अग्र-मस्तिष्क पश्च** (diencephalon) होता है। अग्र-मस्तिष्क पश्च की पृष्ठीय सतह पर एक छोटा **पिनियल काय** (pineal body) होता है, जिसका कार्य अभी अज्ञात है, और अधर-भाग (ventral side) में एक और पालि पीयूष-काय (pituitary body) की होती है। मध्य-मस्तिष्क में दो बड़ी दृक्-पालि (optic lobe) होती हैं। पश्च-मस्तिष्क में एक छोटा **अनुमस्तिष्क** (cerebellum) और एक बड़ा **मेडूला ऑबलांगेटा** (medulla oblongata) होता है जो पीछे की ओर बढ़ता हुआ रीढ़-रज्जु से जा मिलता है। मस्तिष्क विशेष ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संदेश ग्रहण करके, पेशियों को आवश्यकतानुसार कार्य करने का निर्देश करता है। इसका मुख्य संबंध ऐच्छिक क्रियाओं से है। प्रमस्तिष्क या सेरीब्रम मस्तिष्क का वह भाग है जो सीखने और सोचने का केन्द्र है; साथ ही यह तंत्रिका-तंत्र के अन्य भागों के कार्यों के समन्वय का भी नियंत्रण करता है। घ्राण-पालि गंध पहचानने का केन्द्र है। अनुमस्तिष्क या सेरीबैलम पेशियों की गतिविधियो का समन्वय करता है जैसे कि कूदने और तैरने के समय। मेडूला ऑबलांगेटा हृदय की गतिविधि का नियंत्रण करता है और कुछ अन्य अनैच्छिक क्रियाओं का नियमन करता है।

रीढ़-रज्जु या मेरु-रज्जु : रीढ़-रज्जु या मेरू-रज्जु (spinal cord) मेडूला ऑबलांगेटा से शुरू होकर
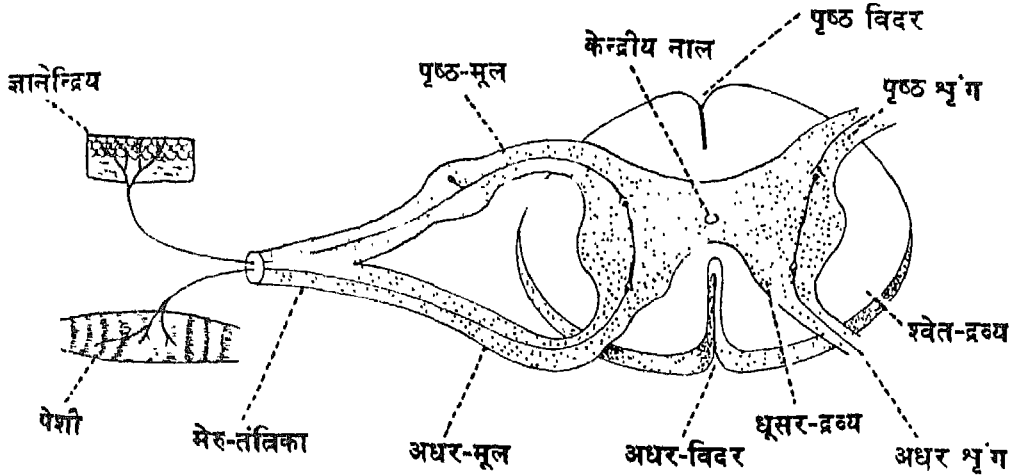
चित्र 25.25 मेरु-रज्जु का अनुप्रस्थ सेक्शन और प्रतिवर्त-चाप (reflex arc) का पथ।

मेरु-दंड या कशेरुक-दंड (vertebral column) के सिरे तक होती है। रीढ़-रज्जु में मध्य-पृष्ठीय विदर (mid-dorsal fissure) और मध्य-अधर विदर (mid-ventral fissure) होते हैं जो बाहर से देखने पर धारियों-से लगते हैं। रीढ़-रज्जु की अनुप्रस्थ काट (cross section) का सूक्ष्मदर्शी से अध्ययन करें तो चित्र 25.25 में दिखाई गई बनावट नजर आती है। केन्द्र में एक नाल (canal) होती है जो कि पूरी रज्जु में पाई जाती है और मस्तिष्क में पहुँचकर चौड़ी हो जाती है। इस केन्द्रीय नाल को घेरे हुए धूसर द्रव्य (grey matter) होता है (जिसमे तंत्रिका-कोशिकाएँ होती है) और इसके बाहर श्वेत द्रव्य होता है (जिसमें तंत्रिका तंतु—nerve fibres) होते है। धूसर-द्रव्य ऊपर और नीचे की ओर क्रमशः पृष्ठ शृंग (dorsal horn) और अधर शृंग (ventral horn) के रूप में जारी रहता है।

परस्पर जुड़ी हुई असंख्य अनुदैर्घ्य (longitudinal) और अनुप्रस्थ तंत्रिका-कोशिकाओं की सहायता से रीढ़-रज्जु मस्तिष्क से अन्य भागों को और अन्य भागों से मस्तिष्क को तंत्रिका-आवेग (nerve impulse) लाने-ले जाने का कार्य करती है। इसके अलावा यह उन प्रतिवर्त्ती तंत्रिका-आवेगों का भी संवहन करती है, जो न मस्तिष्क से आते हैं, न मस्तिष्क को जाते है।

प्रतिवर्त्ती-क्रिया (reflex action) में किसी अंग से संवेदी आवेग (sensory impulse) चलकर रीढ़-तंत्रिका के पृष्ठ मूल (संवेदी) द्वारा रीढ़-रज्जु में पहुँचता है। यहाँ इसको एक 'आदेश' में बदलकर तुरंत अधर (प्रेरक—motor) मूल के द्वारा वापस संबंधित पेशी को भेजा जाता है, जो आदेशानुसार अपेक्षित कार्रवाई करती है (चित्र 25.25)। इस तरह की कार्रवाई में समय की बड़ी बचत होती है, क्योंकि यहाँ उद्दीपन को पूरे रास्ते चलकर मस्तिष्क तक नहीं जाना पड़ता। यदि आप एक शिरच्छेदित मेंढक (यानी जिसका शिर काट दिया गया है) लें और उसकी देह पर कोई हल्का अम्ल डाल दें तो (वह अब भी इस उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया कर सकता है (चित्र 25.26)। यह सरकटा मेंढक *जलन पैदा करने वाले पदार्थ को पोंछकर हटाने के लिए* अपनी टाँग इस्तेमाल कर सकता है।

तंत्रिकाएँ : मस्तिष्क से कपाल-तंत्रिकाओं के दस जोड़े निकलते है और रीढ़-रज्जु से इतनी ही रीढ़-तंत्रिकाएँ निकलती है (चित्र 25.27)।

आँख, नाक और कानों से आनेवाली कपाल-तंत्रिकाएँ (I, II और III) पूर्णतः **संवेदी** (sensory)
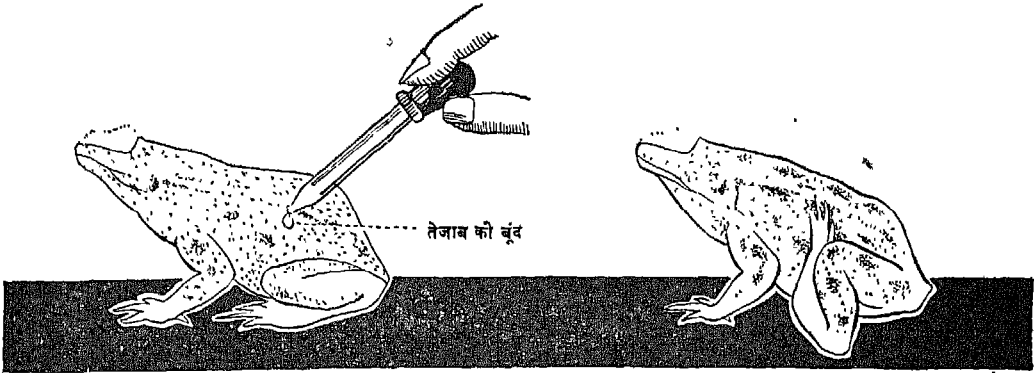
चित्र 25.26 शिरच्छेदित मेढक में प्रतिवर्ती-क्रिया का प्रदर्शन। बाईं ओर मेंढक की त्वचा पर तेजाब की एक बूँद डाली जा रही है। दाईं ओर इसकी अनुक्रिया (response) दिखाई गई है। आधार: सी० ग्रामेट एंड जे० माडेल, "बायोलोजी सर्विंग यू," प्रेन्टिस हाल, इंको०, इंगेलवुड क्लिफ्स, न्यू-जर्सी, 1958।

होती है, यानी वे इन ज्ञानेन्द्रियों से आवेग लेकर मस्तिष्क को पहुँचाती हैं। नेत्र-गोलक (eye ball) की पेशियों को जाने वाली तंत्रिकाएँ (III, V और VI) **प्रेरक तंत्रिकाएँ** (motor nerves) हैं जो मस्तिष्क से आदेश ग्रहण करके इन पेशियों तक पहुँचाती है और उन्हें गति देती है। बाकी सब मिश्रित तंत्रिकाएँ हैं, जिनके कार्य संवेदी भी हैं और प्रेरक भी।

मेरु-तंत्रिकाएँ (1-10) मेरु-रज्जु से चलकर कशेरुक-दंड में आती है और दो अगल-बगल के कशेरुकों के बीच की जगह में होकर निकल जाती है। मेरु-तंत्रिकाओं का पहला जोड़ा प्रेरक किस्म का होता है और बाकी सभी मेरु-तंत्रिकाएँ मिश्रित किस्म की होती हैं। इनमें से प्रत्येक तंत्रिका के दो मूल होते हैं—एक संवेदी पृष्ठ-मूल और दूसरा प्रेरक अधर-मूल (चित्र 25.25)।

जैसा कि चित्र 25.27 में दिखाया गया है, कशेरुक-दंड के दोनों ओर दो अनुकंपी तंत्रिका-रज्जु होते हैं। इन अनुकंपी तंत्रिका-रज्जुओं (sympathetic nerve cord) पर छोटी-छोटी उभरनों या **गुच्छिकाओं** (ganglia) की एक श्रृंखला होती है। इस श्रृंखला की प्रत्येक गुच्छिका एक योजी शाखा के द्वारा रीढ़ तंत्रिका से जुड़ी होती है। अनुकंपी तंत्रिकाएँ कपाल में प्रवेश करके कुछ कपाल तंत्रिकाओं से जुड़ जाती हैं। अनुकंपी तंत्रिकाओं की शाखाएँ हृदय, यकृत, उदर, वृक्क, जननांग,
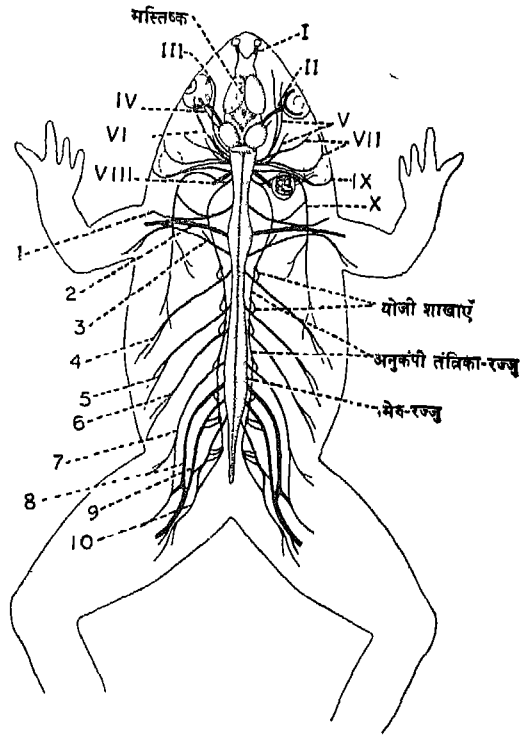
चित्र 25.27 कपाल-तंत्रिकाएँ (I—X) और मेरु-तंत्रिकाएँ (1.10) (पृष्ठ-तल से)।

मूत्राशय इत्यादि में जाती हैं और इन अंगों की अनैच्छिक क्रियाओं को नियंत्रित करती है ।

ज्ञानेन्द्रियाँ

मनुष्य की तरह मेंढक के भी पाँच विशेष ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। ये इन्द्रियाँ छूने (स्पर्श), सूँघने (घ्राण), चखने, देखने और सुनने की हैं । त्वचा, नाक, जीभ, आँख और कान की विशिष्ट संवेदी रचनाओं या ग्राहकों (receptors) को आवेग या उद्दीपन (यानी परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन) प्रभावित करते हैं । ये ग्राहक संवेदी तंत्रिकाओं से जुड़े रहते हैं और इस प्रकार तंत्रिका-आवेग केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र तक पहुँचा दिए जाते है ।

स्पर्श के अंग : त्वचा की सबसे ऊपरी परत चर्म (dermis) में स्पर्श के ग्राहक यानी स्पर्श-कोशिकाएँ (tactile cells) होती है । ये आमतौर पर समूहों मे होती है और इन समूहों को स्पर्श-कणिकाएँ (touch corpuscles) कहते है । ये समूह स्पर्श के प्रति अत्यंत संवेदनशील होते हैं। इसी तरह कुछ अन्य कणिकाएँ होती है जो रासायनिक उद्दीपनों के लिए, ताप में और नमी में होने वाले परिवर्तनों के लिए संवेदनशील होती हैं।

गंध के अंग : नाक के भीतर स्थित श्लेष्मल झिल्ली में घ्राणेन्द्रिय स्थित होती है। इस झिल्ली की कुछ एपिथीलियमी कोशिकाओं के खुले सिरों पर कुछ पतले-पतले प्रवर्ध (processes) होते हैं, जब कि उनके भीतरी सिरे घ्राण-तंत्रिका के तंतुओ से जुड़े होते हैं। एपिथीलियम की इन विशिष्ट कोशिकाओं को घ्राण-कोशिकाएँ कहते हैं। छोटे-छोटे गंधधारी कण जब नासाद्वारो में होकर नाक में प्रवेश करते हैं तो वे इन कोशिकाओ पर असर डालते है। कोशिकाएँ उस आवेग को मस्तिष्क तक पहुँचा देती हैं।

स्वाद के अंग : स्वाद पहचानने वाले अंगों को **स्वाद-कलिका** (taste buds) कहते हैं। ये स्वाद-कलिकाएँ जीभ पर की छोटी-छोटी उभरनों या पैपिलों (papillae) पर और तालू पर स्थित होती है। यहाँ उद्दीपन भोजन मे मौजूद रसायनों से मिलता है ।

देखने के अंग: मेंढक की प्रत्येक आँख की कुछ-कुछ गोल-सी रचना होती है, जो खोपड़ी में के नेत्र-कोटर (orbit) में स्थित होती है। इस नेत्र-कोटर में छः नेत्र-पेशियो द्वारा आँख को घुमाया, उभारा या दबाया जा सकता है। नेत्र-गोलक का बाहरी खुला हुआ भाग साफ और पारदर्शी होता है, जबकि अंदर छिपा हुआ भाग अपारदर्शी होता है । आँख को बनावट इसकी खड़ी काट (चित्र 25.28) से समझी जा सकती है। नेत्र
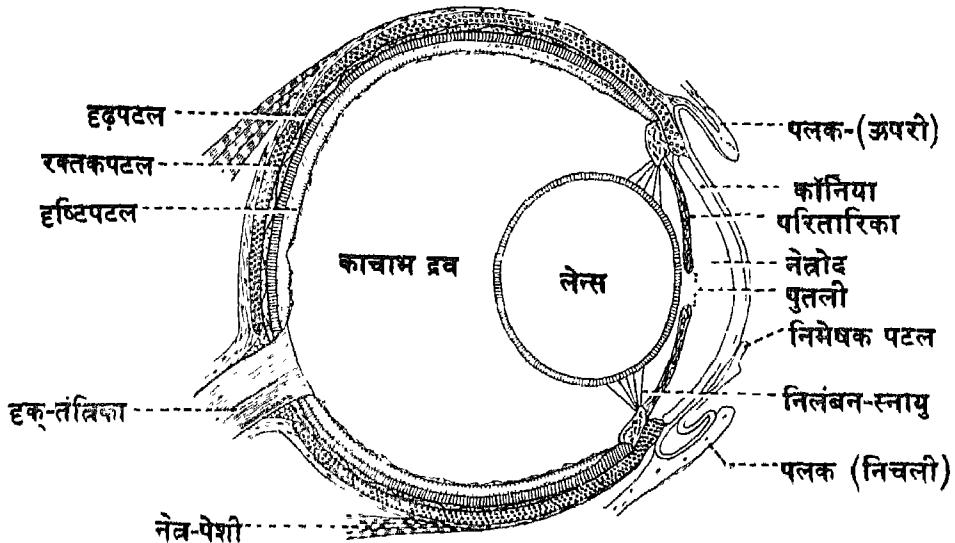
चित्र 25.28 आँख का खड़ा सेक्शन।

की भित्ति तीन परतों की बनी होती है। सबसे बाहरी सफेद-सी परत **दृढ़पटल** (sclerotic layer) है और यह मुख्यत: योजी ऊतक (connective tissue) की बनी होती है। बीच की परत **रक्तक पटल** (choroid layer) कहलाती है क्योंकि यह रुधिर बहुला होती है और इसलिए गहरे रंग की होती है। सबसे भीतरी परत **दृष्टिपटल या रेटिना** (retina) है जो संवेदी कोशिकाओं से बनती है। ये परतें बाहर की ओर कुछ-कुछ रूपांतरित होती है। दृढ़ पटल तो पारदर्शी **कॉर्निया** (cornea) के रूप मे जारी रहता है। और कॉर्निया पर त्वचा की पारदर्शी परत (**कंजंक्टाइवा**—conjunctiva) चढ़ी रहती है। रक्तक पटल, दृढ़ पटल से अलग होता है और लेन्स के सामने एक खड़ी चादर—**परितारिका** (iris) तान देता है। परितारिका अरीय पेशियों (radiating muscles) की बनी होती है और उसके केन्द्र में द्वार होता है जिसे तारा या **पुतली** (pupil) कहते है। इस पुतली को घटाया या बढ़ाया जा सकता है। परितारिका (iris) के ठीक पीछे **लेन्स** होता है जो काफी बड़ा, पारदर्शी और गोल होता है। नेत्र-गोलक से जुड़ी हुई **पक्ष्माभिक पेशियाँ** (ciliary muscles) लेन्स को अपनी जगह साधे रहती हैं।

लेन्स और उससे जुड़ी हुई रचनाएँ नेत्र-गोलक की आंतरिक गुहा को दो असमान कक्षो मे बाँट देती है: एक तो बाहरी कक्ष जिसमें साफ **जलीय तरल** (नेत्रोद—aqueous humour) भरा रहता है और एक भीतरी कक्ष जिसमें **काचाभ द्रव** (vitreous humour) भरा रहता है।

आँख का सबसे अधिक संवेदनशील भाग दृष्टिपटल या रेटिना होता है (चित्र 25.29)। इसकी भीतरी सतह तंत्रिका-ततुओं से ढँकी होती है, जो कि नेत्र-तारक के पीछे की ओर अभिसरित होकर दृक्-तंत्रिका (optic nerve) बनाती है। तंत्रिका-तंतुओं की परत के बाद संवेदी कोशिकाओं की कई परतें होती है। इसके बाद प्रकाश-संवेदी अंशों से बनी परत होती है जो **दंड** (rods) और **शंकु** (cones) नामक अति विशेषीकृत कोशिकाओं से बनी होती है। इस प्रकाश-संवेदी परत के बाद वर्णकित उपकला या पिगमेंटेड एपिथीलियम की परत होती है। जब प्रकाश की किरण नेत्र में प्रवेश करती है और दृष्टि-पटल (retina) पर गिरती हैं तो 'दंड' और 'शंकु'-कोशिकाएँ उद्दीपित हो जाती हैं और इस तरह संयोजित हुआ तत्रिका-आवेग संवेदी कोशिकाओ और तंत्रिका-तंतुओं में होता हुआ दृक्-तंत्रिका में पहुँचा दिया जाता है। दृक्-तंत्रिका निकलने की जगह पर दृष्टिपटल में 'दड' और 'शंकु' नहीं होते। इस स्थान को **अंध-बिन्दु** (blind spot) कहते हैं और प्रतिबिम्ब का जो भाग इस बिन्दु पर पड़ता है, उसका बोध नही हो पाता।
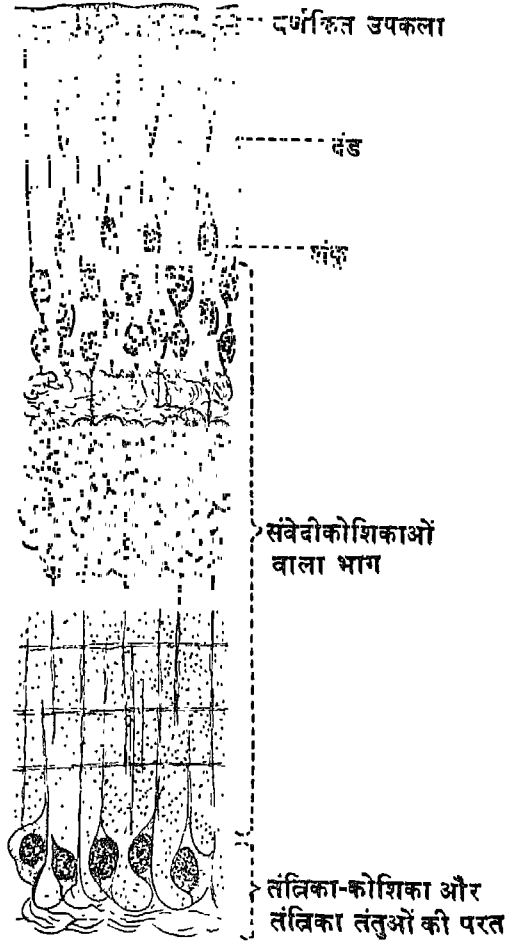
चित्र 25.29 रेटिना (दृष्टि पटल) की खड़ी काट। आधार: टी० जे० पार्कर; डब्ल्यू० एन० पार्कर; बी०एल० भाटिया एंड एम० ए० मोघे, "ऐन एलीमेंट्री टैक्स्टबुक ऑफ जूलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्ट्स", मैक्मिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन, 1957।

आँख की तुलना कुछ-कुछ कैमरे से की जा सकती है। बिम्ब (object) से आती हुई प्रकाश-किरणों को लेन्स और कॉर्निया अपवर्तित कर देते है और इससे दृष्टिपटल पर एक उल्टा प्रतिबिम्ब बनता है। दूर और पास के बिम्बों के अनुसार लेन्स आगे-पीछे खिसकता है और लेन्स की यह गति प्रतिवर्ती क्रिया (reflex action) से नियंत्रित होती है। मेढक अँधेरे में अधिक और तेज रोशनी में कम प्रकाश ग्रहण करने के लिए अपनी पुतली का आकार (प्रतिवर्ती क्रिया द्वारा) घटा या बढ़ा सकता है। दृष्टिपटल या रेटिना में उत्पन्न हुए आवेग दृक्-तंत्रिका (optic nerve) द्वारा मस्तिष्क को प्रेषित कर दिए जाते है। मेंढक निकट दृष्टि वाले (myopic) होते हैं (यानी वे केवल निकट की वस्तुओं को भली-भाँति देख सकते हैं) और उनकी दृष्टि एकनेत्रीय (monocular) होती है। परंतु फिर भी चलती-फिरती चीज़ों को वे बखूबी देख लेते हैं।

श्रवण और संतुलन के अंग : कर्णपटह अथवा कान के पर्दे की उपस्थिति के बारे में तुम पहले पढ़ चुके हो। इस के अंदर की तरफ एक खोखली गुहा होती है, जिसे कर्णपटह-कक्ष (tympanic chamber) कहते है। यह कर्णपटह-कक्ष **यूस्टेकी नलिका** (eustachian tube) के द्वारा ग्रसनी (pharynx) से जुड़ा रहता है (चित्र 25.30)। इस व्यवस्था से ऐसा होता है कि कर्णपटह के भीतरी और बाहरी, दोनों ओर वायु-दाब सम हो जाता है जिसके फलस्वरूप कर्णपटह कंपन करने लगता है।

कर्णपटह की भीतरी सतह पर एक अस्थिल दंड (**स्तंभिका**—columella) जुड़ा होता है। यह स्तभिका कर्णपटह-कक्ष तक पहुँची रहती है और इसका दूसरा सिरा **स्टैपीडियल प्लेट** (stapedial plate) नामक उपास्थिमय ग्रंथिका (cartilaginous nodule) में होकर श्रवण-कोश (auditory capsule) के छोटे अंडाकार छिद्र में जमा रहता है।

श्रवण-कोश में कोमल आंतर कर्ण (internal ear) होता है। इसका मुख्य भाग थैली सरीखा होता है। इस थैलीनुमा भाग पर एक दूसरे से समकोण बनाती हुई **अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ** (semicircular canals) लगी रहती हैं। इस आंतर कर्ण में एक तरल भरा
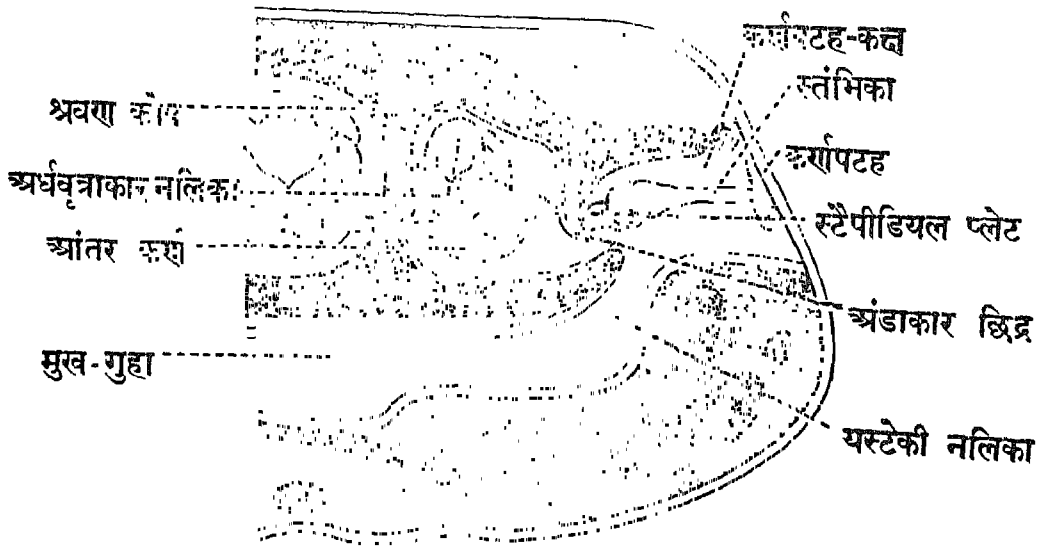
चित्र 25.30 कर्णपटह पर्दा (tympanic membrane) के स्तर पर सिर से होकर काटा गया अनुप्रस्थ सेक्शन। सेक्शन का केवल एक अर्धांश दिखाया गया है। आधार : टी० जे० पार्कर; डब्ल्यू० एन० पार्कर; बी० एल० भाटिया एंड एम० ए० मोघे, "ऐन एलीमैंट्री टैक्स्टबुक ऑफ जलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्ट्स," मैक्मिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन, 1957।

होता है जिसमें अनेक छोटे-छोटे कैल्सियमी कण तैरते रहते हैं। आंतर कर्ण के चारों ओर एक दूसरा तरल होता है जो धक्के और झटकों से इसकी रक्षा करता है।

मेंढकों की श्रवणेन्द्रिय सुविकसित होती है। कर्ण-पटह से टकरानेवाली ध्वनि-तरंगें इसमें कंपन पैदा कर देती है। ये कंपन स्तंभिका और स्टैपीडियल प्लेट के द्वारा अंदर के तरलों तक पहुँचते हैं, जहाँ ये अंततः तंत्रिका-आवेगों (nerve impulse) के रूप में संयोजित करके श्रवण-तंत्रिका (auditory nerve) द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचा दिए जाते हैं।

मेंढक शांत अवस्था में हो या उछल-कूद मचा रहा हो, इन दोनों ही (विश्राम और चलन) स्थितियो मे देह का संतुलन आंतर कर्ण द्वारा ही किया जाता है। आंतर कर्ण के अस्तर पर मौजूद संवेदी रोमों पर जैसी भी स्थिति हो उसके अनुसार तरल में उपस्थित कैल्सियमी कण दबाव डालते हैं। जब भी देह की स्थिति बदलती है तो तद्नुसार इन कणों पर पड़नेवाला खिंचाव भी बदलता है और इस बदली हुई स्थिति के अनुसार संवेदी रोमों पर डाले जाने वाला उद्दीपन भी बदल जाता है। इस तरह से जो भिन्न-भिन्न प्रकार के आवेग संयोजित होते हैं वे मस्तिष्क को पहुँचा दिए जाते हैं और इस तरह मेंढक अपनी देह को सामान्य स्थिति में समंजित कर लेता है। अर्धवृत्ताकार नलिकाओं में उपस्थित तरल संवेदी रोमों को सीधे-सीधे उद्दीपित करता है।

उत्सर्जन-तंत्र

सभी जंतुओं में देह-कोशिकाएँ कुछ वर्ज्य पदार्थ पैदा कर देती है, जिन्हें देह से वर्जित करना होता है। ये पदार्थ गैसीय हो सकते हैं, जैसे कि कार्बन-डाइऑक्साइड, या घुले हुए ठोस जैसे कि यूरिया। कार्बन-डाइऑक्साइड त्वचा, फेफड़ों और मुख-गुहा के अस्तर द्वारा निष्कासित की जाती है। जिगर या यकृत देह के विषैले नाइट्रोजनयुक्त ठोस वर्ज्य पदार्थों को (जो यकृत में रुधिर द्वारा पहुँचाए जाते हैं) सरल घुलनशील पदार्थों में बदल देता है, जैसे कि यूरिया में, जो कि विषैले नहीं होते। आखिर में ये पदार्थ गुर्दों या वृक्कों द्वारा मूत्र के रूप में बाहर निकाल दिए जाते हैं। वृक्क और उनसे संबंधित अंग अर्थात् दो मूत्रवाहिनियाँ (ureters), एक मूत्राशय (urinary bladder) और एक अवस्कर (cloaca) उत्सर्जन-तंत्र के प्रमुख अंग है (चित्र 25.32)।

वृक्क : लाली लिए बादामी रंग के लंबूतरे अंग हैं। इनका एक जोड़ा उदर-गुहा में स्थित होता है। प्रत्येक वृक्क के पीछे बाहरी सीमांत से एक नलिका निकलती है जिसे **मूत्रवाहिनी** कहते हैं। दोनों मूत्रवाहिनियाँ अवस्कर में खुलती हैं।
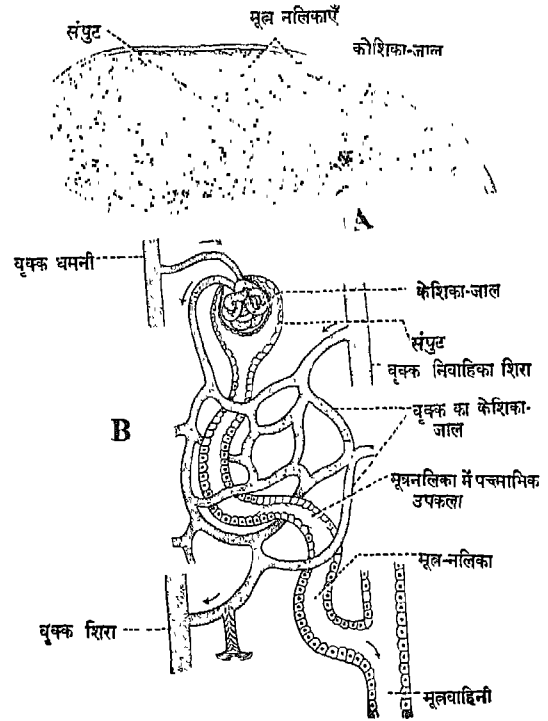
चित्र 25.31 A वृक्क का अनुप्रस्थ सेक्शन। उलझा हुआ झुंड मूत्र-नलिकाओं का है। एक वृक्क-नलिका और उसकी रुधिर केशिकाओं का रेखाचित्र। आधार : टी० जे० पार्कर; डब्ल्यू० एन० पार्कर; बी० एल० भाटिया एंड एम०ए० मोवे, "एन० एलीमेंट्री टैक्स्टबुक ऑफ जूलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्ट्स", मैकमिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन, 1957।

वृक्क अतिसूक्ष्म और मुड़ी हुई नलिकाओं (**मूत्र-नलिकाओं**—urinary tubules) तथा रुधिर-वाहिकाओं और रुधिर कोशिकाओं के जाल से बना एक जटिल पिंड होता है (चित्र 25.31 A)। मूत्र-नलिकाएँ

वृक्कों की कार्यात्मक इकाइयाँ हैं। एक मूत्र-नलिका की बनावट चित्र 25.31B में दिखाई गई है। नलिका का अस्तर पक्ष्माभिक एपिथीलियम (ciliated epithelium) का होता है। यूरिया, यूरिक एसिड और पोटेशियम, सोडियम, कैल्सियम तथा मैग्नीशियम के लवण जैसे घुलनशील वर्ज्य पदार्थ वृक्क-धमनियों द्वारा वृक्कों तक लाए जाते हैं। इन सभी वर्ज्य पदार्थों को रुधिर मे से निकालने के लिए रुधिर की छनाई का काम प्रत्येक मूत्र-नलिका के एक सिरे पर स्थित संपुट (capsule) में होता है। प्रोटीनो और लाल रुधिर कणिकाओं को छोड़कर रुधिर में मौजूद सभी पदार्थ छन जाते हैं। इनमें से शर्करा, सोडियम के लवण और प्लाज्मा जैसे उपयोगी पदार्थ केशिकाओं के जाल द्वारा फिर से अवशोषित कर लिए जाते हैं, जबकि बाकी वर्ज्य पदार्थ मूत्र-नलिका के मूत्र के रूप में बहकर बाहर निकल जाते हैं। पक्ष्माभिकाओं के लहराते रहने से मूत्र का प्रवाह बना रहता है। मूत्र मूत्राशय में इकट्ठा होता रहता है जो कुछ समय का अंतर देकर खाली होता रहता है। वर्ज्य पदार्थों के निष्कासन का महत्त्वपूर्ण कार्य करने के अलावा वृक्क मेंढक की देह में जल की मात्रा को नियमित करते है।
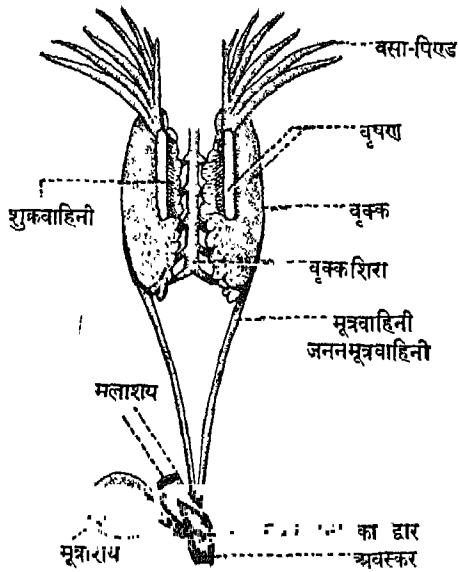
चित्र 25.32 नर मेंढक के जनन और उत्सर्जन-तंत्र।

जनन-तंत्र

नर जनन-तंत्र में एक जोड़ा वृषण (testes) और शुक्र ले जानेवाली अनेक वाहिनियाँ शामिल हैं (चित्र 25.32)। दोनों वृक्क और मूत्रवाहिनियाँ भी सहायक जननांगो के रूप में कार्य करते है। **वृषण** लंबूतरे हल्के-पीले पिंड होते हैं जो कि वृक्कों की अधर (ventral) सतह से जुड़े रहते है। प्रत्येक वृषण अनेक सूक्ष्म **शुक्रधारी नलिकाओं** (seminiferous tubules, चित्र 25.33A और B) से बना होता है। प्रत्येक नलिका की जनन-उपकला (germinal epithelium) से शुक्राणु के समूह पैदा होते हैं। परिपक्व होने पर ये शुक्राणु नलिकाओ के तरल में तैरने लगते हैं। प्रत्येक शुक्राणु में एक सिर (जो अधिकांश में केन्द्रक ही है) और (कोशिका द्रव्य की बनी) एक दुम होती है (चित्र 25.33C)। प्रत्येक वृषण से अनेक पतली-पतली वाहिनियाँ निकलती हैं जो कि शुक्रीय तरल को वृक्क में पहुँचाती है। शुक्रीय तरल फिर मूत्रवाहिनी (ureter) मे पहुँचता है (जिसे अब जननमूत्रवाहिनी—urinogenital duct) कहा जा सकता है, जहाँ से फिर यह विसर्जित हो जाता है। नर मेंढक के कोई मैथुनांग (copulatory organ) नहीं होता।

मादा जनन-अंग है अंडाशय और अंडवाहिनियों की एक-एक जोड़ी (चित्र 25.34 A)। **अंडाशय** बड़े और अनेक पालियो में बँटे अंग होते हैं, जो कि वृक्कों के अति निकट पृष्ठीय देह-भित्ति से जुड़े होते हैं। प्रजनन-काल में अंडाशय बड़े होकर उदर-गुहा का अधिकांश घेर लेते हैं। प्रत्येक अंडाशय की सतह पर अनेक गोल पिंड होते हैं, जिन्हें अंडाशय-पुटक (ovarian follicles) कहते हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक अंडाणु बंद रहता है (चित्र 25.34 B)। अंडाणु में एक केन्द्रक और पीतक कण (yoke granules) होते हैं (जो भ्रूण का पोषण करते हैं)। जब अंडाणु परिपक्व हो जाते हैं, तो वे अंडाशय की भित्ति फोड़कर देह-गुहा में गिर जाते हैं। धीरे-धीरे वे फेफड़ो के निकट स्थित **अंडवाहिनियों** (oviducts) के कीपों तक पहुँच जाते है। अंडवाहिनी के अत्यत घुमावदार भाग में से गुजरते हुए अंडाणु उसके आखिरी हिस्से **गर्भाशय** (uterus) में आकर एकत्र हो जाते हैं। अंडवाहिनी की भित्तियाँ ग्रंथिमय होती हैं
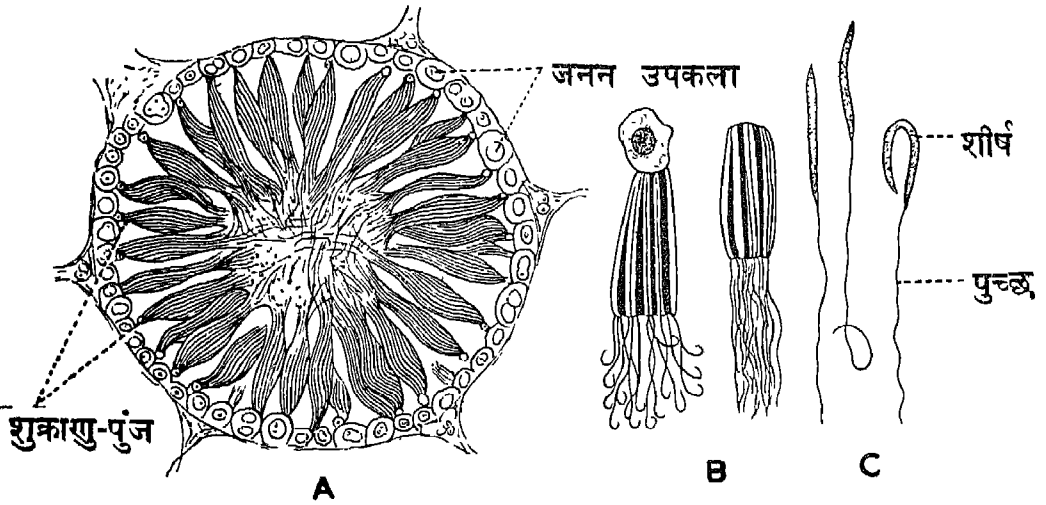
चित्र 25.33 वृषण की एक शुक्रधारी नलिका का आवर्धित अनुप्रस्थ सेक्शन। शुकाणु के परिवर्धन की अवस्थाएँ। आधार: टी० जे० पार्कर; डब्ल्यू० ऐन० पार्कर; बी० एल० भाटिया एंड एम० ऐ० मोघे, "ऐन० ऐलीमेंट्री टैक्स्टबुक ऑफ जूलोजी फॉर इंडियन स्टूडेंट्स", मैक्मिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन, 1957।
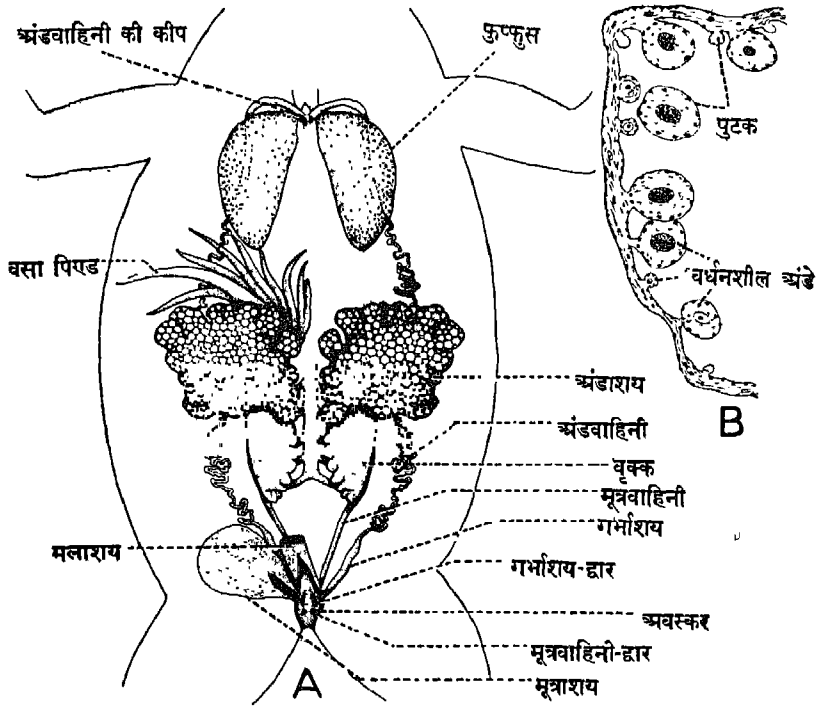
चित्र 25.34 (A) मादा मेंढक का जनन-तंत्र। वसा-पिंड केवल एक ओर ही दिखाए गए हैं। (B) अंडाशय का सेक्शन, जिसमें अंडाशय-पुटक (ovarion follicles) और वर्धनशील अंडे दिखाए गए हैं।

और एक तरह की जेली पैदा करती है जो प्रत्येक गुजरते हुए अंड से लिपट जाती है। दोनों ओर के गर्भाशिय अवस्कर में खुलते हैं।

जननांगों से ही जुड़े हुए पीले-से ऊतकों के गुच्छे होते हैं, जिन्हें **वसा-पिंडक** (fat bodies) कहते है। इन वसा-पिंडकों में वसा या चर्बी सगृहीत रहता है। जाडों में जब मेंढक निष्क्रिय पड़े रहते हैं (शीत-निष्क्रियता) तो इन्हीं वसा पिंडकों से पोषण प्राप्त होता है।

अंडजनन, निषेचन और परिवर्धन

प्रजनन-काल (बरसात) में मेंढक और मेंढकी बाहर निकल आते है। नर मेंढक मेंढकी की पीठ पर सवार हो जाता है और अग्रपादों के पीछे उसे मजबूती से जकड़ लेता है। इस प्रक्रम को **मैथुन** (copulation) कहते है। नर मेंढक के अग्रपादो में स्थित मैथुन-गद्दियाँ प्रजनन-काल मे खास तौर से फूल जाती हैं जिससे कि मेंढक की पकड़ मज़बूत रहे। फिर वह जोड़ा इसी हालत मे कई घंटों तक ही नहीं, वल्कि कई दिनो तक रह सकता है, जब तक कि मेंढकी अपने अवस्कर (cloaca) में से अंडों का झुंड (जलांडक—spawn) बाहर पानी मे नहीं निकाल देती। इसके साथ ही नर शुक्रद्रव (spermatic fluid) विमोचित करता है। अंडाणु (ova) के चारों ओर लाखों शुक्राणु फुर्ती से तैरते-फिरते है, पर अंततः एक अंडाणु में एक ही शुक्राणु प्रवेश कर पाता है। शुक्राणु की दुम बाहर रह जाती है और सिर अंडाणु के केन्द्रक से जा मिलता है। निषेचित अंडाणु युग्मनज (zygote) कहलाता है, यानी युग्मन से बना हुआ। इसीसे नए जीव की शुरूआत होती है।

जेली पानी सोख कर फूल जाती है। इस तरह उस जेली में लिपटे अंडों (युग्मनज) वाला वह पूरा जलांडक जल की सतह पर तैरने लगता है और फिर किसी निकट की वस्तु से चिपक जाता है जिससे कि अंडे बह न जाएँ। जेली अंडों को दूसरे जीवों से भी बचाती है, दूसरे जीव उसमें घुस नही पाते। जेली का स्वाद खराब होने के कारण अंडों को अन्य जलजीव नहीं खाते। जलांडक का हर अंडा अपने चारों ओर की जेली में मुक्त रूप से घूम सकता है। प्रत्येक अंडे का गहरा वर्णकयुक्त ऊपरी भाग (**सक्रिय ध्रुव**—animal pole) हमेशा ऊपर की ओर रहता है और सफेद-सा अर्द्धांश (**निष्क्रिय ध्रुव**—vegetal pole) नीचे की ओर रहता है (चित्र 25.35)।

निषेचन के दो-तीन घंटे बाद युग्मनज में विभाजन होने लगता है और कई विभाजनों के बाद वह कोशिकाओं की एक खोखली गेंद बन जाता है (चित्र 25.35)। यह खोखली गेंद भीतर को दबकर (अंतर्वलन—invagination) दो परत वाला प्याला बन जाती है। बाहरी कोशिका-परत एक्टोडर्म (ectoderm) और भीतरी एन्डोडर्म (endoderm) कहलाती है। फिर इन दोनों के बीच में एक तीसरी परत मेसोडर्म (mesoderm) बन जाती है। ये तीनो जनन-स्तर (germinal layer) देह के सभी अंगो को जन्म देते हैं। अब बढ़ता
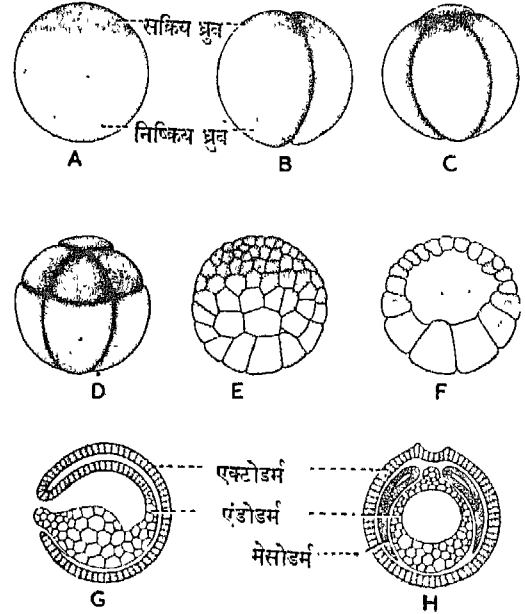
चित्र 25.35 मेंढक का आरंभिक परिवर्धन। A निषेचित अंड जिसमें सक्रिय ध्रुव (animal pole) और निष्क्रिय ध्रुव (vegetal pole) दिखाए गए हैं। B, C और D निषेचित अंड के विभाजन की क्रमशः दो, चार और आठ कोशिका वाली अवस्थाएँ। E और F कोशिकाओं का खोखला गोला पूर्ण और सेक्शन में। G दो परत वाली प्यालानुमा अवस्था का सेक्शन। H भ्रूण का सेक्शन जिसमें मेसोडर्म दिखाई दे रहा है।

हुआ मेंढक पूर्ण लंबूतरा होने लगता है। इसका अगला सिरा गोल होकर चूषक (sucker) बनाता है। पिछले सिरे पर दुम बनने लगती है। चूषक के ऊपर मुख बनने लगता है और दुम के नीचे अवस्कर-द्वार बनना शुरू हो जाता है। सिर के दोनों ओर गिलों के दो जोड़े बन जाते है। इन परिवर्तनों के बाद भ्रूण अब **बैंगची** (tadpole) का रूप धारण कर लेता है। बैंगची जेली में से बाहर आकर मछली की तरह तैरने लगती है और फिर किसी जलीय वनस्पति से चिपक जाती है, और उसका भक्षण करने लगती है।

बैंगची का कायांतरण : फुर्ती से तैरती हुई बैंगची वयस्क मेंढक से बनावट और व्यवहार दोनों में ही बिल्कुल भिन्न होती है। सच तो यह है कि जिसने जीव-विज्ञान नहीं पढ़ा उसे बड़ी मुश्किल से इस बात पर विश्वास आएगा कि बैंगची मेंढक का ही शिशु-रूप है। इस अपरिपक्व अवस्था को, जिसमे जीव चलता-फिरता है, खाता-पीता
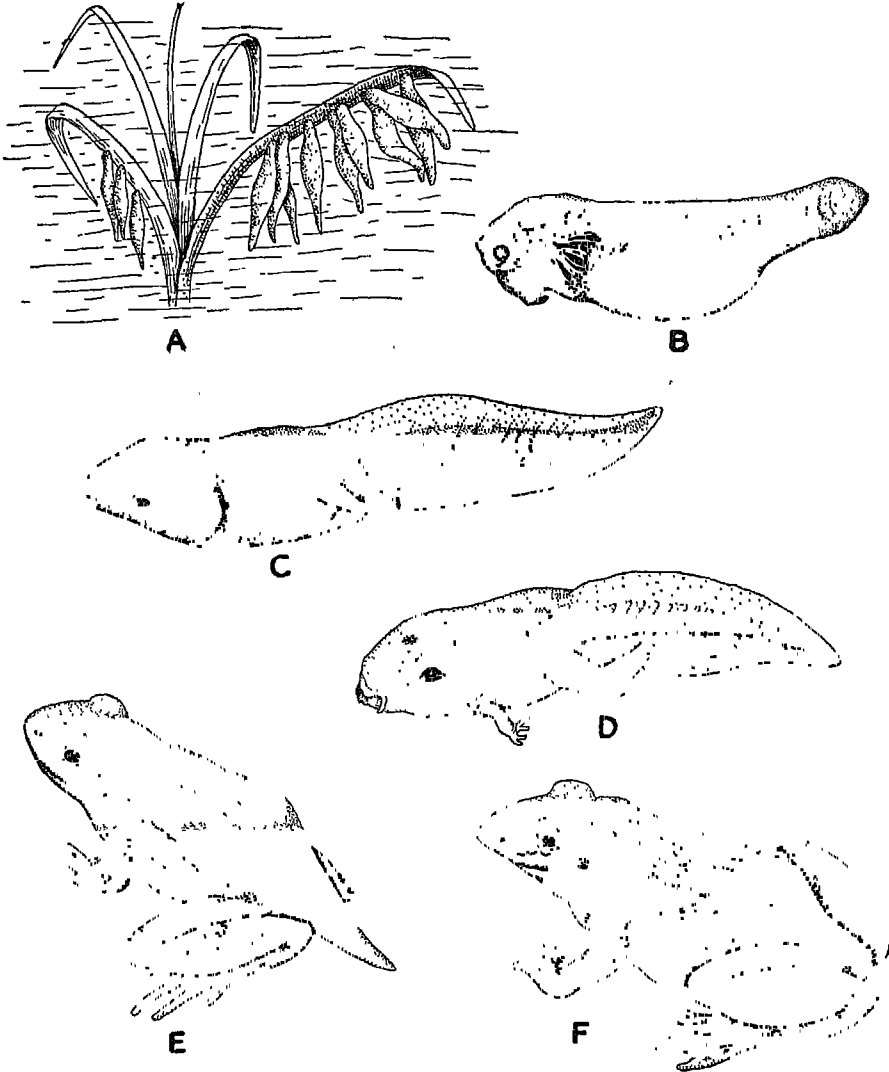
चित्र 25.36 बैंगची की अवस्था से शुरू करके वयस्क मेंढक बनने तक की अवस्था।

है, बढ़ता है लेकिन फिर भी वयस्क (adult) से काफी भिन्न होता है, **लार्वा-अवस्था** (larval stage) कहते हैं। वयस्क बनने के लिए किसी लार्वा में जो-जो परिवर्तन होते है, उनका सामूहिक नाम **कायांतरण** (metamorphosis) है।

दो सप्ताह की होने पर बैंगची में अनेक अद्भुत परिवर्तन होते हैं। यह आहार करना बंद कर देती है। मुँह पहले से चौड़ा हो जाता है और दाँत निकल आते है। गिल सूखकर नष्ट होने लगते है और अब मेंढक केवल फेफड़ो और त्वचा से साँस लेता है। दुम सिकुड़ने लगती है और बाकी देह के पोषण में काम आने लगती है (चित्र 25.36)। भरण (feeding) और पोषण फिर शुरू हो जाता है, पर इस बार शाकाहार की जगह मांसाहार होने लगता है। इस समय तक पाद (limbs) पूरी तरह परिवर्धित हो चुकते है। ये छोटे-छोटे मेंढक (जिनमें अब भी एक धीरे-धीरे खत्म होती हुई दुम का अवशिष्ट भाग लगा होता है) जल से बाहर निकल कर स्थल पर उछल-कूद मचाने लगते है। शिशु मेंढक से लेकर वयस्क तक पूरा परिवर्धन होने मे कोई तीन महीने लगते हैं।

ऊपर दिए हुए विवरण से तुम्हें पता लगा होगा कि बैंगची रचना और व्यवहार में बहुत कुछ मछली की तरह होती है। यह तथ्य इस धारणा का समर्थन करता है कि मेंढक मछली-जैसे पूर्वजों से विकसित हुआ है। दूसरे शब्दों मे कहे तो मेंढक का जीवन-वृत्त इसके विकासात्मक वृत्त की झलक दिखाता है। इस तरह की धारणा को पुनरावर्तन-सिद्धात (recapitulation theory) कहा गया है। इस पुस्तक के छठवे भाग में तुम पढ़ोगे कि उच्च श्रेणी के कशेरुकी प्राणियों, यहाँ तक कि मनुष्य मे भी परिवर्धन के दौरान कुछ मछली-जैसी अवस्थाएँ आती है।

सारांश

ऐम्फिबिया प्राणी अनियततापी कशेरुकी है, जिनमें से अधिकतर दुहरी जिदगी बिताते हैं—एक जल मे और दूसरी स्थल पर। अपने प्रारंभिक जीवन में वे मछली जैसे प्राणी होते है जिन्हें टैडपोल कहते हैं। टैडपोल या बैंगची पानी मे तैरते हैं और गिलों की सहायता से साँस लेते है। बाद के जीवन मे वे स्थल पर भी रह सकते हैं और फेफड़ो से साँस लेते हैं। मेंढक, भेक और सैलामैन्डर इस समूह के सामान्य उदाहरण है।

कशेरुकियों की देह की तफसील से जानकारी पाने के लिए मेंढक का अध्ययन किया जाता है। मेंढक कोमल चिकनी और धारारेखी देहवाला प्राणी है। इसमें असम पादो के दो जोड़े होते है और इसके नेत्र उभरे होते हैं। पश्चपाद जालयुक्त होते हैं। लचीली जीभ आगे की ओर से जुड़ी होती है और कीट पकड़ते समय बड़ी तेज़ी से बाहर फेंकी और अंदर सिकोड़ी जा सकती है।

मेंढक अपनी त्वचा, मुख-गुहा के अस्तर और फुप्फुस या फेफड़ों से श्वसन के अंगो का काम लेता है। नर मेंढक साँस के साथ बाहर निकलती हुई हवा का टर्राने के लिए उपयोग कर सकते हैं।

मेंढक का हृदय त्रिकक्षी होता है और उसके निलय में आक्सीजनित और विआक्सीजनित रुधिर का थोड़ा मिश्रण हो जाता है। रुधिर धमनियों द्वारा हृदय से निकलता है और शिराओं द्वारा वापस आ जाता है। देह के पिछले भाग से आनेवाला रुधिर सीधा नहीं, बल्कि घूमकर आता है और वृक्क-निवाहिका-उपतंत्र तथा यकृत-निवाहिका-उपतंत्र मे से गुजरता है।

दोनों वृक्क मुख्य उत्सर्जक अंग है। मूत्रवाहिनियाँ उनसे मूत्र एकत्र करके अवस्कर में खुलती हैं। मूत्रवाहिनियाँ शुक्राणु ले जाने का काम भी करती हैं।

मेंढक मे एक तो केन्द्रीय और दूसरा परिधीय तंत्रिका-तंत्र होता है, पर दोनों एक होकर कार्य करते हैं। केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र मे मस्तिष्क होता है जो मस्तिष्क-कोश मे सुरक्षित रहता है और रीढ़-रज्जु या मेरु-रज्जु होती है जो कि कशेरुक-दंड या मेरुदंड से बनी नली में रखी रहती हैं। परिधीय तंत्रिका-तंत्र में कपाल-तंत्रिकाओं के दस जोड़े होते हैं। ये तंत्रिकाएँ या तो संवेदी होती हैं, या प्रेरक या फिर मिश्रित; साथ ही दस जोड़े मेरु-तंत्रिकाएँ होती है जो सब-की-सब मिश्रित किस्म की होती हैं।

ज्ञानेन्द्रियों में सूँघने, देखने, सुनने, छूने और चखने तथा संतुलन के अंग शामिल किए जाते है । अनेक अंतः-स्रावी ग्रंथियाँ होती है जो अपने-अपने स्रावो द्वारा देह के विविध कार्यो का नियंत्रण करती हैं ।

अधिकांश अन्य जलस्थलियों की तरह मेंढक में भी मैथुन की क्रिया पानी मे होती है । इस क्रिया में मेंढकी के अवस्कर-द्वार से जेली मे लिपटे अंड-समूह झर पड़ते है । लगभग उसी समय नर मेंढक अंड-समूह के ऊपर शुक्रद्रव गिराता है और इसके बाद ही निषेचन संपन्न हो जाता है ।

निषेचित अंडे परिवर्धित होकर मछली-जैसी बैंगचियों का रूप धारण कर लेते हैं जो कि जलीय बनस्पतियों की नई पत्तियाँ खाकर निर्वाह करती है और गिलों से साँस लेती है। धीरे-धीरे बैंगची कायातरित होकर वयस्क मेंढक बन जाती है, जो फिर उछलकर स्थल पर पहुँच जाते हैं । कड़ाके की सर्दी में मेंढक भूमि में गहरे बिल बनाकर उनमें शीत निष्क्रियता का जीवन बिताते हैं ।

प्रश्न

1. मेंढक अपने शत्रुओ से किस तरह बचाव करता है ?
2. यदि मेंढकों की त्वचा पर शल्क (scales) बन गए तो क्या मेंढक घाटे में रहेगे ?
3. कंकाल-तंत्र के क्या कार्य है ? बाहरी कंकाल की तुलना मे क्या भीतरी कंकाल अधिक लाभदायक हैं ?
4. धमनियों और शिराओं में क्या-क्या भेद हैं ?
5. यकृती-निवाहिका-उपतंत्र (renal portal system) का क्या महत्त्व है ?
6. कान सुनने का भी काम करते हैं और संतुलन का भी; कैसे ?
7. मेंढक की बैंगची (tadpole) किन-किन बातो में मछली से मिलती है ? किन बातों में वह मछली से भिन्न है ?
8. लार्वा तथा कायांतरण (metamorphosis) शब्दों की व्याख्या करो ?
9. मेंढक उड़ते कीट को कैसे पकड़ता है ?
10. ऐम्फिविया प्राणी अपने अंडे हमेशा पानी में ही क्यों देते हैं ?
11. कुछ लोग य दावा करते है कि वे 'कीचड़' में से मेंढक पैदा करके दिखा देंगे । इन दावों के बारे में तुम्हारा क्या विचार है ? इन लोगों को तुम यह कैसे समझाओगे कि कीचड़ से मेंढक नहीं पैदा हो सकते ?
12. प्रतिवर्ती क्रिया (reflex action) क्या है ? इस क्रिया के तीन उदाहरण बताओ ।

अन्य पठनीय सामग्री

अज्ञात 1963; एम्फिबियस लाइफ स्टोरीज । **अंडरस्टैंडिंग साइंस,** भाग–6, अंक 70, पृ० 1116-1117 ।

फाक्सान, जी० ई० एच० 1952; दें मोड ऑफ ऐक्शन ऑफ दें हार्ट इन दी फ्रॉग । **न्यू बायोलोजी**, अंक 12, पृ० 113-126 ।

मैथ्यूज, एच० 1954; हाइबरनेशन ऑफ एनीमल्स । **डिस्कवरी,** भाग 15, पृ० 437-442 ।

पार्कर, टी० जे०; पार्कर, डब्ल्यू० एन०; भाटिया, बी० एल० और मोघे, एम० ए० 1957; **एन एलीमेन्ट्री टैक्स्ट-बुक ऑफ जूलोजी फॉर इंडियन स्टूडेन्ट्स** । मेक्मिलन एंड कंपनी, लि०, लंदन ।

26

सरीसृप—रेंगने वाले शल्की कशेरुकी

सरीसृप अनियततापी कशेरुकी हैं जिनकी देह आमतौर पर लंबूतरी और नाटी होती है जो जमीन पर रपटती या रेंगती चलती है। इस तरह के बहुत से जंतु तुमने अवश्य देखे होंगे, जैसे कि छिपकली तथा अन्य गोधिकाएँ (lizards) सर्प, अजगर, कछुए और घड़ियाल। इनमें से कई तो बड़े डरावने लगते हैं और कुछ वास्तव में बड़े जहरीले और खतरनाक होते हैं। इस समय सरीसृपों की लगभग 4000 भिन्न स्पीशीज पाई जाती हैं और इससे भी बड़ी संख्या में ये जंतु 20 करोड़ वर्ष पहले रहे थे। उस युग को ही सरीसृप-युग कहते हैं, जब विशालकाय डाइनौसॉर थल पर विचरते और जल में तैरते-फिरते थे, इनमें से कुछ तो आज के हाथी से भी कई गुना बड़े थे। आजकल सबसे बड़े सरीसृपों में इंडोनेशिया की कोमोदी ड्रेगन नामक गोधिका, घड़ियालों, ऐलीगेटरों, अजगरो और महाकाय कछुओं की गिनती होती है।

सामान्य लक्षण

सरीसृपो को अन्य कशेरुकियों से अलग पहचानना बडा आसान है। उनकी त्वचा शुष्क होती है और शल्को (scale) से ढॅकी रहती है। ये शल्क प्रायः केंचुली के रूप मे ज्यों-के त्यों उतर आते हैं जैसे कि सर्पो और गोधिकाओं मे। हाथ-पॉव में नखर (claw) भी होते है। हृदय का निलय (ventricle) एक अपूर्ण पट द्वारा आंशिक रूप से दो भागों में बॅटा रहता है पर घड़ियालों पर यह विभाजन पूर्ण होता है। शिशु-सरीसृपों में फेंफड़े सुविकसित होते हैं (यहाँ लार्वा अवस्था नहीं होती) और सरीसृप कभी गिलों से साँस नहीं लेते। यदि तुम सरीसृपों के दैहिक लक्षणों की जलस्थलचरों (amphibians) से तुलना करो तो देखोगे कि सरीसृप स्थलीय जीवन के लिए अधिक उपयुक्त हैं।

सरीसृपों के कई समूह हैं। इनमें चार समूह आज वर्तमान हैं। ये समूह हैं--गोधिका और सर्प, कछुए, घड़ियाल और तुआटारा। अतीत के सरीसृपों में डाइनौसॉर सबसे रोचक थे।

गोधिका और सर्प

उष्ण जलवायु में गोधिका सभी जगह पाई जाती है। दीवारों पर दौड़ती घरेलू छिपकली को सभी पहचानते हैं। इसकी पादांगुलियों में प्याले की शक्ल की जगह मे वकुअम या निर्वात बन सकता है, जिसकी वजह से यह बड़ी आसानी से छत पर या दीवार से चिपक जाती है। तुमने किसी छिपकली की दुम टूटते हुए जरूर देखी होगी और देखा होगा कि किस तरह वह टूटी हुई दुम थोड़ी देर तक ऐंठती रहती है। इस दुम का अपने-आप टूटना असल में दुश्मन से बचाव की एक तरकीब है, जिससे कि पीछा करते शत्रु का ध्यान दुम के टूटे भाग में बॅंट जाता है और तब तक छिपकली भाग जाती है। टूटे सिरे से फिर नई दुम उग आती है। इस प्रक्रम को **पुनरुद्भवन** (regeneration) कहते हैं। फिर से उपजी इस दुम में, टूटे सिरे की आखिरी कशेरुक से बढ़कर बना सिर्फ एक दंड-सरीखा लंबा भाग होता है।

गिला मोन्स्टर

गोह

उड़न छिपकली
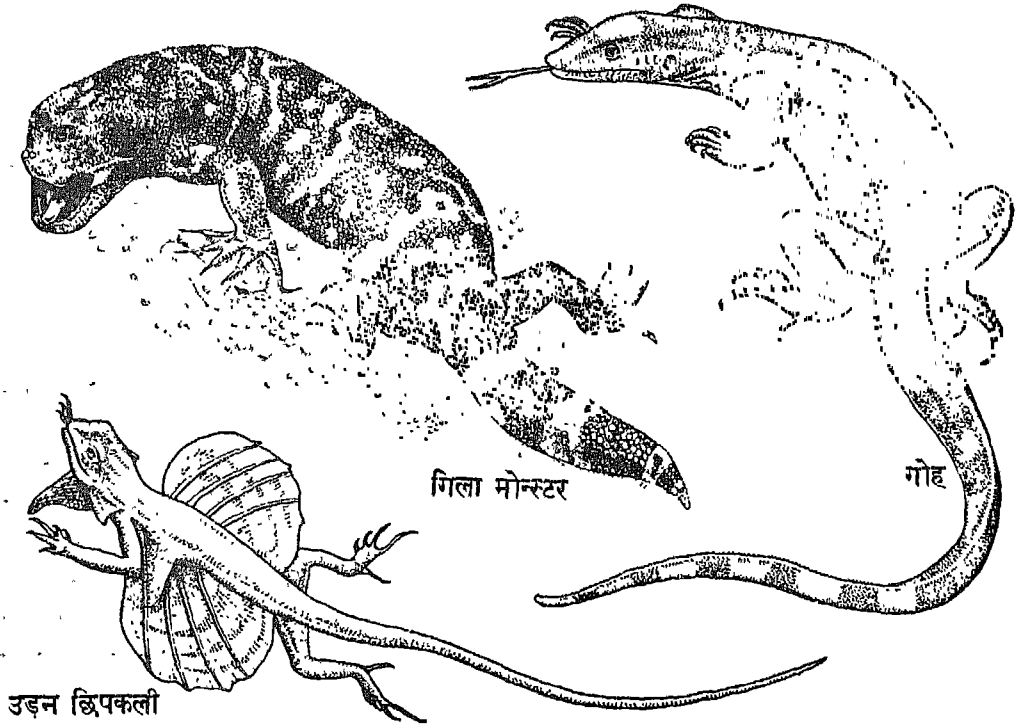
चित्र 26.1 कुछ सामान्य गोधिकाएँ, इनमें से केवल गिला मोन्स्टर ही जहरीला है। आधार : जे० जेड० यंग, "दी लाइफ ऑफ वर्टीब्रटस", क्लेरेन्डन प्रेस, लंदन, 1950।

दूसरी सामान्य गोधिकाएँ ये हैं, मौनीटर (गोह) उड़न-गोधिका, गिला मोन्स्टर (चित्र 26.1) और गिरगिट चित्र (26.2)। जैसा कि तुम जानते होगे गिरगिट अपने आसपास की चीजों-जैसा ही अपना रंग बदल लेने के लिए प्रसिद्ध है। इसके मुँह में एक लंबी जीभ होती है, जिसे बाहर की ओर फेंककर यह शिकार पकड़ता है और इसकी दुम भी काफी लंबी और मजबूत होती है, जिससे यह टहनियों को लपेटकर पकड़ लेता है। उड़न-गोधिका की देह के पार्श्वभाग बढ़कर पतले पंख-सरीखे बन जाते हैं जिन्हें लंबी पसलियाँ सहारा देती हैं। इनकी सहायता से उड़न-गोधिकाएं हवा में उड़ती हुई एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर पहुँच जाती ह।

चित्र 26.2 गिरगिट—एक और सुपरिचित गोधिका जो चमकीले रंग बदलने के लिए मशहूर है। अपनी लंबी जीभ से यह बड़ी सफाई से कीट पकड़ लेता है।

लगभग सभी गोधिकाएँ निर्विष होती ह। अक्सर लोग छिपकली को जहरीला समझते हैं, पर यह धारणा

गलत है। सिर्फ दो गोधिकाएँ जहरीली होती हैं: एक तो गिला मोन्स्टर और दूसरी इसकी एक निकट संबंधिनी जो कि उत्तरी अमेरिका मे पाई जाती है। इनमे एक विष-ग्रंथि होती है और शिकार की देह में जहर पहुँचाने के लिए खाँचदार दाँत होते हैं। इनके काटने से आदमी मर सकता है।

कुछ गोधिकाओं के टाँगें नही होतीं, इसलिए वे साँप-जैसी लगती हैं पर कर्ण-द्वार और झपकने वाली पलकों के द्वारा उन्हें आसानी से साँपों से अलग पहचाना जा सकता है (चित्र 26.3)।

चित्र 26.3 पादहीन गोधिका। पाद न होने से यह कृमि-जैसी लगती है।

साँप वह सरीसृप जंतु है, जिनके हाथ-पाँव पूरी तरह विलीन हो चुके हैं। ये अपनी देह को एक ओर से दूसरी ओर सिकोड़ते हुए और अक्सर किसी खुरदरी सतह के सहारे-धक्का देते हुए रेंगते हैं। उदर पर स्थित चौड़े शल्क और मजबूत पेशियाँ गति मे सहायक होती हैं। साँपों की पलकें नहीं होतीं, पर दोनों आँखें एक पारदर्शी झिल्ली से ढँकी रहती है। कान में कोई बाहरी द्वार नहीं होता और आंतरिक कर्ण खोपड़ी में धँसा हुआ होता है। यही कारण है कि साँप हवा से आती आवाजें नहीं सुन सकते लेकिन धरती पर होने वाले कंपनों को वे खोपड़ी की हड्डियों के माध्यम से आंतरिक कर्ण-द्वार ग्रहण कर सकते हैं। सँपेरे की बीन के संगीत से नाग का तो कम, पर दर्शकों का ज्यादा मनोरंजन होता है। क्योंकि नाग तो बहरा होता है (चित्र 26.4)। जहाँ तक फन हिलाकर झूमने

चित्र 26.4 सँपेरा। उसकी बीन की तान सुनकर नाग झूमने लगता है, यह विचार गलत है; क्योंकि साँप बहरे होते हैं।

का सवाल है, वह तो सँपेरे द्वारा बीन को हिलाए जाने का जवाब है

हाँ, साँपों में सूँघने की बड़ी भारी क्षमता होती है। क्या तुमने कभी किसी साँप की बीच से दो हिस्सों में बँटी लपलपाती जीभ देखी है ? वह बार-बार उसको लपलपाता है और इस क्रिया से वह जीभ द्वारा गंधवाही कणों को मुख के भीतर तालू में स्थित विशेष घ्राणेन्द्रिय तक ले जाता है और इस प्रकार से अपने आसपास की चीजें सूँघ लेता है।

सर्प अधिकतर कीड़े-मकोड़े, मेंढक, भेंक, छिपकली, गिलहरी, चिड़ियों के बच्चे और अन्य जंतुओं का शिकार करके अपना पेट भरते है। ये अपने शिकार को जिन्दा पकड़कर बिना चबाए साबुत ही निगल जाते हैं। जबड़ों की लौच के कारण सामान्यतया साँप अपने मुख के व्यास से भी बड़े शिकार निगल जाते है। दाँतों का काम यही होता है कि एक बार मुख में भीतर लेने के बाद शिकार को बाहर न खिसकने दें। जहरीले दाँत या **विषदंत** (fang) खास तौर से बने लंबे दाँत होते हैं, जिनमें बनी खाँच के द्वारा जहर शिकार की देह में पहुँचाया जाता है (चित्र 26.5)। विषदंत और विष-ग्रंथि साँपों की कुछ किस्मों में ही पाई जाती हैं।

यो तो साँप सारी दुनिया मे पाए जाते है, पर वे उष्ण कटिबंध में अधिक व्यापक हैं। ज्यादातर सर्प स्थलवासी हैं और जमीन मे बिल बनाकर रहते हैं। कुछ
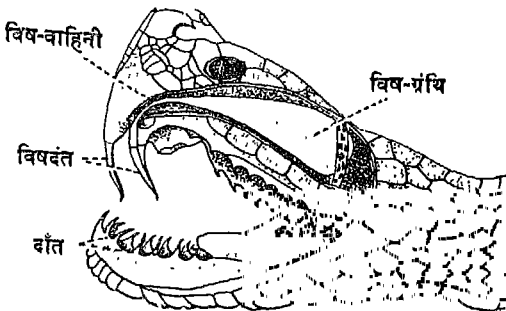
चित्र 26.5 एक सामान्य सर्प की विष-ग्रंथि, विषदंत और साधारण दाँत। आधार : ई० क्रोबर, डब्ल्यू० एच० वुल्फ एंड आर० एल० वीवर, "बायोलोजी", डी० सी० हीथ एंड कंपनी, बोस्टन. 1960।

अलवण जल (fresh water) में रहते है, और कुछ सागर में। अलवण जल के साँप निर्विष होते हैं पर समुद्र के साँप बड़े जहरीले होते हैं। समुद्री साँप को इसकी अगल-बगल से दबी दुम के द्वारा पहचाना जा सकता है (चित्र 26.6)।

अधिकतर सर्प निर्विष होते हैं और उनसे कोई हानि नहीं पहुँचती। निर्विष साँपों में 'धामन' बहुत आम है (चित्र 26.6)। 'धामन' और इसके अलावा दूसरे कई विषैले साँप और अजगर इस माने में हमारी बड़ी सेवा करते हैं कि वे अनेक हानिकर और नाशक जीवों (पैस्टों) को खा जाते हैं, जैसे कि फसल नष्ट करने वाले चूहे, खरगोश तथा अन्य जीवों को। कुछ अजगर काफी लंबे होते है, और लंबाई में 10 मीटर के बराबर हो जाते हैं। इनकी संदर चितकबरी खाल स्त्रियो के पर्स और सैंडिल बनाने के काम आती है। जिसे दो मुँहवाला साँप या 'दुमुँही' कहते हैं, वह एक छोटा अजगर ही होता है। इसकी मुड़ी दुम ही असल में दूसरे सिर जैसी लगती है। अजगरों में अवशेष रूप श्रोणि-मेखला (hip girdle) होती है।

जहरीले साँपों में नाग, करायत और रसेल्स वाइपर (फुरसा) भारत में अधिक पाए जाते हैं। नाग की पहचान उसके फन से होती है। नाग की यों तो बहुत-सी जातियाँ हैं, पर उनमें से नागराज या किंग कोबरा सबसे ज्यादा विषैला है। यह बंगाल, बिहार और उड़ीसा के कुछ हिस्सों में पाया जाता है। करायत साँपों की देह पर काली और पीली चित्ताकर्षक धारियाँ होती है (चित्र 26.6)। फुरसा साँपों के फन में गर्दन के पास दोनों ओर काफी बड़ी थैलियाँ होती हैं। साँपों का विष लार का ही एक बदला हुआ रूप होता है। यह जहर या तो तंत्रिका-तंत्र पर असर डालता है (जैसे कि नाग में) या रुधिर-तंत्र पर (जैसे कि फुरसा मे)। हिसाब लगाने पर पता चला है कि भारत में कोई 5000 व्यक्ति प्रतिवर्ष नाग के काटने से मर जाते हैं। किसी को साँप काट ले तो प्राथमिक चिकित्सा (काटे की जगह घाव करके जहर चूसना, पोटाशियम परमैगनेट यानी लाल दवा लगाना और टूर्नीकेट बाँधना) के बाद कोई प्रतिविष इंजेक्शन लगाना सबसे अच्छा उपचार है। प्रतिविष या एंटीवेनिन एक जैव औषधि है, जो कि प्रतिरक्षित (immunized) घोड़ों के रुधिर से प्राप्त की जाती है। भारत में यह दवा मुख्यतः कसौली
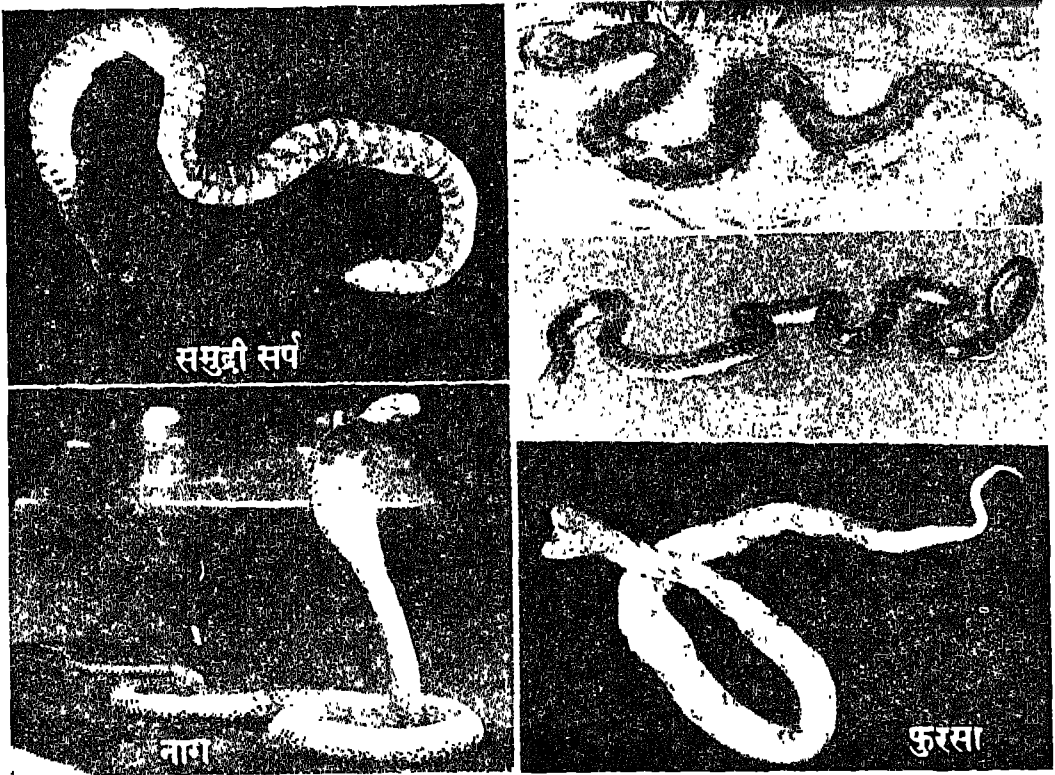
चित्र 26.6 साँपों की कुछ किस्में। समुद्री सर्प, नाग (कोबरा), करैत और फ़ुरसा (वाइपर) जहरीले हैं।

(शिमला पहाड़ी) और हॉफकिन इंस्टीट्यूट, बंबई में बनाई जाती है।

कछुए

कछुओं (चित्र 26.7) की देह पर रक्षा के लिए एक अस्थि-कवच विकसित हो गया है। इस मजबूत कवच या खोल में कछुआ अपना सिर, गर्दन और हाथ-पाँव सिकोड़ लेता है। कछुओं के दाँत नहीं होते, पर एक मजबूत शृंगीय चंचु होती है। ये स्थल और अलवण जल में निवास करते हैं और इनके पादों की रचना बड़ी सरल होती है, जिनके सहारे ये जमीन पर चल सकते हैं। कुछ अलवणजलीय कछुए उदरपूर्ति के काम भी आते हैं और उन्हें 'टैरापिन' के नाम से बेचा जाता है। जिन्हें अंग्रेजी में टर्टल कहते हैं, वे असल में समुद्री कछुए हैं। नके अग्रपाद (forelimb) और पश्चपाद (hindlimb) झिल्लीदार होते हैं जिससे कि

चित्र 26.7 कछुआ। अस्थिल पट्टियों से बनी कवचनुमा पीठ में यह प्राणी सुरक्षित रहता है। विश्वास है कि इसकी आयु सभी प्राणियों से लंबी होती है।

तैरने में बड़ी मदद मिलती है। जलीय कछुए अपने अंडे बालुई तटों पर देते है। अंडे काफी बड़े होते है और उनके कैल्सियमी खोल मुर्गी और बत्तख के अंडों से मिलते-जुलते हैं।

मगर-मच्छ

मगर-मच्छ बहुत बड़े सरीसृप हैं (चित्र 26.8) हालाँकि शक्ल में गोधिका जैसे ही होते है। इनकी चमड़े-जैसी खाल बड़ी मजबूत होती है और उसमें अस्थिल पट्टिकाएँ होती हैं। जबड़े लंबी थूथन के रूप में आगे निकले रहते हैं। भारतीय घड़ियाल में थूथन लबी, संकरी और तलवार-नुमा होती है। घड़ियाल की एक स्पीशीज़ गंगा नदी में पाई जाती है।

अमरीकी ऐलीगेटर और भी बड़े होते हैं और उनकी थूथन गोल होती है; जबकि सामान्य घड़ियालो की थूथन नुकीली होती है और उनके ऊपरी जबड़े में एक छोटी खाँच होती है। घड़ियालो और ऐलीगेटरों की चमड़ी की बड़ी माँग है, क्योंकि उससे पर्स, सूटकेस, जूते और दूसरी बहुत-सी चीजे बनाई जाती हैं।

सभी मगर-मच्छ मांसाहारी होते है। कभी-कभी ऐलीगेटर और सामान्य मगर-मच्छ आदमी पर भी हमला कर देते है। यों मगर-मच्छो का आम भोजन मछलियाँ ही हैं।

घडियालों के हृदय में चार कोष्ठ होने है और निलय (ventricle) पूर्णत: द्विभाजित होता है। इस विशेषता के कारण सभी सरीसृपों मे घड़ियाल सबसे अधिक
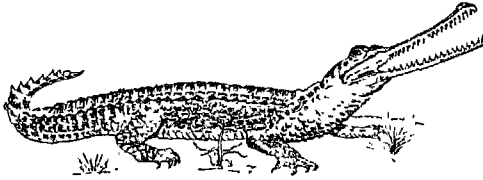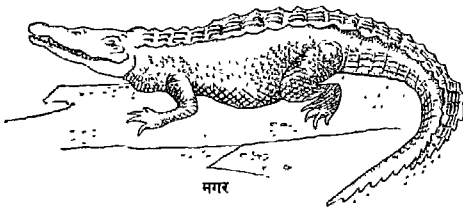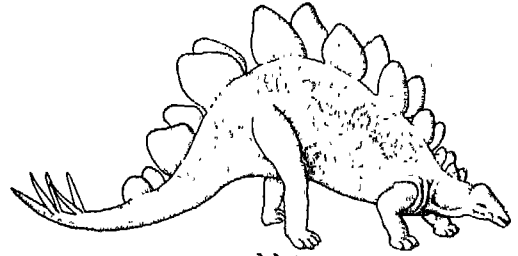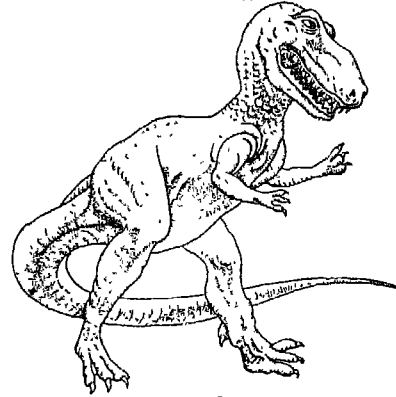
चित्र 26.8 मगर-मच्छ। एक बार में ये लगभग 50 तक अंडे नदी तट पर देते हैं और फिर उन्हें कीचड़ और पत्तियों के ढेर से ढक देते हैं। जब अंडों से बच्चे निकल आते हैं तो मादा वह ढेर हटा देती है। विविध स्रोतों से।

चित्र 26.9 अतीत के महाकाय सरीसृप-दो डाइनोसॉर। स्टेगोसारस, शाकाहारी सरीसृप था जो शृंगीय चंचु, रक्षक शूल, पट्टिकाओं और शृंगों से सज्जित था। टाइरेनोसारस—यह भयानक मांसाहारी डाइनोसॉर छह-छह मीटर लंबा हो सकता था। आधार: जे० फिशर, जे० हक्सले, जी० बेरी एंड जे० ब्रोनोव्स्की, "नेचर", रैथबोन बुक्स लिमिटेड, लंदन, 1960 और डब्ल्यू० एफ० पाली, "दी वर्ल्ड ऑफ लाइफ: ए जनरल बायोलोजी", हाफ्टन मिफिलन कंपनी, बोस्टन, 1949।

प्रगत हैं, क्योंकि उनमें आक्सीजनित (oxygenated) और विआक्सीजनित रुधिर अलग-अलग रहता है।

तुआतारा

तुआतारा या **स्फीनोडौन** (sphenodon) बडा ही अजीब, छिपकली-सा जीव होता है जो कि आजकल सिर्फ न्यूजीलैंड के निकट स्थित कुछ द्वीपों में ही पाया जाता है। यह प्राचीन सरीसृप डाइनोसॉर से भी अधिक पुराना माना जाता है। ये प्राणी बड़ी तेजी से घटते जा रहे हैं और ऐसी आशंका है कि कहीं बिलकुल लुप्त ही न हो जाएँ। यह लगभग 0·7 मीटर लंबा होता है और इसके सिर के ठीक ऊपर बीच में तीसरी आँख होती है।

अतीत के महाकाय सरीसृप—डाइनोसॉर

डाइनोसॉर शब्द का अर्थ है—भयानक गिरगिट, और अनेक डाइनोसॉर वास्तव में ही बड़े भयानक थे। ये प्राणी आज से कोई 10-15 करोड़ वर्ष पहले इस पृथ्वी पर विद्यमान थे और अपना अधिकतर समय पानी के भीतर बिताते थे। उस समय आदमी मौजूद नहीं था, यदि होता तो उन महाकाय डाइनोसॉरों के सामने खिलौना-सा ही लगता। इनमें से बहुत से जलीय पौधे खाकर गुजारा करते थे और दिन भर में कोई 200 किलोग्राम पौधे खा जाते थे। उन दिनों कुछ मांसाहारी महाकाय प्राणी भी थे, जैसे कि खूंखार **टाइरैनोसॉरस** (Tyrannosaurus) जो कि डाइनोसॉरों का राजा माना जाता है (चित्र 26.9)।

सारांश

सरीसृपों में गोधिकाएँ सर्प, कछुए, ऐलीगेटर और मगर-मच्छ आते हैं। सिर्फ साँप पादविहीन होते हैं, और सबके नखरित पाद होते हैं। सभी सरीसृपों में सूखी, शल्की त्वचा होती है, और वे फेफड़ो से साँस लेते हैं। सरीसृपों के अंडे बड़े होते हैं और खोल में बंद होते हैं। सरीसृपों के हृदय का निलय पूरी तरह विभाजित नहीं होता, केवल मगर-मच्छों में विभाजन पूर्ण होता है। डाइनौसॉर नामक सरीसृप सुदूर अतीत में रहे थे। उनमें से अनेक महाकाय थे। न्यूजीलैंड का तुआतारा सरीसृपों के अति प्राचीन वंश का जीवित अवशेष है।

प्रश्न

1. आज की दुनिया में सरीसृपों के कौन-से चार प्रमुख समूह पाए जाते हैं?
2. वे कौन से तथ्य हैं जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि सरीसृप मूलतः स्थलीय जीवन के लिए अधिक उपयुक्त हैं?
3. भारत के आम जहरीले साँपों के नाम बताओ। निर्विष और विषैले साँप में कैसे भेद किया जाता है?
4. जीवविज्ञानी घड़ियाल के हृदय को प्रगत किस्म का क्यों मानते हैं?
5. अपने क्षेत्र के कुछ परिचित गोधिकाओं के नाम गिनाओ?
6. साँप और कृमि बड़े समान लगते हैं फिर जीवविज्ञानी इन्हें अलग-अलग समूहो में क्यों रखते हैं?
7. एक ऐसी प्रयोग-विधि बताओ, जिसके द्वारा इस आम धारणा को सही या गलत सिद्ध किया जा सके कि साँप सँपेरे की बीन सुनकर झूम उठते हैं।
8. साँप के काटने के सामान्य प्राथमिक उपचार क्या हैं?
9. तुम किसी गोधिका (lizard) और सैलामैन्डर (salamander) में किस तरह भेद करोगे?

अन्य पठनीय सामग्री

अज्ञात 1963; फीडिंग इन स्नेक्स। **अंडरस्टैंडिंग साइंस,** भाग 6, अंक 71 पृ० 1136।

बेलीस ई० ई० एंड बर्नेट आर० डब्ल्यू० 1946; **बायोलोजी फॉर बैटर लिविंग।** सिल्वर बर्डट कं०, न्यूयार्क।

घारपुरे के० जी० 1954; **दि स्नेक्स ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान।** दि पापुलर बुक डिपो, बंबई।

हैन्सन, ई० डी० 1961; **ऐनिमल डाइवर्सिटी।** फाउंडेशन आफ मॉडर्न बायोलोजी सीरीज, प्रेंटिस हाल, इंको० एन्गेलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी। (इसका हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है)

जंतु-विविधता (अनु० डा० हरसरन सिंह विशनोई)। यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, रामनगर, नई दिल्ली।

27

पक्षी-परों वाले कशेरुकी

जंतुओं में पक्षियों को पहचानना सबसे सरल है। इनकी देह पर, पिच्छ या पर लगे होते है और वे उड़ने के लिए अनुकूलित होते है। इनके अग्रपाद पंखों में रूपांतरित हो जाते है। लेकिन कुछ पक्षी ऐसे भी है जो आंशिक रूप से या पूरी तरह उड़ने की क्षमता खो चुके हैं। शुतुरमुर्ग और कीवी तो जमीन पर चल ही सकते हैं।

सामान्य लक्षण

चाहे कहीं रहते हों, कुछ भी खाते हों, संसार के सारे पक्षियो में अनेक समान लक्षण होते हैं, जो इस प्रकार हैं।

पूरी देह पिच्छो से ढकी होती है (चित्र 27.1)। लंबे **पंख-पिच्छ** (quill feathers) केवल पंख और पूंछ में होते हैं और उड़ने में सहायता करते है। बाकी हिस्से में **देह-पिच्छ** (contour feathers) होते है जो देह को गर्म बनाए रखते है। अधिकांश पक्षियो के पंख सुंदर और रंग-बिरंगे होते है।

सिर आगे चोंच के रूप में लंबा हो गया है। उदाहरण के लिए कबूतर के मुख में दाँत नहीं होते, बस एक शृंगिल चंचु (horny beak) होती है। भिन्न पक्षियों में चंचु की आकृति और आकार भिन्न होते हैं (चित्र 27.2) और अक्सर उनकी बनावट इस बात का संकेत होती है कि वह पक्षी किस तरह का भोजन ग्रहण करता है। चंचु के आधार भाग में दरारनुमा नासाद्वार होते हैं। पक्षी का पाचन-मार्ग इस बात मे विशिष्ट है कि उसमें दो अतिरिक्त अंग अन्नपुट या **क्रॉप** (crop) तथा **गिजर्ड** (gizzard) होते हैं (चित्र 27.3)। अन्नपुट एक ऐसी थैली है जो आवश्यकतानुसार फैल सकती है और यह गर्दन के आधार भाग में ईसोफेगस या ग्रसिका से
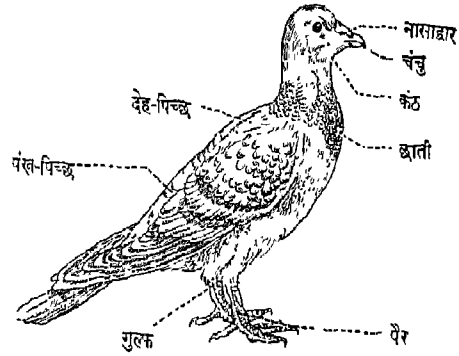
चित्र 27.1 एक सामान्य पक्षी के बाह्य लक्षण।

जुड़ी रहती है। खाद्य पदार्थ साबुत निगल लिया जाता है और अन्नपुट में संचित कर लिया जाता है, जहाँ उसे मुलायम किया जाता है। आमाशय के प्रथम भाग में भोजन के साथ जठ रस (Gastric Juice) मिलता है और तब वह दूसरे हिस्से गिजर्ड में जा पहुँचता है। गिजर्ड मोटी और पेशीमय थैली जैसा होता है, जिसका अस्तर कड़े शृंगिल ऊतक का बना होता है और जिसमें (पक्षी द्वारा आहार के साथ निगली हुई) बजरी और कंकड़ आदि पड़े रहते है। यहाँ पर भोजन की अच्छी तरह पिसाई होती है। इस प्रकार दाँतों का काम पक्षियों में गिजर्ड करता है। पक्षियों की निगाह बड़ी तेज होती है। हर आँख में एक तीसरा पलक होता है, जो भीतरी कोण से बाहर की ओर सारी आँख को ढक सकता है। इनके कोई उभरे हुए कान नहीं बने होते, पर उनकी जगह छिद्र होते हैं जो अंदर कर्णपटह तक जाते हैं। ये छिद्र प्रायः पंखों से ढँके रहते हैं। लंबी और लचीली गर्दन के द्वारा पक्षी अपने सिर चारों ओर घुमा सकते हैं।
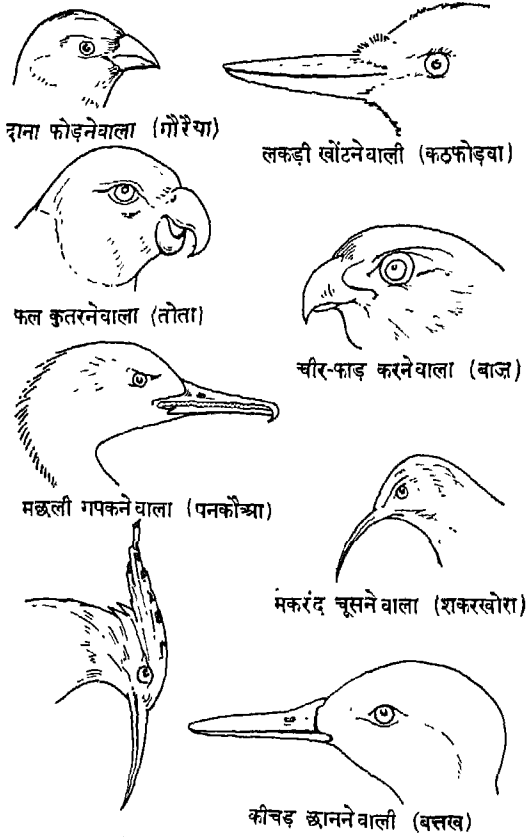
चित्र 27.2 पक्षियों की खान-पान की खास आदतों के अनुसार उनकी तरह-तरह की चोंचें। आधार: सालिम अली, "दी बुक ऑफ इंडियन बर्ड्स", बांबे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी, बंबई, 1964
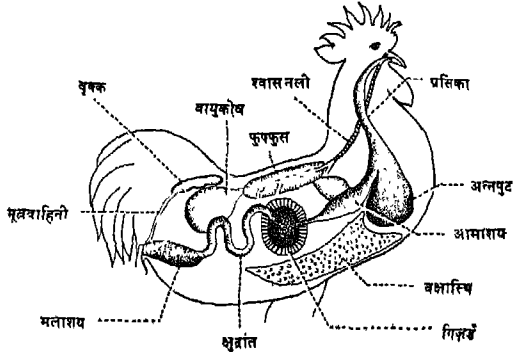
चित्र 2.73 पक्षी की आहार-नाल और अन्य संबंधित अंग।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पंख (wings) वस्तुतः विशिष्टीकृत अग्रपाद हैं। उनकी हड्डियाँ मेंढक या आदमी के अग्रपाद जैसी ही होती हैं। कबूतर के हर पंख में 23 बड़े-बड़े पर या पिच्छ होते हैं जो उड़ान के दौरान हवा को धक्का देने के लिए एक मजबूत सतह बना देते है। बड़ी उरोस्थि (breast bone) से जुड़ी वक्ष-पेशियाँ या उड्डयन-पेशियाँ (flight muscles) पंखों को गति प्रदान करती हैं।

पश्चपादो (hind limbs) मे जंघा (thigh) और टाँगें (shank) छोटी-छोटी होती हैं और धड़ के बहुत निकट लगी होती हैं। पंजे में एक लंबूतरा गुल्फ (ankle) होता है। यह हिस्सा पिच्छहीन होता है और शल्कों से ढँका रहता है। कबूतरों में चार पादांगुलियाँ होती हैं जिनमें से पहली पीछे की ओर मुड़ी रहती हैं। चोंचों की तरह पक्षियों के पंजे भी तरह-तरह के होते हैं (चित्र 27.4)। इनको ध्यान से देखने पर आप यह पता लगा सकते हैं कि किसी पक्षी का रहन-सहन क्या है। पक्षिसादी पंजों (perching feet) में ऐसी व्यवस्था होती है कि चिड़िया के अपने वजन के दबाव से ही पादांगुलियाँ मजबूती से टहनी को जकड़ लेती हैं जैसे कि गौरैया (sparrow) में। इस तरह के पक्षी किसी टहनी पर बैठे हुए सो भी सकते हैं और उनके गिरने का कोई खतरा नहीं होता।

सभी पक्षियों की देह हल्की होती है। यह हल्कापन मुख्यतः उनकी देह में छिद्रिल हड्डियों और पतले वायु-कोशों (air-sacs) के कारण होता है। पक्षियो का जीवन बड़ा सक्रिय होता है और उनकी देह का तापमान स्थिर होता है। इसीलिए ये नियततापी (warm-blooded) प्राणी है। इनके हृदय में चार कोष्ठ होते हैं और वह दूसरे जानवरों की अपेक्षा ज्यादा तेजी के साथ धड़कता है। मादा पक्षियों में केवल एक अंडाशय (ovary) होता है, और एक बार में केवल एक अंडा परिवर्धित होता है। अंडों पर चूनेदार (कैल्सियमी) खोल चढ़े रहते हैं जो अक्सर बड़े रंग-बिरंगे होते हैं। अंडों को माता (चिड़िया) अपनी देह के लगभग नियत-ताप पर सेती है। यह क्रिया सामान्यतः घोंसलों में होती है।

पक्षियों के भेद

यों तो पक्षियों के बहुत भेद होते हैं, पर हम उनको दो

प्रमुख समूहों में बाँट सकते हैं : उड़ने के अयोग्य अथवा दौड़नेवाले पक्षी और उड़नेवाले पक्षी।

चित्र 27.4 पक्षियों के पंजों में कुछ अनुकूल परिवर्तन। आधार: सालिम अली, "दी बुक ऑफ इंडियन बर्ड्स", बांबे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी, बंबई, 1964।

उड़ने के अयोग्य पक्षी : ये आम तौर पर बड़े डील-डौल के और लंबी टाँगों वाले होते हैं। इनकी देह में पंख कम होते हैं और इनके पर या पिच्छ घुँघराले होते है। अफ्रीकी शुतुरमुर्ग (चित्र 27.5) एक विशालकाय पक्षी है, जिसके हर पैर में सिर्फ दो पादांगुलियाँ होती हैं। यह काफी तेजी से दौड़ सकता है। इसके खूबसूरत पंख बड़े कीमती होते हैं। औसतन एक शुतुरमुर्ग का वजन लगभग 125 किलोग्राम होता है और इसका एक अंडा मुर्गी के 10 अंडों के बराबर भारी होता है। आस्ट्रेलिया के एमू पक्षी के हर पैर में तीन पादांगुलियाँ होती हैं। शुतुरमुर्ग और एमू दोनों ही खासतौर पर चिड़ियाघरों में रखे जाते हैं। न्यूजीलैंड की कीवी भी बिना उड़ानवाला छोटा पक्षी है (चित्र 27.5)। दक्षिण ध्रुव के बर्फीले समुद्र जल के निवासी सुप्रसिद्ध पैंगुइनों (चित्र 27.6) के पंख तैराकी के पैडलों में बदल जाते हैं। पालतू कुक्कुटों और बत्तखों में भी उड़ान की क्षमता समाप्त हो चुकी है।
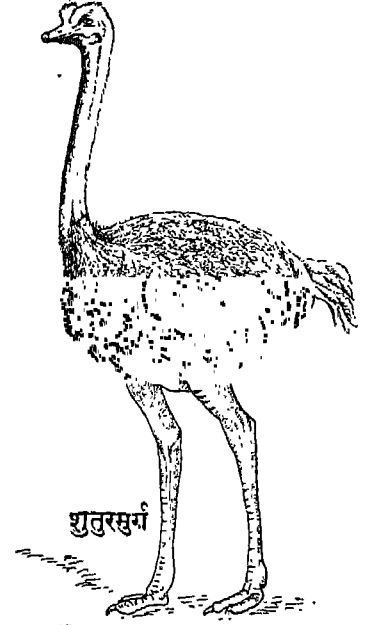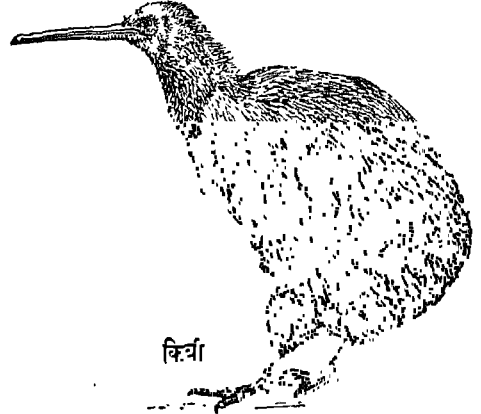
चित्र 27.5 दौड़ने वाले पक्षी। शुतुरमुर्ग के छोटे पंख होते हैं और लंबी टाँगें। दौड़ने में ये घोड़े को भी मात दे सकता है, पर उड़ नहीं सकता। कीवी एक रात्रिचर पक्षी है और अपनी लंबी चोंच से कृमि तथा कीट पकड़ता है।
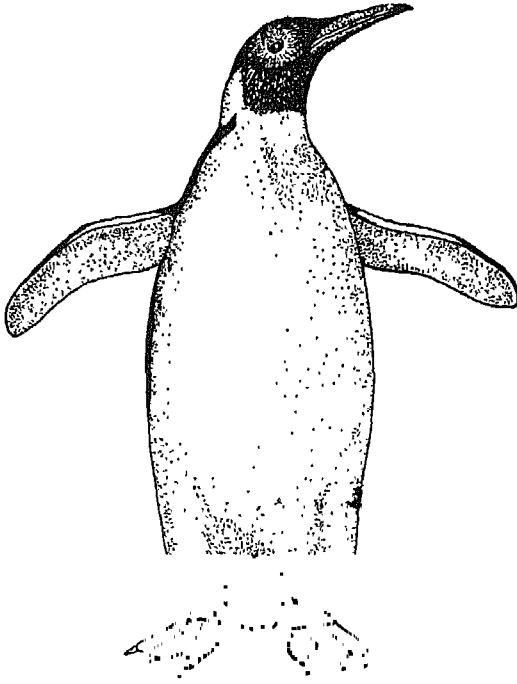
उड़नेवाले पक्षी : आज सारी दुनिया में जो पक्षी पाए जाते हैं उनमें से अधिकतर उड़नेवाले हैं। देह को उड़ने के अनुकूल बनाने के लिए इन पक्षियों में अनेक प्रकार के रोचक अनुकूलन हो गए हैं। सबसे छोटी उड़नेवाली चिड़िया 'हमिंग बर्ड' या भनभनाने वाली चिड़िया है, जो आपके अँगूठे से बड़ी नहीं होती। सबसे बड़े उड़नेवाले पक्षियों में उकाबों की कुछ किस्में आती हैं।

चित्र 27.6 पेंगुइन। उड़ने में असमर्थ इस पक्षी में पंखों की जगह तैरने के पैडल होते है। अधिकतर पेंगुइन घोंसले नहीं बनाते [illegible] मध्य मे खाल की [illegible] हैं। आधार : [illegible] बैरी और जे० ब्रा[illegible] बुक्स लिमिटेड, [illegible] 19[illegible]

चित्र 27.7 आर्किओप्टेरिक्स का पुनःनिर्माण : एक आदिम फासिल पक्षी जिसमें अनेक सरीसृपों जैसे लक्षण होते थे। चोंच के अंदर मौजूद दाँतों पर ध्यान दें। आधार : जी० जे० रोमेन्स, "डार्विन एंड ऑफ्टर डार्विन", ओपन कोर्ट पब्लिशिंग कंपनी, शिकागो, 1892।
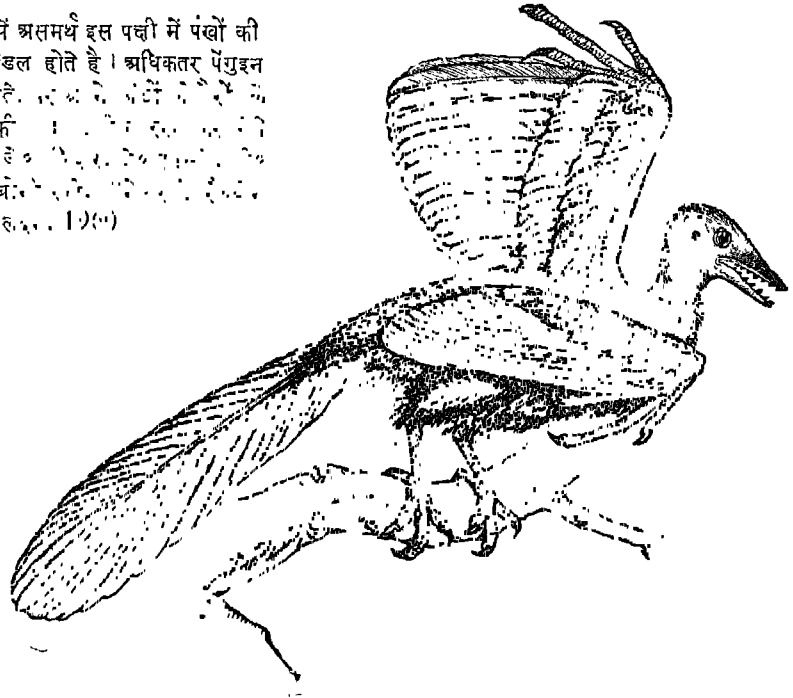
आर्किओप्टेरिक्स, एक विचित्र फॉसिल-पक्षी : इस पुस्तक के छठे भाग मे आप पढ़ेंगे कि कितने ही प्राणी पिछले समयो मे इस धरती पर रहते थे, अपने अवशेष (फॉसिल या जीवाश्म) चट्टानों में दबे हुए छोड़ गए है। इस तरह का एक फॉसिल-पक्षी जर्मनी मे खोजा गया (चित्र 27.7)। यह कोई 15 करोड़ वर्ष पहले का है और सरीसृपो तथा पक्षियों के बीच की कड़ी माना जाता है। इसके जबड़ो में दाँत थे, पंखो में अंगुलियाँ और नखर थे और मेरु-दंड से युक्त एक लंबी पूँछ थी। ये सारे लक्षण सरीसृपो के है और वर्तमान पक्षियों में नही पाए जाते।

चित्र 27.8 नृत्य में मस्त मयूर। हमारी संस्कृति से अपने दीर्घ संबंध तथा अपनी सुंदरता के कारण मोर को भारत के राष्ट्रीय पक्षी का गौरव प्रदान किया गया है। सौजन्य : चिड़ियाघर, दिल्ली।

पक्षियों का व्यवहार

नर और मादा पक्षियों का एक दूसरे को रिझाने की कोशिश करना, घोसले बनाना और उनका सामाजिक व्यवहार बड़ा रोचक है। उनके खूबसूरत रंग और आकृतियाँ यौन-आकर्षण का आधार हो जाती है। मोर की तरह कुछ नर पक्षी (चित्र 27.8) अपनी मादा का ध्यान खींचने के लिए नाचने की मुद्राएँ बनाते है। उनकी चहचहाहट और कूको के अलग-अलग मतलब हैं (यौन-आकर्षण, पारस्परिक पहचान या दुश्मन को डराना)। ज्यादातर पक्षी घोंसला बनाते हैं। 'बीवर बर्ड' या 'बया' तथा 'टेलर बर्ड' या 'दर्जिन चिड़िया' और ऐसी ही अन्य चिड़ियों द्वारा बनाए गए घोंसले बड़े सुंदर होते है (चित्र 27.9)। वस्तुतः पक्षी बड़े कुशल 'कारीगर' है और अपने बच्चों को पालने मे भी बड़ी होशियारी बरतते हैं।

चित्र 27.9 A. दर्जिन चिड़िया या टेलर बर्ड और पत्ती लपेटकर बनाया गया उसका घोंसला। अपनी नुकीली चोंच से यह चिड़िया ऊन या सूत के धागे पिरोकर पत्ती के दोनों किनारे आपस में सी देती है।

B. बया का बोतलनुमा घोंसला। ये घोंसले घास या धान के तिनकों से बनाए जाते हैं और अक्सर पेड़ों पर लटकते हुए देखे जा सकते हैं।
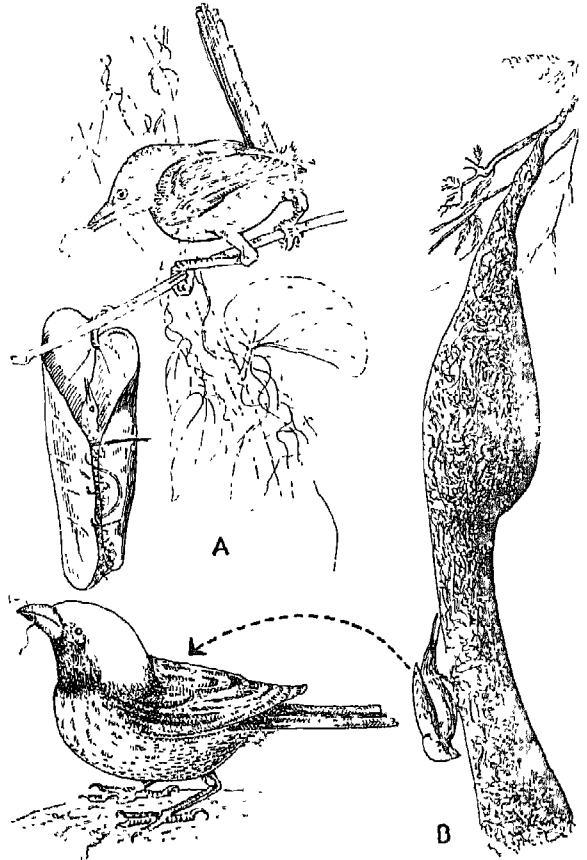
अनेक पक्षी झुंड बनाकर रहते हैं, अर्थात् वे सामाजिक प्राणी होते हैं। तुमने कबूतरों, कौओं, बत्तखों तथा दूसरे पक्षियों के झुंड देखे होंगे। अपनी भिन्न-भिन्न बोलियों और अलग-अलग रंग और आकृति के पंखों से उन्हें एक दूसरे को पहचानने में मदद मिलती है।

प्रवासी स्वभाव : आप जहाँ रहते हैं, वहाँ गौरैया, कौआ, चीलें और कबूतर जैसे पक्षी पूरे वर्ष रहते हैं। ये सब स्थानीय पक्षी कहे जाते हैं। लेकिन इनके अलावा कुछ अन्य पक्षी भी होते हैं जो किसी विशेष मौसम में ही दिखाई देते हैं। धोबन, कुछ बत्तखें, तिलियर (rosy pastor) तथा अन्य बहुत-से पक्षी केवल जाड़े के दिनों मे हमारे देश के मैदानी इलाकों में आ जाते हैं। ये सभी प्रवासी पक्षी (migratory birds) हैं (चित्र 27.10)। इनके अपने-अपने निवास की जगह तो दूर हिमालय पर्वत के वनों या उससे भी परे उत्तर में है। जाड़ा आने से पहले ही ये अपने मूल स्थान को छोड़कर इधर आ जाते हैं और जाड़े भर भारत के विभिन्न भागों में रहकर गर्मी शुरू होते ही वापस लौट जाते हैं। वर्ष-प्रति-वर्ष यह आना-जाना लगा रहता है। इसी को **पक्षी-प्रवास या बर्ड-माइग्रेशन** कहते हैं। लगभग सभी देशों में प्रवासी पक्षी पाए जाते हैं।

पक्षी प्रवास का अध्ययन आमतौर पर छल्ला बाँधने (रिंगिंग) या पट्टी बाँधने (बैंडिंग) की विधि से किया
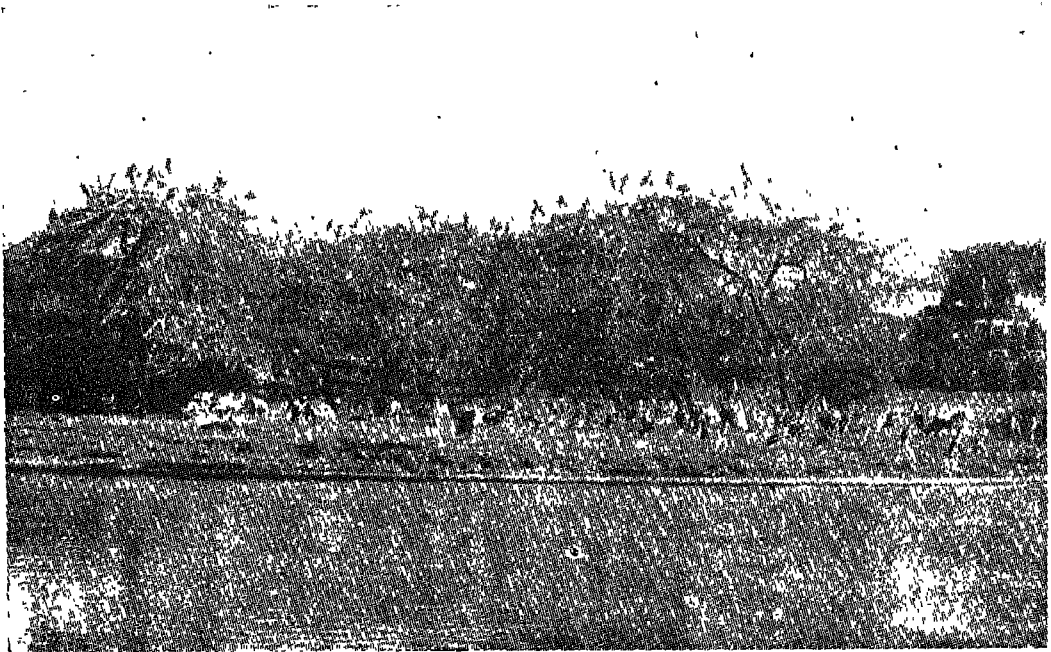
चित्र 27.10 दिल्ली के चिड़ियाघर में डोरबों अथवा पेंटेडस्टार्कों के झुंड का यह छाया चित्र दिसंबर के महीने में लिया गया। ये पक्षी हर साल जाड़ों मे हिमालय के ऊपर से उड़कर भारत के मैदानी प्रदेशों में आते हैं।

जाता है। संसार के अनेक स्थानों में वैज्ञानिक पक्षियों को पकड़कर उनके पैरों में एलुमिनियम के छल्ले कस देते हैं (चित्र 27.11)। हर छल्ले पर छल्ला डालने की तारीख और जगह का नाम रहता है। इसका रिकार्ड एक रजिस्टर मे भी दिया रहता है और उसके बाद पक्षी को छोड़ दिया जाता है। कुछ समय बाद ये पक्षी किसी दूसरी जगह देखे या पकड़े जा सकते हैं। इस विधि से प्रवासी पक्षियों के आवागमन के मार्ग और उनके लक्ष्य स्थान का पता चल सकता है।

पक्षी मुख्यत: ठंडे प्रदेशों के छोटे दिनों से बचने के लिए प्रवास करते हैं; क्योंकि वहाँ जाड़ों में उनके लिए
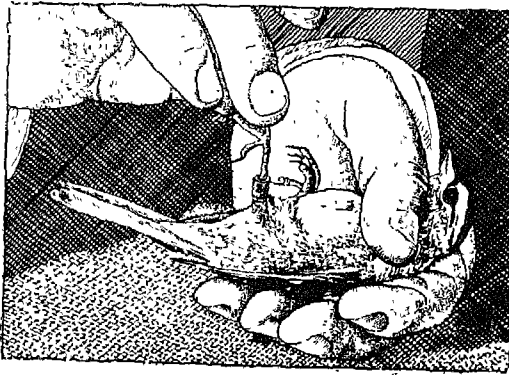
चित्र 27.11 पक्षी-प्रवास का अध्ययन। एलुमिनियम की एक नामांकित पट्टी प्रवासी पक्षी की टाँग से लपेट कर बाँध दी जाती है और फिर उसे मनचाही उड़ान भरने के लिए छोड़ दिया जाता है। पट्टी बंधी चिड़िया को दूसरी जगहों में खोजकर उसके आने का रास्ता और प्रवास के लक्ष्य-स्थानों का पता लगाया जा सकता है। आधार: टी० जे० मून, जे० एच० ओटो और ए० टोवले, "मोडर्न बायोलोजी", होल्ट, राइनेहार्ट एंड विंस्टन, इंको, न्यूयार्क, 1960।

भोजन की भी कमी हो जाती है। बसंत में लौटने पर वे अपने मूल स्थानों को अपने लिए सुविधाजनक पाते हैं। प्रवासी पक्षियों में ऋतुपरक यात्राएँ करने की यह वृत्ति सहज या नैसर्गिक होती है। कुछ हार्मोन उनको यात्रा करने के लिए प्रेरित करते हैं लेकिन इन हार्मोनों का बनना दिन के प्रकाश की अवधि से नियंत्रित होता है। सबसे दिलचस्प प्रवासी पक्षी उत्तरी ध्रुव का कुररी (tern) पक्षी है जो कि हर वर्ष ध्रुव प्रदेश में अपने प्राकृतिक आवास से 1,76,000 कि० मी० दूर उड़कर धरती के दूसरे छोर दक्षिण ध्रुव पर आ जाता है और फिर वापस लौट जाता है।

पक्षी और मनुष्य

गौरैया, तोता और कौआ जैसे अनेक पक्षी हैं जो हमारी फसलों को नष्ट कर देते हैं। बाज और उल्लू कुछ जंगली और घरेलू पक्षियों को मार डालते हैं। कुछ पक्षियों के बारे में यह आशंका है कि वे मनुष्य और पशुओं में कुछ रोग फैला देते हैं। परंतु कुछ पक्षी बहुत-सी बातों में बड़े उपयोगी हैं। सुंदर पक्षियों को देखकर और उनकी मीठी कूक सुनकर मन प्रफुल्लित हो उठता है। तीतर, बटेर, सारस, बुलबुल, मैना और मोर बड़े सुहावने पक्षी हैं। कौए, चील और गिद्ध ऐसे कुशल अपमार्जक (scavengers) हैं कि मुर्दा जानवरों के अवशेष नष्ट करके साफ कर देते हैं। जामुनी रंग का शकरखोरा (sunbird) जैसे कुछ पक्षी फूलों के परागन में और कुछ बीज-प्रकीर्णन में सहायता करते हैं। बत्तख, मुर्गी और कुछ दूसरे पक्षी हमारी उदरपूर्त्ति के लिए अंडे और मांस प्रदान करते हैं। कुछ चिड़ियो के पंख सजाने, बैडमिंटन खेलने की शटलकाक बनाने और गद्दे वगैरह भरने के काम आते हैं।

सामान्य भारतीय पक्षी

पक्षियों का अवलोकन (Bird watching) बड़ा दिलचस्प शौक है। अधिकतर जगहों में आप कोई तीस से भी ज्यादा भिन्न-भिन्न पक्षी पहचान सकते हैं। इनमें से कुछ पक्षी चित्र 27.12 में दिखाए गए हैं। 'बया' या 'वीवर बर्ड' बोतलनुमा घोंसले बनाने में माहिर है। दर्जिन चिड़िया या टेलरबर्ड पत्ती के दोनों किनारों को सींकर अंडे देने के लिए थैली-सी बना देती है। ज्यादातर झाड़ियों और लताओं के बीच तुम इसे देख सकते हो। बुलबुलों की कई किस्में हैं। इनमें सबसे ज्यादा पाई जानेवाली बुलबुल वह है जिसके सिर पर परों की कलगी-सी बनी होती है और पूँछ की जड़ में नीचे की ओर चमकीला लाल धब्बा होता है। कोयल को तो बसंत ऋतु में मीठी
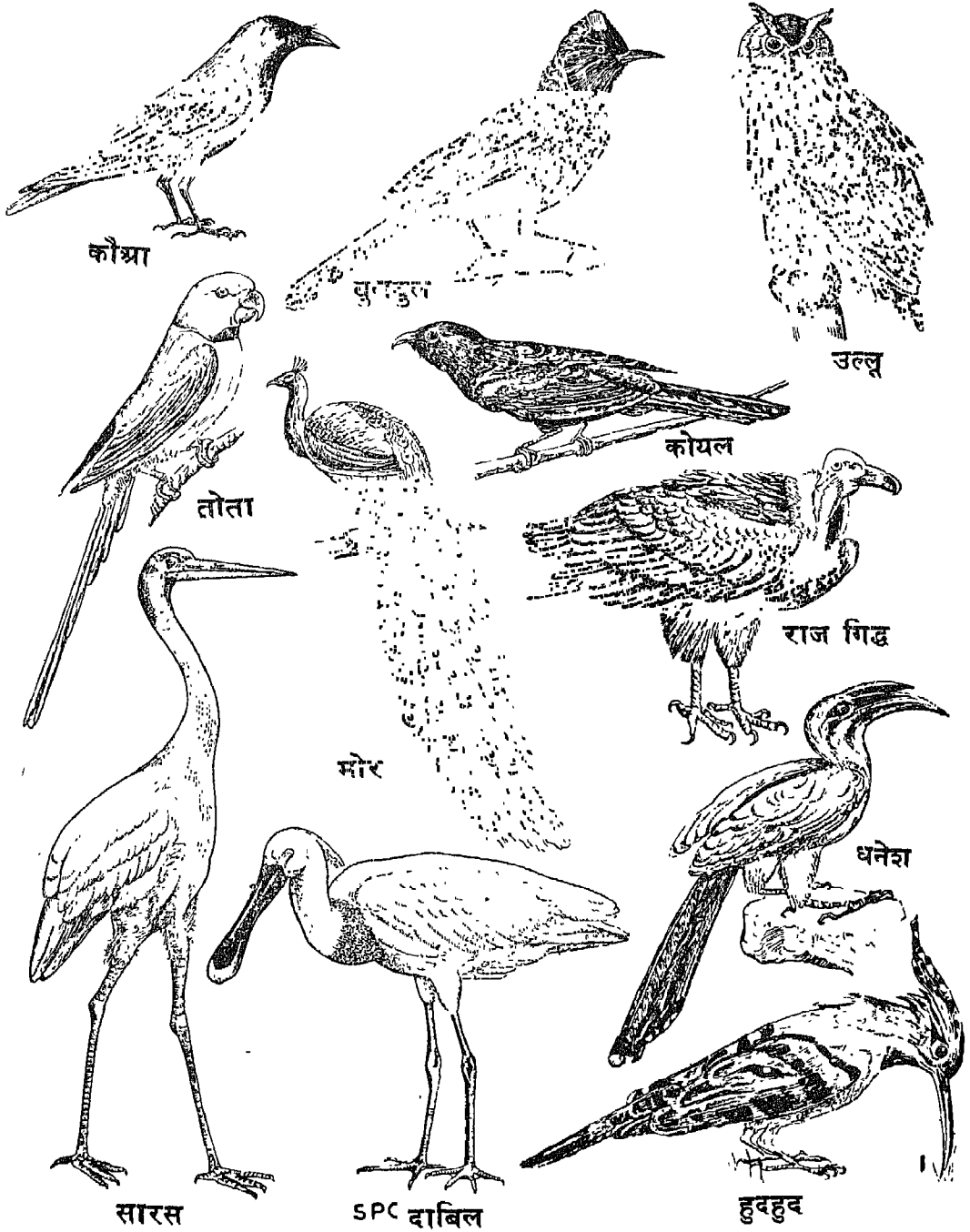
चित्र 27.12 कुछ सर्व सामान्य भारतीय पक्षी। आधार : सालिम अली, "दी बुक ऑफ इंडियन बर्ड्स", बांबे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी, बंबई, 1964।

कूक के कारण सभी पहचान लेते है पर यह कूकने वाली 'नर' कोयल होती है। किसी झील, नदी या नहर के किनारे चले जाएँ तो वहाँ आपको तरह-तरह के प्यारे-प्यारे पक्षी देखने को मिलेंगे, जैसे कि सारस, बगुला, किलकिला (king fisher) और मुर्गाबियाँ वगैरह। गिद्ध, उकाब और चीलों का बड़े पक्षियों में शुमार हैं। हुदहुद, मैना, सतबहनी (seven sisters) और कौए तो हर रोज ही हमारे घर के चक्कर लगाते हैं और घरेलू गौरैया तो हमारे घरों में जहाँ-तहाँ घोंसले भी बना लेती है।

सारांश

पक्षी परों या पिच्छों और पंखों वाले कशेरुकी है। इनकी चोंच तो होती है, पर दाँत नहीं होते। इनकी पादांगुलियों मे नखर होते है। पक्षियो की देह उड़ने के अनुकूल होती हैं। कुछ पक्षी उड नहीं सकते। कूकना, घोंसले बनाना और लंबे-लंबे प्रवास पक्षियों के व्यवहार के कुछ रोचक पहलू है। कुछ पक्षी मनुष्य के लिए हानिकर है पर दूसरे बहुत तरह से उपयोगी हैं।

प्रश्न

1. कम से कम दो ऐसे पक्षियों के नाम बताइए जो उड़ने नहीं हों।
2. कुछ ऐसे पक्षियो के नाम बताइए जो हमारे देश में केवल जाड़ो में आते हों।
3. वह पक्षी कौन-सा है, जो सबसे लंबी प्रवास-यात्रा करता है ?
4. मनुष्य को पक्षियों से क्या लाभ है ?
5. 'हमिंग बर्ड' किस तरह भिनभिनाती है ?
6. अपने क्षेत्र में पाई जाने वाली कुछ चिड़ियों के नाम बताइए। वे वर्ष मे किस समय बहुतायत मे होती हैं ?
7. बाजार में मुर्गी के अंडे जिस रूप मे बिकने आते हैं, उस रूप में वे निषेचित होते है या अनिषेचित ?
8. किसी भी पक्षी का अंडा आंतरिक रूप से निषेचित होना चाहिए। क्यों ?
9. बढ़ता हुआ चूजा खोल के अंदर साँस कैसे लेता है ?
10. कई बार मुर्गियों को उनके सामान्य दाने के अलावा पिसे हुए घोंघे या बजरियाँ दी जाती है। बताइए कि इसकी क्या जरूरत है ?
11. चिड़ियों का दिल सामान्यतया दूसरे किसी भी प्राणी के हृदय की अपेक्षा ज्यादा तेजी के साथ धड़कता है। क्यो ?

अन्य पठनीय सामग्री

अली, सालिम 1964; **दि बुक ऑफ इंडियन बर्ड्‌स**, बांबे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी, बंबई।

अज्ञात, 1963; नेचर्स गिफ्टेड नेस्ट बिल्डर्स, **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-7, अक 74 पृष्ठ, 1170-1171।

अज्ञात, 1963; बर्ड माइग्रेशन, **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-7, अंक-73, पृ० 1169।

28

स्तनधारी-रोमिल कशेरुकी

स्तनधारी (mammals, ग्रीक-मैमा=स्तन) उन सुपरिचित प्राणियों में से है, जिनकी मादाएँ अपने बच्चों को स्तनपान कराती है। स्वयं मनुष्य भी इसी वर्ग में आता है। अन्य स्तनधारियों के साथ हमारे बड़े घनिष्ठ और प्राचीन संबंध हैं। वे हमें भोजन और वस्त्र देते हैं। हमारे लिए खेतो में काम करते हैं, और बोझा ही नहीं बल्कि हमें भी दूर-दूर तक ढोकर ले जाते हैं। परंतु कुछ स्तनधारी हैं जो हमारे अन्न पर हाथ साफ करने में नही चूकते, जैसे कि चूहे और खरगोश। कुछ दूसरे हिंसक हैं जो मौका पड़े तो हम पर और हमारे पालतू पशुओं पर ही हमला बोल दें।

ध्रुव प्रदेशो से लेकर भूमध्य रेखीय प्रदेशो तक, बर्फ से ढँके पहाड़ो से लेकर तपते हुए रेगिस्तानो तक; और झीलों में, नदियों में, गहरे समुद्रों में, घने जंगलों मे और बंजरों में, हवा मे और अँधेरी गुफाओं में--यानी दुनिया में हर जगह स्तनधारी पाए जाते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि स्तनधारियों में स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल ढालने यानी अनुकूलन की असाधारण क्षमता होती है। नन्ही श्रियू या मंजोरुओं (shrews) से लेकर विशालकाय व्हेलों तक हर आकार के स्तनधारी मिलते हैं।

सामान्य लक्षण

सभी स्तनधारियों में कुछ समान लक्षण होते हैं। उनकी त्वचा रोमिल होती है और बाहर की ओर निकले कान होते हैं। ये अंडे नहीं देते बल्कि बच्चे जनते हैं--इस नियम के दो ही अपवाद हैं जो कि आस्ट्रेलिया में पाए जाते हैं (चित्र 28.1 और 28.2)। सभी स्तनधारियों के बच्चे अपनी माँ के दूध से पोषण प्राप्त करते हैं। **दुग्ध-ग्रंथि या स्तन ग्रंथि** (mammary glands) विशिष्टीकृत त्वचा-ग्रंथियाँ हैं जो कि चूचकों (teats) में खुलती हैं। त्वचा में स्वेद-ग्रंथियाँ भी होती हैं, जो छिद्रों के द्वारा त्वचा की सतह पर खुलती हैं। दाँत मसूड़ों में जमे होते है और वे दो बार उगते हैं--दूध के दाँत और स्थायी दाँत। काटने, फाड़ने और पीसने के कामों के हिसाब से दाँत अलग-अलग शक्ल के होते हैं। सभी स्तनधारियों में एक पेशीमय तनुपट (muscular diaphragm) होता है, जो कि वक्ष की गुहा को उदर से अलग करता है। मस्तिष्क (खास तौर से प्रमस्तिष्क) अधिक परिवर्धित होता है, इसलिए स्तनधारी सभी प्राणियो से अधिक बुद्धिमान होते हैं। चाहे गर्दन चूहे की तरह छोटी हो या जिराफ़ की तरह बडी हो, हमेशा उसमें सात ग्रीवा-कशेरुक (neck vertebrae) होते हैं। सभी स्तनधारियों में केन्द्रक-विहीन लाल रुधिर-कोशिकाएँ (red blood cells) होती है, और उनकी देह का एक स्थायी तापमान

चित्र 28.1 डकबिल—आस्ट्रेलिया का आदिम स्तनी जो अंडे देता है। अपने जालीदार पैरों से यह पानी मे तैरता है। आधार: जे० फिशर; जे० हक्सले, जां० बैरी और जे० ब्रोनोव्स्की, "नेचर"। रैथवोन बुक्स लिमिटेड, लंदन, 1960।

होता है। इसीलिए उन्हें **नियत तापी** (warm blooded) प्राणी कहा जाता है। अंडे देने वाले स्तनधारियों में तो जनन-मूत्रद्वार और गुदा (anus) संयुक्त होते हैं, नहीं तो बाकी सभी स्तनधारियों में नियमतः ये दोनों द्वार अलग-अलग होते है और अवस्कर (cloaca) नही होता। इसी लक्षण के कारण स्तनधारी उन सभी कशेरुकियो से प्रगत है जिनमे अवस्कर होता है। चमगादड़ जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर सभी में वृषण (testes) उदर के बाहर वृषण-कोशों में स्थित होते है।

स्तनधारियों का सामान्य सर्वेक्षण

जीवविज्ञानी स्तनधारियों को कोई पंद्रह समूहों में बाँटते है। यहाँ हम इनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण समूहों का परिचय दे रहे हैं।

अंडे देनेवाले स्तनधारी (मॉनोट्रिमेटा-Monotremata) : इस समूह में आस्ट्रेलिया के दो बड़े अजीब और आदिम प्राणी शामिल हैं—डकबिल (चित्र 28.1) काँटोंवाला चीटीखोर (spiny ant-eater—चित्र 28.2)। इनकी त्वचा तो रोमिल होती है, पर बाह्य कर्ण या **कर्ण-पल्लव** (pinna) नहीं होता। काँटोंवाले चींटीखोर की देह पर बाल ही काँटों में रुपांतरित हो जाते हैं। इनमें गुदा और जनन-मूत्रद्वार एक ही होता है और नरों में वृषण उदर के अंदर ही होते हैं। ये बच्चे नहीं जनते बल्कि अंडे देते हैं और उन्हें सेते हैं। मादा के चूचक नहीं होते और दूध यों ही केवल बालो के सहारे रिसता रहता है।

थैलीवाले स्तनी (मॉर्सूपिएलिया–Marsupialia). जैसा कि नाम से ही विदित होता है, इस समूह की मादाओं की देह पर त्वचा की एक तह या थैली होती है, जिसमें वे अपने शिशुओ को रखती हैं। सबसे अधिक मशहूर मॉर्सूपियल या धानी-प्राणी कंगारू है (चित्र 28.3)। यह आस्ट्रेलिया में तो खूब पाया जाता है, पर अधिकतर चिड़ियाघरों में इसको देखा जा सकता है। इन प्राणियों में, अंडे तो मादा के गर्भाशय में ही सेए जाते है, पर पैदा होने के समय नवजात शिशु मुश्किल से कोई तीन सेन्टीमीटर लंबे होते हैं। मादा इनको बड़ी आहिस्ता से उठाकर एक थैली में रख लेती है, जिसे **शिशुधानी या मॉर्सूपियम** (marsupium) कहते है। यह शिशुधानी देह के निचले हिस्से में खाल की एक तह से बन जाती है। प्रत्येक शिशु दुग्ध-ग्रंथि के द्वार पर चिपककर दूध पीने लगता है। चार महीनों में ही यह इतना बड़ा हो जाता है कि माँ की थैली के बाहर आ सकता है। दक्षिण अमेरिका के ओपोसम और आस्ट्रेलिया के फैलेंजर और कोआला (Koala) भी थैलीवाले स्तनधारी है। इन सबमें बाहर की ओर निकले बाह्य कर्ण (external ears) होते

चित्र 28.2 काँटेदार चींटीखोर – आस्ट्रेलिया का एक और अंडे देने वाला स्तनी। इसकी देह पर रक्षा के लिए नुकीले काँटे होते हैं, पर इसके साथ ही वास्तविक रोम भी होते हैं। पतले प्रोथ (थूथन) और तेज नाखूनों वाले पैरों पर ध्यान दीजिए, जो मिट्टी खोदने में इस्तेमाल किए जाते हैं।
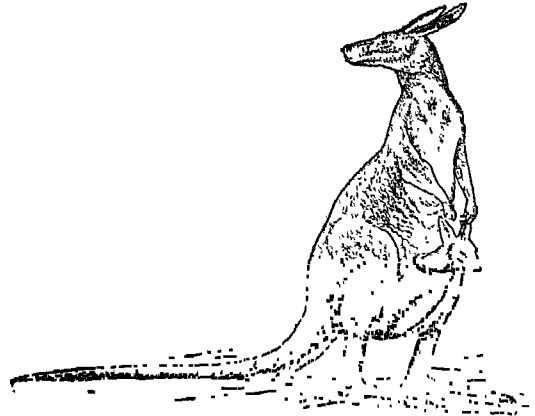
चित्र 28.3 आस्ट्रेलिया का थैलीदार जंतु कंगारू। इसके अग्रपाद छोटे होते हैं, पर पश्चपाद लंबे और शक्तिशाली होते हैं, जिन्हें यह कूदने के लिए इस्तेमाल करता है। शिशु कंगारू मादा के पेट पर बनी थैली में पाले-पोसे जाते हैं।

है। ये थैलीवाले प्राणी भी इस दृष्टि से आदिम (primitive) हैं कि शिशु के परिवर्धन के समय इनकी मादाओं के गर्भाशय मे उसके पोषण की उचित व्यवस्था नहीं होती।

कई बातों में अभी बताए गए दोनो समूह स्तनधारियों का अच्छा प्रतिनिधित्व नहीं करते। आगे हम जिन 'वास्तविक' स्तनधारियों—**युथेरिया** (Eutheria) का वर्णन करने जा रहे हैं, उनके शिशु माँ के गर्भाशय में अधिक समय तक रहते है और एक विशिष्ट उद्वर्ध (outgrowth)—**अपरा** (placenta) द्वारा उनका पोषण होता है। इसीलिए इन स्तनधारियो को **अपरा स्तनी** (placental mammal) कहते हैं।

कीटाहारी स्तनी (इन्सेक्टीवोरा—Insectivora) : इस समूह में छछूंदर (mole), श्रियू (shrew) और हज-हॉग (झाऊ-मूसा या कंटमूष) आते हैं (चित्र 28.4)। ये देखने में तो चूहों और मूषकों-जैसे ही लगते हैं, लेकिन इनमे कुछ महत्त्वपूर्ण भेद होते है, जैसे कि इन कीटाहारी स्तनियो मे रदनक (canine teeth) सदैव होते है जबकि चूहों में नही होते। इनमे से अधिकतर जमीन में बिल बनाकर रहते हैं। आँखें बहुत छोटी होती है और अक्सर बालों के झुंड (फ़र) में छिपी रहती हैं; छछूंदर और श्रियू में तो आँखों का काम केवल अँधेरा और उजाला पहचानना होता है। छछूंदर अंतःभूमिक (subterranean) प्राणी है; उनके अग्रपाद (fore-limb) बड़े मज़बूत होते है, जिनसे कि वे जमीन खोदते है। झाऊ-मूसा अमेरिका को छोड़कर सारी दुनिया (पुरानी दुनिया) में खूब फैला हुआ है और इसकी खाल छोटे-छोटे नुकीले कॉटो से ढंकी रहती है। ये स्तनी मुख्यतः कीटों और कुछ कैंचुए और मकड़ी-जैसे अकशेरुकियो को अपना आहार बनाते हैं। कीटाहारी स्तनी अपरा स्तनियों (placental mammal) में सबसे पहले हुए थे।

दंतहीन स्तनी (ईडैन्टेटा—Edentata) : इस समूह में **आर्मांडिलो** (armadillo) और शल्की चीटीखोर (चित्र 28.5) आते है, क्योंकि उनमे आगे के दाँत

चित्र 28.4 दो छोटे कीटखोर स्तनी। छछूंदर की खाल बालदार होती है, पर झाऊ-मूसा की त्वचा पर छोटे-छोटे काँटे होते हैं। आधार: जे० जैड० यंग, "दी लाइफ ऑफ वर्टीब्रेटस", क्लेरेंडन प्रेस, लंदन, 1950।

चित्र 28.5 स्तनी प्राणी जिनके दाँत नहीं होते। सल्लू साँप या शल्की चींटीखोर की देह पट्टीनुमा शल्कों से ढकी रहती है। यह प्राणी रात में सक्रिय होता है और मुख्यतः चींटी और दीमक खाता है। आर्मांडिलो की देह पर सख्त अस्थिल पट्टियों की ढाल-सी चढ़ी रहती है। दुश्मन को डराने के लिए यह एक हरकत करता है कि गोल होकर लुढ़कने लगता है।

नहीं होते हैं। इस तरह के कुछ प्राणी अमेरिका में रहते हैं। शल्की चींटीखोर या पैंगोलिन (सल्लू साँप) भारत में भी खूब मिलता है। इसकी देह बड़े-बड़े और कोरछारी श्रंगिल शल्कों से ढॅकी रहती है, जिनके बीच-बीच में कुछ बाल भी होते हैं। सिर छोटा और नुकीला होता है और मस्तिष्क कम विकसित होता है। लंबी और चिपचिपी जीभ से यह चीटियो और दीमकें पकड़ता रहता है। दक्षिण-अमेरिकी आॅर्माडिलो भारतीय पैंगोलिन का दूर का संबंधी है।आॅर्माडिलो की देह पर अस्थिल पट्टिकाओं से एक भारी ढाल-सी बनी रहती है और इसमें प्राय: एक अंडे से चार बच्चे पैदा होते हैं। यह इस कारण होता है कि निषेचित अंडे के प्रथम दो विभाजनों से बनी चारों कोशिकाएँ एक-दूसरे से अलग होकर एक-एक शिशु के रूप में परिवर्धित हो जाती हैं। यह कुछ-कुछ वैसे-ही है जैसे मनुष्य में कभी-कभी एकांडज यमज या समान जुड़वाँ-बच्चे पैदा हो जाते हैं।

कुतरने वाले स्तनी (रोडेन्शिया—Rodentia) : खरहे, खरगोश, चूहे, मूषक, गिलहरियाँ और स्याऊ (porcupine) इस समूह के सामान्य उदाहरण हैं (चित्र 28.6)। इन सबमें छेनी-जैसे पैने और मजबूत
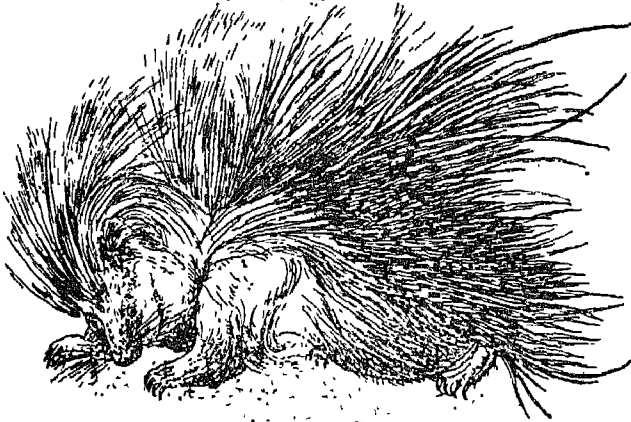
चित्र 28.6 सामान्य कृंतक प्राणियों के तीन उदाहरण। सेही (पोर्कूपाइन) बड़ा विचित्र स्तनी है जिसकी देह पर इतने तीखे काँटे होते हैं कि शत्रु की देह में चुभोए जा सकते हैं। भयभीत होने से ही (स्याऊ) काँटों से ढकी गेंद की आकृति ग्रहण कर लेती है। विविध स्रोतों से।

अगले दाँत या कृंतक (incisors) होते हैं, जिनसे ये काटने का काम लेते हैं। लगातार इस्तेमाल करते रहने से दाँत अपने-आप तेज बने रहते हैं। कृंतक तरकारियों और अन्न से पेट भरते हैं और इनमें रदनक (canines) नहीं होते।

खरगोश भूमिगत बिलो मे रहते हैं पर इन्हें पकड़कर पालतू बनाया जा सकता है। इनके शिशुओं की खाल जन्म के समय नंगी (रोमहीन) होती है और वे उस समय दृष्टि-विहीन भी होते है। इनके विपरीत खरहे (hares) झाड़ियों या घास में रहते है और उनके शिशु शुरू से ही रोएँदार होते है और उनकी आँखें भी जन्म से ही सक्रिय होती है। इनको आसानी से पालतू नहीं बनाया जा सकता। **स्याऊ** (porcupine) भारत में तथा कुछ अन्य देशों में पाया जाता है। इसकी देह पर लंबे और मजबूत काँटे होते है जो आत्म-रक्षा के काम आते है। यह गेहूँ, जौ, चावल और मक्का जैसे धान्यों (cereals) को खाकर पेट भरती है। चूहे और मूषक तो फसलों और अन्य भंडारों को बेहद नुकसान पहुँचाते है। चूहा ब्यूबोनिक प्लेग जैसे भयानक रोग का वाहक है। दूसरी ओर चिकित्सा-विज्ञान और जीव-विज्ञान संबंधी अनुसंधानों में चूहे, मूषक और गिनीपिग अनेक प्रयोगों में बड़े उपयोगी हैं।

खुरोंवाले स्तनी (**अंगुलैटा**—Ungulata) : खुरवाले सभी जानवर इस समूह में आते है, जैसे कि घोड़ा, गाय, भैंस, भेड़, ऊँट तथा हिरन इत्यादि। इनके खुर नखरों या नाखूनों के ही रूपांतर हैं। इनकी टाँगें दौड़ने के लिए उपयुक्त हैं और उनमें 'पकड़ने' की क्षमता नहीं रही है। इनमें से लगभग सभी स्थलवासी है, पर दरियाई घोड़े (हिपोपोटैमस) जैसे कुछ खुरदार जानवर पानी में भी रहते हैं।

खुरदार स्तनी (चित्र 28.7) दो श्रेणियों में बाँटे गए हैं––एक तो वे जिनमें पादांगुलियाँ विषम संख्या में (एक या तीन) होती है और दूसरे वे जिनमें पादांगुलियो की संख्या सम (दो या चार) होती है। गधों और घोड़ों के हर पैर में एक पादांगुलि होती है और वे विषम पादांगुलियों वाले खुरदार स्तनी के सबसे सुपरिचित उदाहरण है। अफ्रीकी ज़ेबरा भी घोड़े की ही एक किस्म है और उसके हर पैर में एक पादांगुलि होती है। भारतीय गैंडे के हर पाँव में तीन पादांगुलियाँ होती हैं। इसकी नाक पर एक सींग होता है। यह कोई 'वास्तविक' सींग नहीं होता, बल्कि हड्डी की जगह आपस में चिपके बालों का एक सघन पिण्ड होता है। गैंडे की खाल मे कई तहे पड़ी रहती हैं और यह बड़ी मोटी और मज़बूत होती है। पुराने ज़माने में लोग गैंडे की खाल की ढाल बनाया करते थे। एक दूसरी किस्म का गैंडा अफ्रीका और दक्षिण-पूर्व एशिया में पाया जाता है। इसकी नाक पर दो सींग होते है। टैपिर (tapir) नामक खुरदार स्तनी अपनी बाहर को निकली लंबी 'नाक' के कारण बड़े अजीब लगते है। ये दक्षिण अमेरिका और दक्षिण-पूर्व एशिया में पाए जाते हैं। इनके पश्चपादों में तीन पादांगुलियाँ और अग्र-पादों में चार पादांगुलियाँ होती है। लेकिन चौथी पादांगुलि बहुत छोटी होती है।

बैल, भेड़, ऊँट, जिराफ (चित्र 28.7) और हिरन (चित्र 28.8) आदि सम पादांगुलि वाले खुरदार स्तनी हैं। इनके प्रत्येक पाँव में दो-दो पादांगुलियाँ (तीसरी और चौथी) होती है। शेष दो पादांगुलियाँ (दूसरी और पाँचवीं) कभी-कभी दो छोटे अवशेषों के रूप में खुरों के पीछे लटकी रहती हैं, जैसे कि भैंस में। पहली पादांगुलि एकदम विलुप्त हो गई है। इन स्तनधारियों में ऊपरी अग्रदंत (कृंतक) नही होते। इनमें से अधिकतर जुगाली करते हैं और **रोमन्थी** (ruminants) कहे जाते है। इनके आमाशय में यह विशेषता होती है कि उसमें चार कोष्ठ (चित्र 28.9) होते हैं। चारा पहले एक बड़े थैले यानी प्रथम **आमाशय** (rumen) में पहुँचता है। बाद में इस चारे के छोटे-छोटे लोथ वापस मुख में आ जाते है, जहाँ उनकी खासी चबाई (जुगाली) होती है। अब यह चबाया हुआ भोजन फिर निगला जाता है और इस बार यह आमाशय के बाकी कोष्ठों मे पहुँचता है, जहाँ पाचन की क्रिया प्रारंभ होती है।

ऊँट सचमुच ही 'रेगिस्तानी जहाज' है। क्या तुम बता सकते हो कि ऊँट में वे कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं जो उसे रेगिस्तान में रहने योग्य बनाती है? बिना पानी पिए यह 10 से लेकर 15 दिन तक रह सकता है। यों निर्जल रहना अंशत: तो इसके आमाशय की खास बनावट के कारण संभव है। ऊँट के आमाशय के पहले और आखिरी कोष्ठ में छोटी-छोटी बहुत-सी खोखली उभरनें होती हैं। ऊँट जो पानी पीता है, वह इन उभरनों में भर जाता है
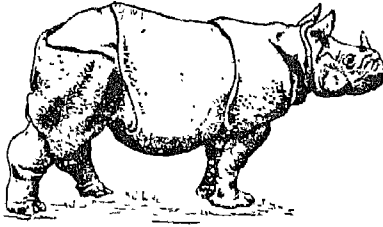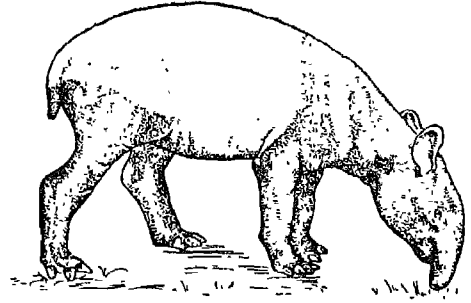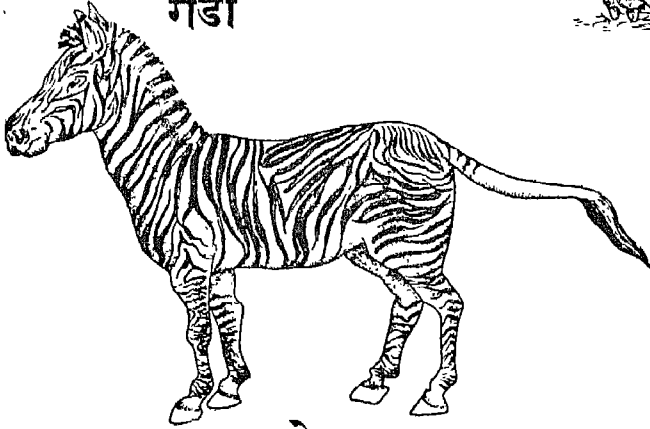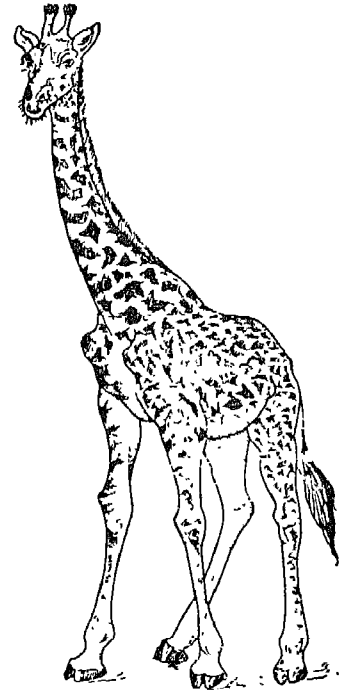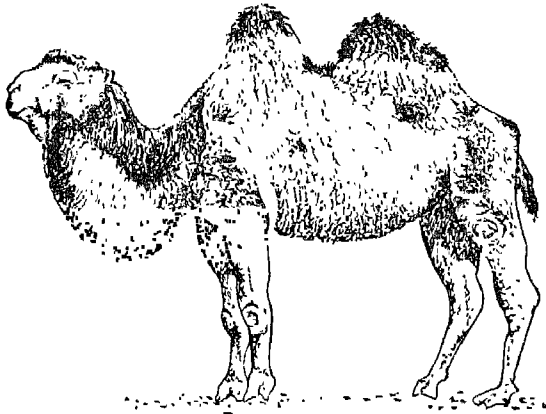
चित्र 28.7 खुरदार स्तनी। गैंडा मोटी चमड़ी वाला भारी भरकम जानवर है, जो अपनी नाक पर के सींगनुमा उभार के कारण आसानी से पहचाना जा सकता है। यह बंगाल और असम के कुछ भागों में पाया जाता है। टपीर रात्रिचर प्राणी है, जिसकी लंबी थूथन आगे की ओर निकली रहती है। ज़ेबरा तेजी से चलने वाला, सुंदर धारीदार जानवर है, उसी कुल का जिसमे घोड़ा आता है। यह अफ्रीका के जंगलों में पाया जाता है। जिराफ़ भी अफ्रीका का ही चित्तीदार स्तनी है, जो कि लंबाई में छः मीटर तक हो सकता है। हालाँकि यह कुछ-कुछ घोड़ों से मिलता है पर वास्तव में गाय की तरह से जुगाली करने वाला जानवर है। दो कूबड़ वाला ऊँट या बैक्ट्रियन मध्य एशिया के रेगिस्तानी इलाकों का बोझ ढोने वाला पशु है।

और फिर एक वृत्ताकार पेशी द्वारा उनका मुँह बंद हो जाता है। जरूरत पड़ने पर ये कोष्ठ खुल जाते हैं और थोड़ा-थोड़ा करके पानी को आमाशय मे रिसने देते हैं। इस समय ऊँट की केवल दो स्पीशिज वर्तमान हैं और दोनों ही पालतू हैं। भारतीय ऊँट (चित्र 28.10) के एक कूबड़ होता है और इसी तरह का ऊँट दक्षिण-पूर्व एशिया, अरब और उत्तरी अफ्रीका में पाया जाता है। बैक्ट्रियन या मध्य एशियाई ऊँट छोटा और अधिक बाल-दार होता है; इसकी पीठ पर दो कूबड़ निकले रहते हैं (चित्र 28.7)।

अफ्रीकी जिराफ़ ऊँट-जैसा ही स्तनधारी है, पर वह ऊँट से ज्यादा लंबा होता है और उसकी खाल खूबसूरत होती है। इसकी लंबी सीधी गर्दन पर टिका हुआ सिर पेड़ों की चरवाई कर सकता है। अफ्रीका में ही दरियाई घोड़ा भी पाया जाता है। यह भी बड़ा भारी-भरकम जानवर है और उसके जबड़े बड़े शक्तिशाली होते है। यह अधिक समय पानी में ही बिताता है।

अधिकतर रोमन्थी जानवरो में **सींग** होते है। इनसे वे अपनी रक्षा करने में सहायता लेते है। गाय-भैंस जैसे पशुओं और भेड़-बकरी के सींग खोखले होते हैं और उसी चीज के बने होते हैं जिससे हमारे नाखून बने होते हैं। हिरन के ठोस सींग **श्रृंगाभ** (antler) कहे जाते हैं और वे हड्डी के बने होते हैं। श्रृंगाभ हर साल गिरते है और फिर नए उग आते हैं। जिराफ़ के छोटे-छोटे सींग भी अस्थिमय होते हैं, पर वे त्वचा से ढँके रहते है और स्थायी हैं। सूअर और वाराह में एक गतिशील थूथन होती है जिसमें नथुने या नासाद्वार (nostrils) होते हैं। यों ज्यादातर खुरदार स्तनी शाकाहारी होते हैं, पर सूअर मांसाहार भी कर लेते है नर शूकर में रदनक (canine teeth) बडे मजबूत होते हैं।

चित्र 28.8 हिरन शिकार करने वालों को विशेष प्रिय है। इसका मांस खाया जाता है। केवल नर हिरन के सिर पर श्रृंगाभ (antlers) होते हैं। चित्तीदार हिरन या 'चीतल' केवल दक्षिण भारत और श्रीलंका में पाए जाते हैं। बारह-सिंगा मध्य प्रदेश और असम में होते हैं। सौजन्य: एच॰वाई॰ मोहनराम, वनस्पति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

सूंडवाले स्तनी (प्रोबोसीडिया--Proboscidea): इस समूह में हाथी आते हैं (चित्र 28.11)। आज जितने भी स्थली प्राणी है, उनमें हाथी सबसे बड़ा हैं। उनकी शूंड (probosois) या सूँड प्रोथ (Snout) या थूथन का विशिष्ट रूप है। जिन गजदंतों (tusk) से कीमती हाथी दाँत प्राप्त होता है वे ऊपरी कृंतकों (incisors) के रूपांतर होते हैं। हाथी की आज दो स्पीशीज ही वर्तमान हैं—एशियाई और अफ्रीकी। अफ्रीकी हाथी का मस्तक ढालू होता है और कान बहुत बड़े-बड़े होते हैं। एशियाई हाथी मे सूँड के अग्रभाग पर केवल एक अँगुलीनुमा उपांग होता है, जब कि अफ्रीकी स्पीशीज में दो होते है। हिमालय प्रदेश सहित संसार के भिन्न-भिन्न भागो से फासिल हाथियो की कई किस्में खोजी गई है।

उड़ने वाले स्तनी (काइरॉप्टेरा chiroptera): वास्तव में उड़ने वाले स्तनी तो चमगादड़ ही है (चित्र 28.12)। कुछ गिलहरियाँ भी उड़ने वाली होती है, पर वे अपनी अगल-बगल की खाल की परतों से हवा में
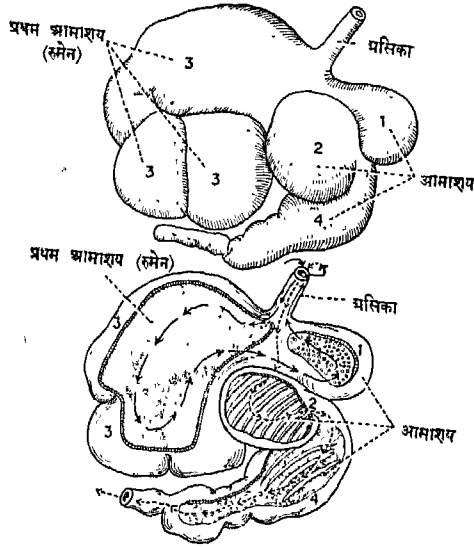
चित्र 28.9 जुगाली करने वाले पशु (रोमंथी-ruminant) का आमाशय। तीर उस मार्ग का निर्देश करते हैं, जिससे खाद्य सामग्री गुजरती है। आधार: टी० आई० स्टोरर और आर० एल० यूसिगर, "जनरल जूलोजी"। मैकग्राहिल बुक कंपनी, इंक० न्यूयार्क, 1957।

चित्र 28.10 गद्दीदार पाँव, दरारनुमा नासाद्वार (जो कि रेतीले तूफान के समय कसकर बंद किए जा सकते हैं) और आमाशय में जल-थैलियों के कारण, एक कूबड़ वाला ऊँट मरुस्थली जीवन के लिए पूरी तरह लैस रहता है। इसे अरबी ऊँट कहते हैं।

फिसल ही सकती हैं, जिसे ग्लाइड करना कहते हैं, इसलिए एक अन्य समूह में रखी जाती हैं। चमगादड़ के 'पंखो' उसके पादों की लंबी-लंबी अँगुलियों पर तनी हुई त्वचा की चादर ही उड़न-झिल्ली का काम करती है। छोटा अँगूठा इस झिल्ली से बाहर खुला रहता है और उसमे नखर होते है। यह परिग्रहण-अंग (grasping-organ) यानी पकड़ने के अंग का कार्य करता है। चमगादड़ों के स्पष्ट बाह्यकर्ण होते हैं और दाँत कूपिकाओं (साँकेटों) मे उगते है। नर चमगादड़ों में वृषण (testes) उदर के अंदर ही रहते हैं। चमगादड़ रात में सक्रिय होते है। घुप्प अँधेरे में भी दीवारो या दूसरी किसी चीज से टकराए बिना वे बड़ी होशियारी से उड़ते रहते है। उनकी आँखें बहुत कम विकसित होती हैं, लेकिन वे एक प्रकार की 'राडार-प्रक्रिया' का उपयोग करती हैं। उड़ते समय चमगादड़ बहुत महीन आवाजें (चीखें) पैदा करते हैं, जिन्हें हमारे कान नही सुन सकते। इन चीखों की आवृत्ति (frequency) लगभग 50,000 कंपन प्रति सेकंड होती है। आदमी के कान 20,000 कंपन प्रति सेकंड तक की ध्वनि-तरंगें ही सुन सकते हैं। चमगादड़ द्वारा पैदा किए गए कंपन निकटस्थ वस्तुओं से टकराकर प्रति-ध्वनि के रूप में वापस लौटते है। इन प्रतिध्वनियों को ग्रहण करके चमगादड़ टकराने से बच जाती है। कुछ चमगादड फलाहार करते हैं और कुछ कीटाहार। दक्षिण अमेरिका का वैम्पायर चमगादड तो पशुओं और आदमी का खून चूस लेता है।

मांसाहारी स्तनी (कार्निवोरा—carnivora) : इस समूह में सिह (lion), बाघ (tiger), भालू, कुत्ता और बिल्ली आदि शामिल है। इनके पाद मजबूत होते हैं और उनमें शक्तिशाली पंजे या नखर होते हैं। इनके रदनक (canine teeth) भी बडे तेज और अक्सर बाहर निकले होते है और शिकार के मांस को फाड़ने के काम आते है। स्थलचर कार्निवोरो मे कुत्ता, लोमड़ी, सियार, लकड़बग्घा, सिह, बाघ, तेंदुआ या चीता और भालू है (चित्र 28.13)। वास्तविक जलचर कार्निवोर हैं—समुद्री सील और वालरस। इन्हें इनके सुदर फर के लिए पकड़ा जाता है। ऊदबिलाव (otters) नदी-तालाबों के अलवण जल (fresh water) में भी हो सकते हैं और समुद्र के खारे पानी में भी, पर वे स्थली मांसाहारियों के अधिक समान है।
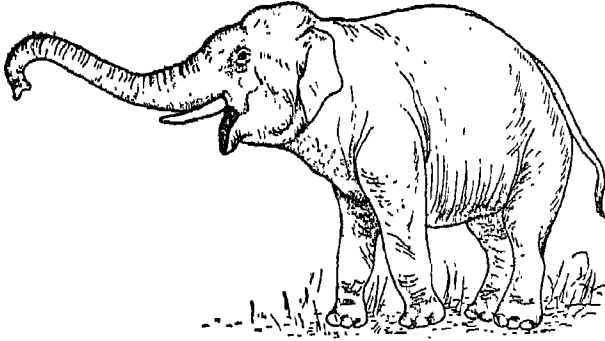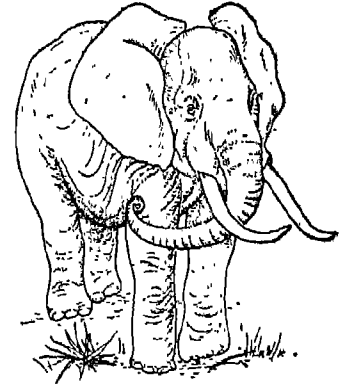
चित्र 28.11 गजदंत वस्तुतः बाहर की ओर निकले कृंतक (incisors) होते हैं, जो कि हथिनी की अपेक्षा हाथी में अधिक लंबे होते हैं। भारतीय हाथी हिमालय के निचले वनों, नीलगिरि, पश्चिमी घाट, मैसूर और कुर्ग में पाए जाते हैं। जंगलों, पहाड़ों और पहाड़ी घाटियों में इसे पकड़कर बोझा ढोने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। वयस्क हाथी लगभग पूरी तरह से रोमहीन होता है। इतने बड़े डीलडौल के बावजूद हाथी बड़े अच्छे तैराक होते हैं।
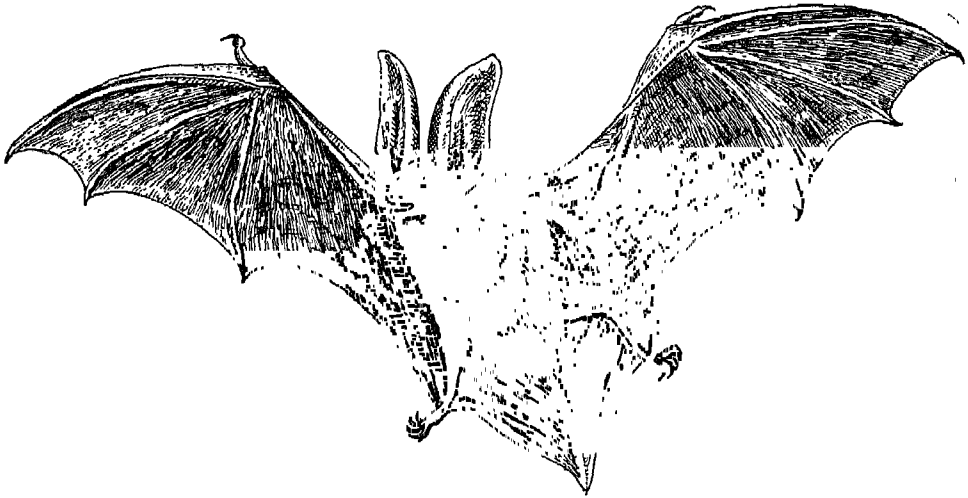
चित्र 28 12 उड़ने वाला स्तनी—चमगादड़। इसके चारों पाद (limbs) त्वचा की झिल्लीनुमा परतों को साधे रहते है।
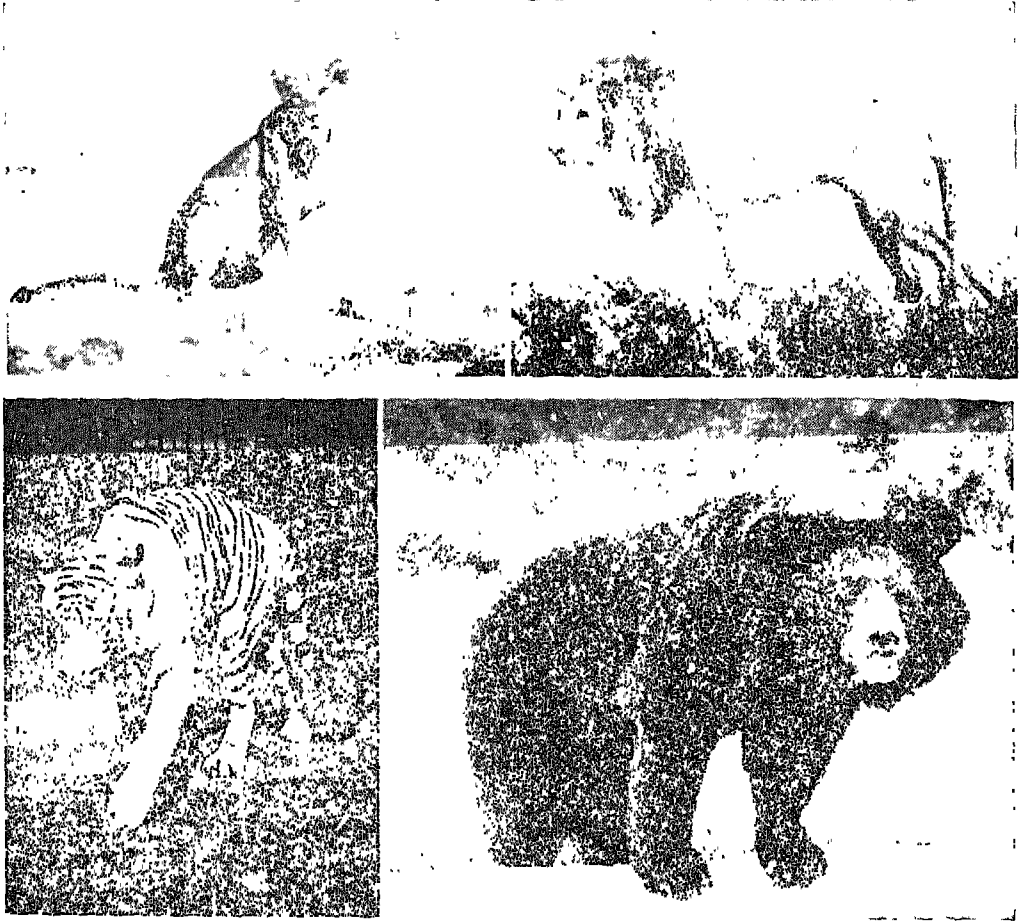
चित्र 28.13 गुजरात के गिर वनों के सिंहों की चमड़ी का रंग इकसार बादामी होता है और उसकी दुम के छोर पर बालों का गुच्छा बना होता है। झबरीले अयाल के कारण नर सिंह, सिंहनी से खूबसूरत लगता है। बाघ की काली धारियों वाली बादामी देह सुंदर लगती है। बाघनी से बाघ की देह लंबी होती है, कभी-कभी तीन मीटर तक। भालू के लंबे और मोटे बाल होते हैं और हुकदार पंजे होते हैं। मदारी लोग इसे पकड़कर तरह-तरह के तमाशे दिखाते हैं।

ह्वेल (सिटेसिया–cetacea) : ह्वेल डॉल्फिन, शिंशुक या सूंस (porpoises) इस समूह के उदाहरण हैं। ये सभी जल-जीवन के लिए पूर्णत: अनुकूलित होते हैं। इनकी देह देखने मे मछली जैसी लगती है और अग्रपाद तैरने के पैडल बन गए हैं। पश्चपाद बिल्कुल गायब ही हो गए हैं। इनके बाह्यकर्ण भी नहीं होते और रोम केवल भ्रूणों में होते हैं। इनकी त्वचा के नीचे वसा (तिमि-वसा–blubber) की एक मोटी तह होती है, जो तीव्र शीत से इनकी रक्षा करती है। ह्वेल और डॉल्फिन अधिकतर ठंडे समुद्रों मे पाए जाते हैं। बड़े पुराने जमाने से लोग मांस, हड्डी और तेल के लिए ह्वेलों का शिकार करते रहे हैं। यह तेल किसी समय दिया जलाने के लिए काम में लाया जाता था। नीली ह्वेल कोई 30 मीटर लंबी होती है—यानी ज्ञात प्राणियों में सबसे लंबी (चित्र
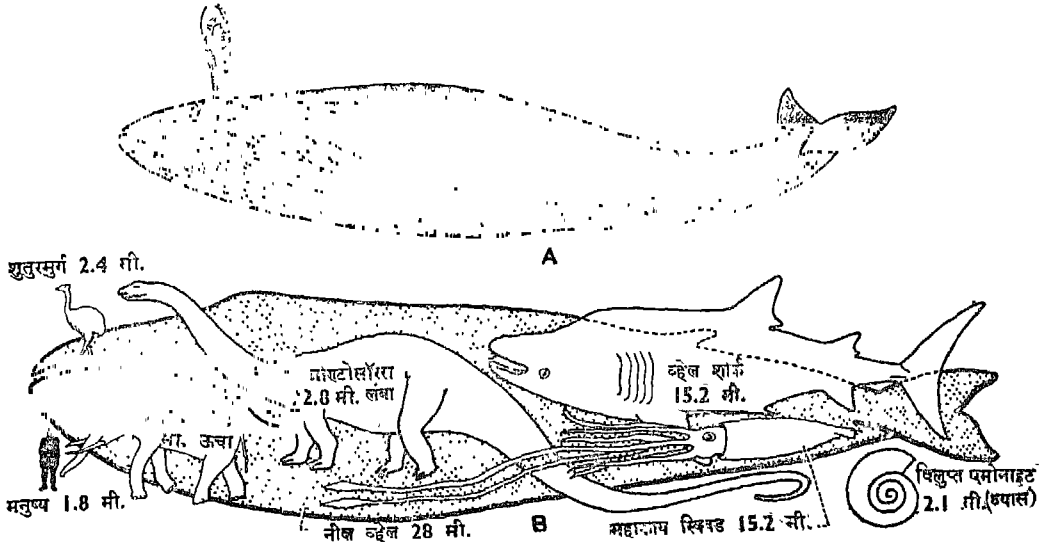
चित्र 28.14 A. नील ह्वेल—वर्तमान स्तनियों में ज्ञात सबसे बड़ा जंतु। मछली—जैसे इस स्तनी में रोम और पश्चपाद बिल्कुल नहीं होते। नासाद्वार सिर के ठीक ऊपर स्थित होते हैं। चित्र में एक घटना दिखाई गई है जिसे स्पाउटिंग (spouting) या जलोच्छ्वास कहते हैं। उसमें ह्वेल के नथुनों से निकाली गई यह गर्म या नम हवा सतह पर पहुँचने पर एकदम संघनित हो जाती है और लगता है जैसे फुहारा छूट रहा हो। B. ह्वेल की तुलना में अन्य जंतुओं के आकार। आधार : टी० आई० स्टोरर एंड आर० एल० यूसिंगर, "जनरल जूलोजी", मैकग्रहिल बुक कंपनी, इंक०, न्यूयार्क, 1957।

23.14)। व्हेल अपने आहार के लिए मछलियों और दूसरे समुद्री प्राणियों का उपयोग करती है, जिनमें बड़ों से लेकर सूक्ष्मदर्शी से नजर आने वाले छोटे-छोटे जीव तक शामिल हैं। शिशुक या सूंस अलवण जल यानी मीठे पानी के स्तनी हैं। इनकी एक किस्म गंगा के कुछ निचले हिस्सों में पाई जाती है।

श्रेष्ठतर मस्तिष्क वाले स्तनी (प्राइमेट—Primates) : बंदर, लीमर, कपि (ape) और मानव इसी समूह के प्राणी हैं। इस समूह का प्रमुख अभिलक्षण (characteristic) है—हाथ, जिससे ये प्राणी चीजों को पकड़ सकते हैं। अंगूठा शेष अँगुलियों से बहुत कुछ मुक्त होता है और उसे अनेक प्रकार के हस्त-कौशल दिखाने के लिए और पकड़ने के लिए अँगुलियों के सामने लाया जा सकता है। केवल आदमी को छोड़कर बाकी भी सभी प्राइमेटों के पाँव भी परिग्रहण(grasping) कर सकते हैं। इस परिग्रहण शक्ति के कारण प्राइमेट वृक्षों की एक शाखा से दूसरी शाखा पर चढ़ते हुए या टहनियों पर झूलते हुए वृक्षचर जीवन बिता सकते हैं। अधिकतर प्राइमेट अपने दो पाँवों पर सीधे खड़े होकर जमीन पर चल सकते हैं। नखरों की जगह इनके हाथ और पाँव की अँगुलियों में नाखून होते हैं। इनकी आँखें अपेक्षाकृत अधिक सामने स्थित होती हैं। इस व्यवस्था से उन्हें दूरी का ठीक-ठीक अंदाज लगाने में अधिक आसानी होती है और उनकी दृष्टि गहरी होती है। व्यवहारतः सभी प्राइमेटों में वक्षस्थल पर दो चूचक होते हैं। उनका मस्तिष्क सभी प्राणियों से अधिक परिवर्धित होता है। हालांकि शारीरिक दृष्टि से प्राइमेट अन्य प्राणियों से बढ़कर नहीं है, पर श्रेष्ठतर तंत्रिका-तंत्र (nervous system) और सुदक्ष हाथों के कारण वे सबसे 'बड़े' और सफल प्राणी हैं।

नई दुनिया यानी अमेरिका के बंदरों की नाक चपटी और दुम परिग्राही (prehensile) होती है तथा उनके गालों में थैलियाँ नही होती। पुरानी दुनिया के बंदरों में अपरिग्राही दुम होती है और गालों में थैलियाँ होती हैं। हमारे यहाँ का सामान्य बंदर रीसस है (चित्र 28.15)। यह बागों और खेतों का प्रमुख नाशक जीव (पेस्ट) है। दुनिया भर की प्रयोगशालाओं के लिए ये बंदर निर्यात

चित्र 28.15 भारत में तालाबों के आस-पास और तीर्थस्थानों में रीसस बंदर उछलकूद मचाते रहते हैं। ये चिकित्सा-विज्ञान-संबंधी खोजों में, खासतौर से पोलियो वाइरस संबंधी खोजों में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। सौजन्यः अमरीका सूचना विभाग, नई दिल्ली।
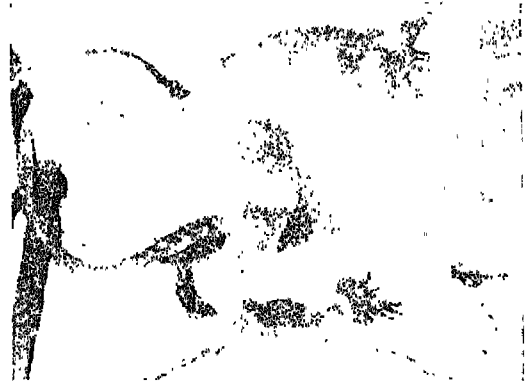
चित्र 28.16 लंगूर, 'पुरानी दुनिया' का एक और बंदर जो भारत में खूब मिलता है। खाने की चीजें और घरेलू सामान चुरा ले जाने के लिए यह बड़ा बदनाम है।

चित्र 28.17 सबसे छोटा मानव-सदृश कपि, गिब्बन या हूलाक। यह भारत में केवल असम के वनों में पाया जाता है। लंबी बाहों द्वारा यह पेड़ों की शाखों पर झूलता हुआ आसानी से दूरियाँ तय कर लेता है।

चित्र 28.18 बड़े मानव-सदृश कपि। ओरांग-उटान जिन्हें 'वनमानुष' भी कहते हैं, एक तरह से यह बोर्नियो और सुमात्रा के घने जंगलों में सीमित हैं। भारी-भरकम होने के बावजूद यह बड़ी फुर्ती से एक पेड़ से दूसरे पर झूल जाता है। गोरिल्ला अफ्रीका में पाया जाने वाला सबसे लंबा और भयानक कपि है।

किए जाते हैं। काले चेहरे और लंबी दुम वाले लंगूर बंदर एक दूसरी किस्म में आते हैं (चित्र 28.16)।

इस समय केवल चार किस्म के मनुष्य-जैसे 'महाकपि' वर्तमान हैं : गिब्बन, ओरांग-उटान, गोरिल्ला और चिम्पैंजी (चित्र 28.17) से (28.19)। वे सीधे चलते हैं और उनकी बाँहें लंबी होती हैं, जिनसे वे पेड़ों से झूल सकते हैं। इनकी दुम नहीं होती। इन महाकपियों में गिब्बन सबसे छोटा है, जिसका कद आदमी के कद के आधे से कम होता है। लेकिन देह के अनुपात से इसकी बाँहें सबसे अधिक लंबी हैं, जो खड़े रहने पर भी जमीन छूती हैं। यह भारत समेत सारे दक्षिण पूर्व एशिया में पाया जाता है। ओराग-उटान की बाँहें भी लंबी होती हैं, बाल सुर्खी लिए होते हैं और वह बोर्निया तथा सुमात्रा में ही सीमित है। गोरिल्ला अफ्रीका के कई भागों में पाया जाता है। यह आदमी से भी लंबा होता है और इसका वजन 250 किलो ग्राम तक हो सकता है। दूसरे

चित्र 28 19 चिम्पैंजी—अफ्रीका का अक्लमंद और हंसोड़ कपि। हालाँकि इसके हाथ आदमी से मिलते हैं पर उनमें पकड़ने की क्षमता नहीं होती, खासतौर से अँगूठे द्वारा।

कपियों के विपरीत यह जमीन पर रहता है। चिम्पैंजी भी अफ्रीका मे ही पाया जाता है और गोरिल्ला से छोटा होता है। यह बडा बुद्धिमान प्राणी है और इसको बहुत से काम आदमी-जैसी कुशलता से करना सिखाया जा सकता है।

मानव--श्रेष्ठतम स्तनी

सभी वर्त्तमान मनुष्य एक ही स्पीशीज 'होमो सैपिएन्स' (Homo Sapiens--ग्रीक होमो=मानव; सैपेरे=बुद्धिमान होना) मे आते हैं। यह सही है कि कॉकेसॉइड, मंगोलॉइड, नीग्रोइड और आस्ट्रेलॉइड आदि मानव की विविध प्रजातियाँ देह-रचना, रोम, मुखाकृति इत्यादि अनेक बातो मे एक-दूसरे से बहुत भिन्न है, परंतु फिर भी उनमे परस्पर विवाह द्वारा संतान पैदा हो सकती है। यही कारण है कि समस्त मानव-प्रजातियों को एक ही स्पीशीज में रखा गया है।

मानव स्पष्टतः स्तनी प्राणी है। वर्तमान प्राणि-जगत् में उसके निकटतम संबंधी महाकपि (गोरिल्ला, चिम्पैजी, ओरांग-उटान और गिब्बन) है। बीते हुए युगो में मानव की अनेक स्पीशीज रहती थी, जिनमें से कुछ हमसे बहुत मिलती-जुलती थीं तो दूसरी बहुत कुछ भिन्न थीं। मानव और महाकपियों में कई समताएँ हैं, जैसे कि दुम का और गालो में थैलियों का न होना। इन्ही समताओ के आधार पर हमें यह मानना पड़ता है कि मानव और महाकपि दोनों का विकास किसी बंदर-जैसे प्राणी से हुआ है। बाद में उस एक ही पूर्वज से प्राणियों के दो समूह बन गए, एक तो वृक्षवासियों का जो कुछ झुककर चलते थे और पेड़ों से झूलने के लिए जिनके पास लंबे प्रकोष्ठ (forearm) होते है, और अपेक्षाकृत बड़े मस्तिष्कवाले और सीधे खड़े होकर चलने वाले भूमिवासी (मानव)। मानव-विकास की अनेक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों में कुछ ये थी--चपटे और अपेक्षाकृत अधिक सीधे खड़े चेहरे का विकास, भौहों के उभार घटते जाना, जबड़े का कम बाहर निकला होना, स्पष्ट ठोढ़ी, अपेक्षाकृत बड़ा मस्तिष्क, दक्ष हाथ, देह पर के रोमों का घटते जाना और लगातार वर्धनशील केश। इन शारीरिक परिवर्तनों से भी अधिक महत्वपूर्ण व्यवहार-संबंधी और सांस्कृतिक विशेषताओं का परिवर्धन था। एक सामाजिक प्राणी के रूप मे मानव का निरंतर विकास हो रहा है--उच्च से उच्चतर मेधा, सीखने की क्षमता, भाषा के माध्यम से अपनी बात कह सकना और हाथों तथा औजारों से काम कर सकना। इन्ही सब अभिलक्षणों के कारण मानव सतत प्रगतिशील सभ्य समाज का विकास कर सका है। वह अपने चारों ओर की परिस्थितियो पर लगातार अपना स्वामित्व बनाता जा रहा है।

मानव--पृथ्वी का स्वामी : मानव के विकास की सबसे पहली और सबसे लंबी सांस्कृतिक अवस्था को पाषाण-युग कहा जाता है, जिसमे वह पत्थर के औजार इस्तेमाल करता था। 800,000 ई० पू० और 6000 ई० पू० के बीच यही युग था। पाषाण युग का मानव प्राणि-समाज का अविभाज्य अंग था, जो कि लगभग पूरी तरह शिकार पर निर्भर था। तब उसकी संख्या उपलब्ध शिकार के अनुसार सीमित होती थी। हिसाब लगाया गया है कि पाषाण-युगी मानव की जनसंख्या कोई एक करोड़ के करीब थी।

पाषाण-युग के विदा होते-होते कृषि के विकास और पशुओं को पालतू बनाने के रूप में पृथ्वी पर एक महान् सांस्कृतिक क्रांति आई। इस नई प्रगति ने तब के जीवन की दिशा ही बदल दी। जो अभी तक खानाबदोश शिकारी का जीवन बिता रहे थे, वे अब अन्न-उत्पादक के रूप में समुदाय बनाकर बसने लगे। सदियाँ गुजर गईं। फिर गाँव और शहर बस गए। शिल्प और उद्योगों की तेजी से वृद्धि हुई। मिश्र और सिधु घाटी जैसी महान् सभ्यताओं का जन्म इसी युग में हुआ।

काँसे के उपयोग के साथ लगभग 3000 ई०पू० में धातु-युग का श्रीगणेश हुआ और उसके बाद कोई 1400 ई० पू० से लोहे के साथ-साथ बड़े पैमाने पर नगरीकरण शुरु हुआ। अन्न को एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने और संग्रह करके रखने की सुविधाएँ बढ़ी और इस सबके साथ-साथ दुनिया की आबादी में भी मंथर गति से बढ़ोतरी शुरू हुई। औद्योगिक क्राति के श्रीगणेश के बाद पिछले दो सौ वर्षों में विश्व की जनसंख्या की वृद्धि-दर बहुत ऊँची पहुँच गई है। भारतीय उपमहाद्वीप (भारत और पाकिस्तान) की आबादी पिछले 100 वर्षो में तीन-गुनी से भी ज्यादा बढ़ गई है। आजकल भारत की कुल आबादी
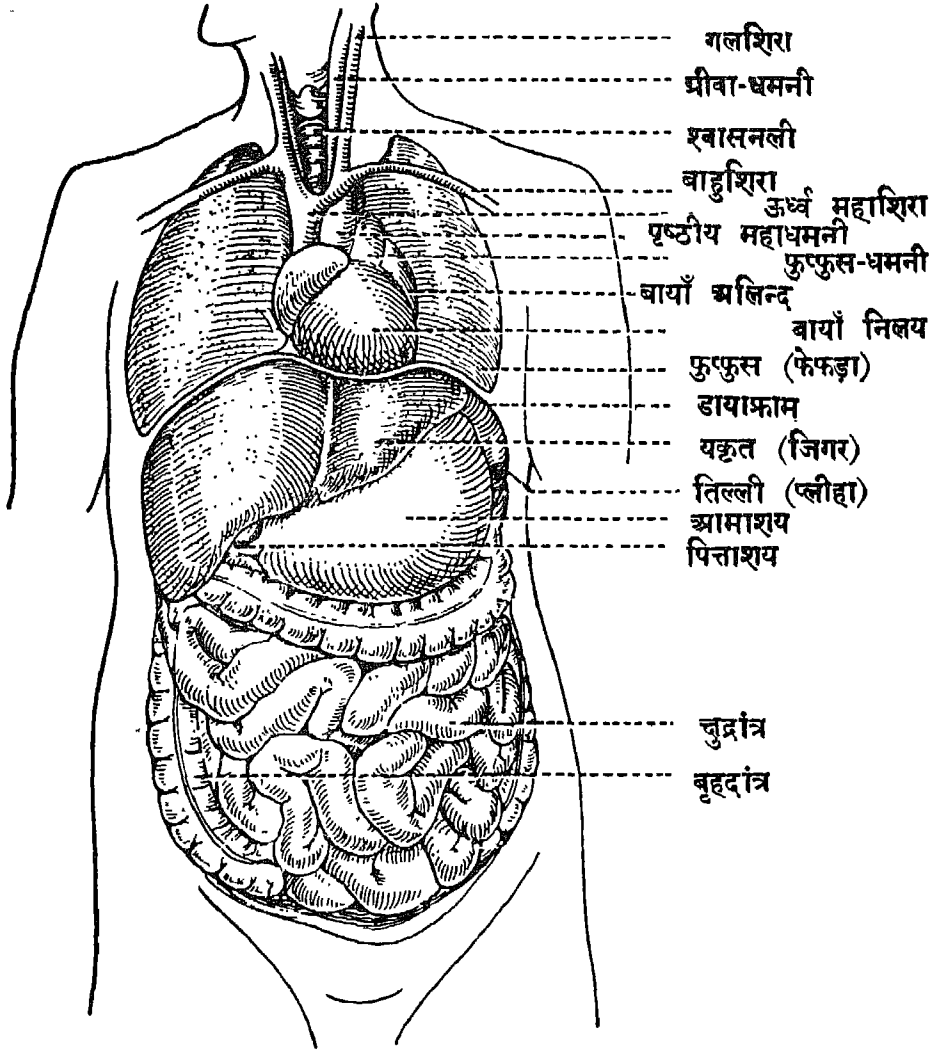
चित्र 28.20 विविध आंतरिक अंगों की स्थिति—अधर तल से। आधार : डब्ल्यू० सी० लीवर, "जनरल बायोलोजी", दी सी० वी० मोस्बाई कंपनी, सेंट लुई, 1962।

52 करोड़ से ऊपर है और सारी दुनिया की जनसंख्या कोई साढ़े तीन अरब है।

मानव : एक जीव

हालाँकि सभी प्राणियों में आदमी का दर्जा सबसे ऊपर है और वह दो पैरों पर खड़ा रह सकता है, परंतु फिर भी उसके सभी प्रमुख तंत्र जैसे कि तंत्रिका-तंत्र, परिसंचरण-तंत्र, पाचक-तंत्र, उत्सर्जन-तंत्र, श्वसन-तंत्र तथा जनन-तंत्र इत्यादि वैसे ही हैं, जैसे कि अन्य अधिकांश कशेरुकियों के होते हैं। त्वचा, पेशी और कंकाल का कुछ भाग मिलकर जो घेरा बनाते हैं, उसमें देहगुहा होती है। देहगुहा एक पेशीमय **डायाफ्राम** (diaphragm) द्वारा दो कक्षों में बँटी रहती है (चित्र 28.20)। डायाफ्राम के ऊपर **वक्ष-गुहा** (chest cavity) होती है जिसमे फेफड़े और हृदय बद होते हैं,

डायाफ्राम के नीचे **उदर गुहा** (abdominal cavity) होती है, जिसमें देह के अधिकतर अंग स्थित होते हैं। पूरी देह के सभी अंग मिलाकर **आंतरांग** (viscera) कहे जाते हैं। तंत्रिका-तंत्र का प्रमुख भाग खोपड़ी और कशेरुक-दंड में बनी गुहा में रखा होता है।

त्वचा

त्वचा पूरी देह को ढँके रहती है और भीतर स्थित ऊतकों की रक्षा करती है। त्वचा न हो तो कोमल ऊतकों को बड़ी जल्दी चोट पहुँचे, हानिकर जीवाणु फौरन हमला बोल दें और देह के द्रव बाहर निकल जाएँ। छूने और दर्द होने की अनुभूति, तथा दाब, ताप, और शीत के संवेद का हमें त्वचा द्वारा ही अवगम (perceive) होता है। यही देह ताप को नियमित करती है, पसीने के रूप में कुछ वर्ज्य पदार्थों को बाहर निकालती है और सूर्य के प्रकाश की सहायता से विटामिन D के निर्माण में योगदान देती है। यह अतिरिक्त वसा का संग्रह भी करती है।

त्वचा में दो प्रमुख परतें होती हैं--अधिचर्म (एपिडर्मिस) और चर्म (डर्मिस) (चित्र 28.21)। स्वयं अधिचर्म कोशिकाओं की अनेक परतों से बना होता है। ठीक सतह पर की परत मृत, चपटी और दृढ़ कोशिकाओं की बनी होती है। जब आप त्वचा को खुरचते हैं तो जो खुरदरी-सी चीज उपट आती है वह इन्हीं मृत कोशिकाओं की परत होती है। इस कड़ी परत के नीचे वर्धनशील कोशिकाओं की परत होती है जो बाहरी परत से झरी कोशिकाओं की जगह नई कोशिकाएँ बनाती रहती हैं। नाखून भी मृत और श्रृंगीय द्रव्य के बने होते हैं जो अधिचर्म या एपिडर्मिस की वर्धनशील परत की कुछ विशिष्ट कोशिकाओं से ही पैदा होता है।
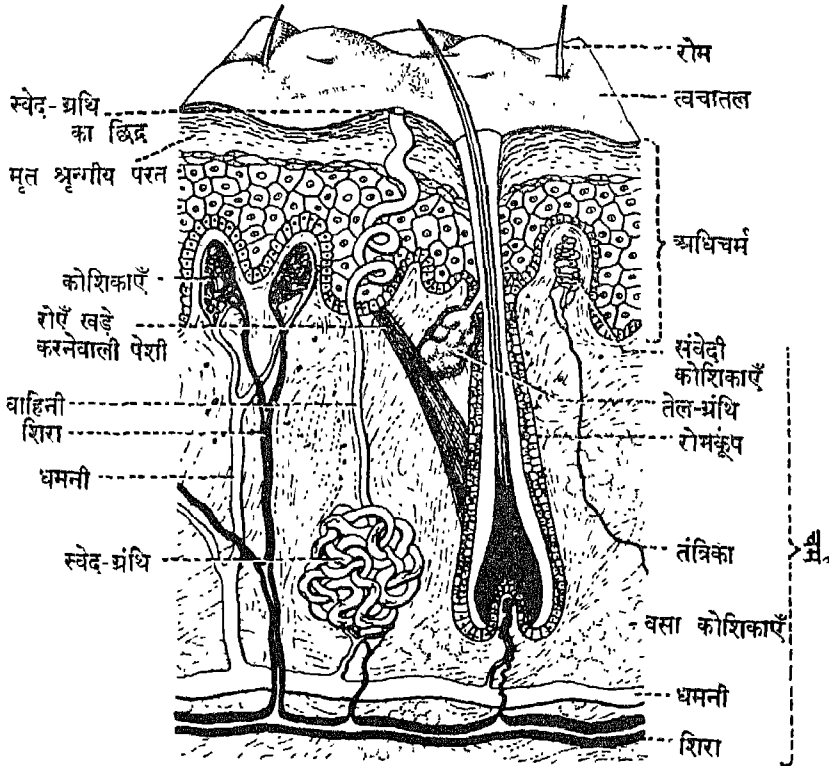
चित्र 28.21 मानव की त्वचा का खड़ा सेक्शन (वर्टीकल सेक्शन) जिसमें चर्म (डर्मिस), अधिचर्म (एपिडर्मिस) रोम, स्वेद-ग्रंथि तथा तेल-ग्रंथि दिखाई गई हैं। विविध स्त्रोतों से।

भीतरी परत चर्म या डर्मिस कही जाती है। यह एक सघन योजी ऊतक से बनी होती है, जिसमें रुधिर-वाहिकाओं, तंत्रिका-तंतुओं और त्वचा ग्रंथियों का जाल बिछा रहता है। चर्म के अंदरूनी हिस्से में **स्वेद-ग्रंथियाँ** घुमड़ी हुई गाँठो के रूप में होती है और हर स्वेद-ग्रंथि में से एक बारीक नलिका निकलकर बाहर सतह पर **स्वेद-रंध्र** में खुलती है। स्वेद यानी पसीने के वाष्पन (evaporation) से जो ठंडक मिलती है, उससे देह का तापमान नियमित करने मे सहायता मिलती है। सयोगवश इस पसीने के साथ स्वेद-ग्रंथियाँ कुछ लवणो और थोड़ी मात्रा में यूरिया जैसे उत्सर्जन-द्रव्य भी निष्कासित कर देती है। भारत जैसे गर्म देशों में रहने वाले लोगों की त्वचा पर प्रति वर्ग मिलीमीटर में ठंडे देशों के निवासियों के त्वचातल की अपेक्षा अधिक संख्या मे स्वेद-रंध्र होते हैं।

तेल-ग्रंथियाँ आमतौर पर रोम-कूपों से संबद्ध होती हैं। अधिचर्म की कोशिकाओं की आंतरिक परत के एक भाग के अंदर की ओर बढ़कर थैली-सी बना लेने से तेल ग्रंथि बन जाती है। इनमें से एक कुदरती तेल निकलता है, जो रोम पर बहता हुआ त्वचा की सतह पर पहुँच जाता है। जाड़ो में त्वचा जो सूखने लगती है—इसका कारण यही है कि उन दिनों तेल-ग्रंथियो की सक्रियता कम हो जाती है।

रोम एपिडर्मिस या अधिचर्म के विशेष उद्वर्ध होते हैं, जिनकी जड़ें चर्म या डर्मिस की गहराई तक धँसी रहती हैं। आज ऐसा विश्वास है कि मनुष्य-देह पर के रोम धीरे-धीरे कम हो रहे हैं, लेकिन आदिम मानव की देह पर घने बालों का मोटा खोल उसकी विशेषता थी। खोपड़ी पर के लंबे बाल लगातार बढ़ते रहते हैं। पर भौंहों, पलकों और नासाद्वारो तथा बाह्यकर्ण नालों पर स्थित रोमों की वृद्धि सीमित होती है और उनका कार्य रक्षा करना होता है। कुछ भाग रोमहीन होते है, जैसे कि होठ, हथेली और तलुए। बाल सफेद होने का कारण यह है कि उनमे काला रंग पैदा करने वाले द्रव्य का अभाव हो जाता है। मुख्यतया पुरुषों में ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती है, त्यो-त्यों बाल झरते जाने की प्रवृत्ति मिलती है और उनका सिर गंजा होने लगता है। गंजापन सिर की कुछ बीमारियों की वजह से हो सकता है। कभी तो यह केवल आनुवंशिक लक्षण ही होता है।

त्वचा के रंग-विशेष के लिए डर्मिस या चर्म में मौजूद भिन्न-भिन्न वर्णक और रुधिर कोशिकाओं का वितरण ही उत्तरदायी है। मानव की भिन्न प्रजातियों में वर्णकों की भिन्न मात्राएँ होती हैं। कड़ी धूप वाले प्रदेशों के निवासियों की चमड़ी मे काले रंग की प्रवृत्ति होती है।

कंकाल

मानव-कंकाल के प्रमुख भाग (चित्र 28.22) तो मेंढक के समान ही है, पर एक उल्लेखनीय भेद यह है कि आदमी के कंकाल में **पसलियाँ या पर्शुकाएँ** (ribs) होती है। कान की तीन छोटी-छोटी अस्थियों को छोड़कर हमारी देह में ठीक 200 अस्थियाँ होती हैं। मस्तिष्क-कोश (brain-box) असाधारण रूप से बड़ा होता है और कई चपटी और मुड़ी हुई अस्थियों से बना होता है। एक वयस्क में ये अस्थियाँ घनिष्ट रूप से परस्पर फँसी होती है, परंतु बच्चों में वे कोमल होती हैं और पूरी तरह जुड़ी नही होतीं। चेहरे में 14 अस्थियाँ होती है, पर केवल निचला जबड़ा चलाया जा सकता है। रीढ़ में 24 मुक्त कशेरुकाएँ, एक **सैक्रम** (पाँच कशेरुकों के जुड़ने से बनी) और एक **अनुत्रिक** (coccyx—चार हड्डियों के जुड़ने से बनी) जो कि दुम का अवशेष (vestige) है, होते हैं।

बारह जोड़ी पसलियों से **वक्षीय करंड** (thoracic basket) बनता है, जो कोमल फेफड़ों और हृदय की रक्षा करती है। हर पसली रीढ से जुड़ी होती है और वक्ष पर गोलाई में मुड़ती हुई सारी पसलियाँ एक पिंजरा-सा बना लेती है। पसलियों के ऊपरी सात जोडे मध्यभाग में स्थित लंबी वक्षास्थि (breast bone) से जुड़े होते है। अगले तीन जोड़े एक दूसरे के ऊपर पसली से जुड़े होते है। आखिरी दो जोड़ी पसलियाँ वक्षास्थि से जुड़ी नहीं होती और मुक्त पर्शुकाएँ (floating bones) कही जाती है।

अंस-मेखला (shoulder girdle) में एक जत्रुक (collar bone) या हँसली होती है और दोनों ओर एक-एक **अंस-पटल** (shoulder blade) होता है। बाँह और हाथ मे 30 हड्डियाँ होती हैं। श्रोणि मेखला (hip girdle) दो बड़ी अस्थियों की बनी होती हैं। ये अस्थियाँ एक खोखली चौकी-सी बना लेती

हैं जो धड़ का भार संभालती हैं और उदर में स्थित अंगों को सहारा देती हैं। कोई 30 हड्डियाँ है, जिनसे टाँग और पाँव बनते हैं। ऊपर बताई गई वास्तविक अस्थियों के अलावा अनेक अतिरिक्त 'बीजाकार अस्थियाँ' होती हैं, जिन्हें **वर्तुलिका** (sesamoid) कहते हैं। इनमें से एक जानु फलक (knee cap) है, जिसे आप बैठे हुए हों, तो घुटने पर महसूस कर सकते हैं।
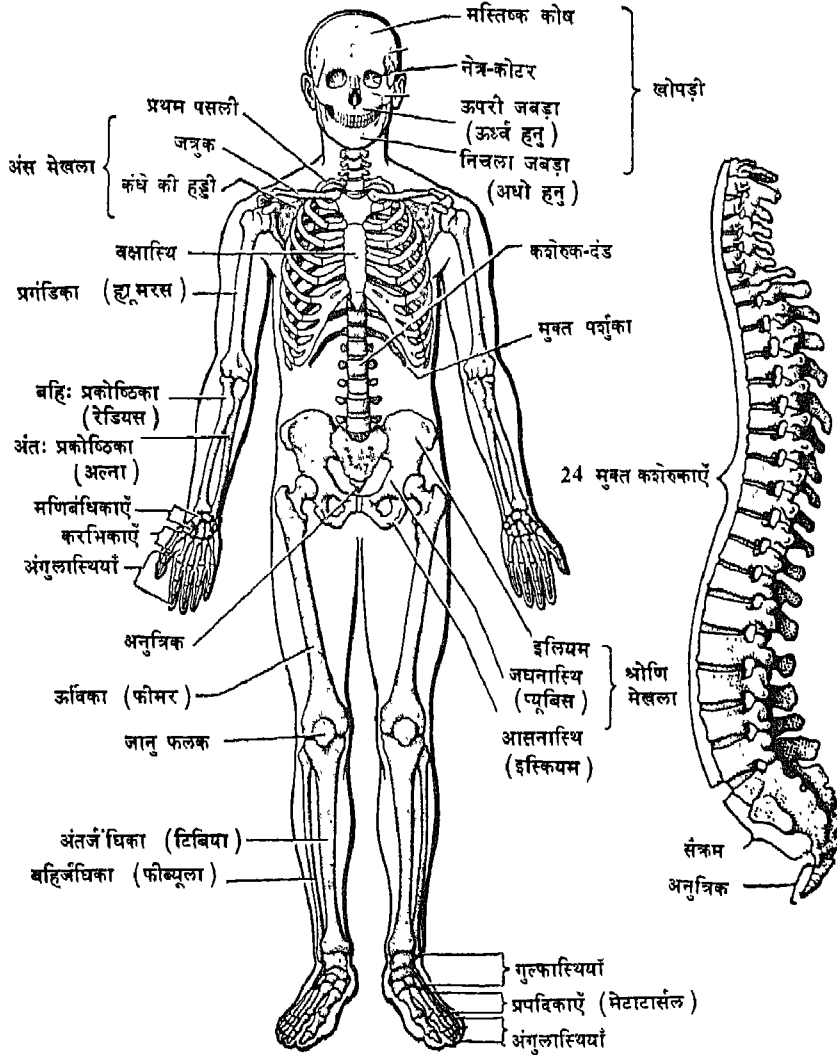
चित्र 28.22 मानव-कंकाल (सामने से) और कशेरुक-दंड (बाईं ओर से)। स्रोत : डब्ल्यू० एफ० पाली, "दी वर्ल्ड ऑफ लाइफ : ए जनरल बायोलोजी", हाफ्टन मिफ्लिन कंपनी, बोस्टन, 1949।

पाचन-तंत्र

पाचन-तंत्र की शुरूआत मुख से होती है, जिसमें कई विशेषताएँ होती हैं । होठ मुँह बंद करते हैं, बोलने मे सहायता करते है और कुछ संवेदन भी ग्रहण करते हैं (खास तौर से स्पर्श और ऊष्मा)। चबाने और निगलने की क्रिया में जीभ को काफी घुमाना-फिराना होता है । यह स्वाद मालूम करती है, भोजन करने के बाद दाँतों में फँसे अन्न-कण साफ करती है और बोलने में भी मदद करती है । मुख-गुहा की छत यानी **तालु** आगे की ओर तो बड़ी होती है, पर पीछे की ओर कोमल । एक कोमल घुडीनुमा **यूवुला** (uvula) तालु के पिछले भाग से नीचे गले में लटका रहता है ।

वयस्क में 32 दाँत होते है (चित्र 28.23) । वे केवल अन्न निगलने में ही नहीं बल्कि मुख की आकृति बनाए रखने में भी सहायता करते हैं । आपमें से बहुतों के मुँह में अभी चार अक्ल दाढ़ें नही निकली होंगी क्योंकि वे आम तौर पर सत्रहवें साल के बाद निकलती है। दाँतों के आकार और आकृति अलग-अलग होती हैं । सामने
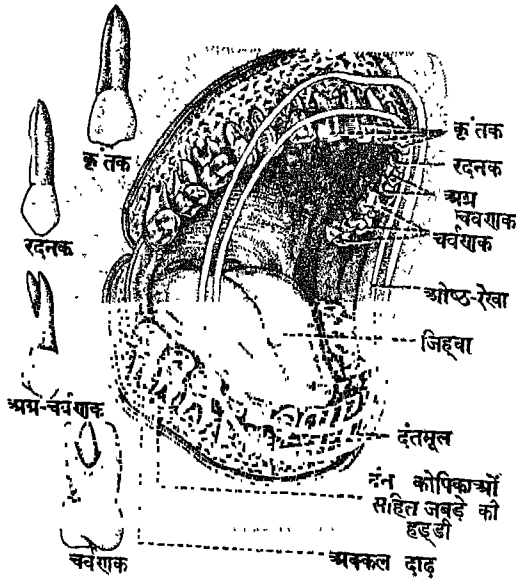
चित्र 28.23 मनुष्य के विविध प्रकार के दाँत और उनकी स्थिति का रेखाचित्र । आधार : "अंडरस्टैंडिंग साइंस", भाग-3, अंक-27, सैम्पसन लो, मासर्टन एंड कंपनी, लि०, लंदन, 1962।

के दाँत **कृंतक** (incisors) होते हैं । ऊपर और नीचे के जबड़ो मे चार-चार कृंतक होते है जिनके किनारे सीधे और नुकीले होते है। इनके बाद **रदनक** (canine) आते हैं। कृंतको के दोनों ओर एक-एक रदनक होता है। ये शंकु की आकृति के होते हैं, और चीरने-फाड़ने का काम करते है (मनुष्य में यह कार्य इतने महत्त्व का नहीं है, लेकिन बिल्ली और शेर जैसे शिकारी जानवरों में मांस को फाड़ने के लिए बड़े तेज रदनक काम आते हैं)। रदनकों के बाद दोनों ओर पाँच-पाँच चबाने वाली दाढ़ें होती है । इनकी सतह बहुत कुछ सपाट-सी होती हैं, पर उसमें जगह-जगह उभरने और गढ़े होते हैं । इनमें से पहले दो छोटे होते है और **अग्र-चर्वणक** (premolar) कहे जाते है । बाद के तीन मजबूत **दाँत चर्वणक** (molar) हैं । दोनों ओर का आखिरी चर्वणक ही **'अक्ल की दाढ़'** (wisdom tooth) कहा जाता है ।

जब आप बच्चे थे, तो आपके मुँह में दूसरे दाँत थे—**'दूध के दाँत'** । इन 'दूध' के दाँतों में बारह चर्वणक शामिल नहीं हैं (हर जबड़े में दोनों ओर ऊपर-नीचे तीन-तीन) क्योंकि वे सभी जीवन में केवल एक बार निकलते है । 'दूध' के दाँत प्रायः छः महीने से लेकर दो वर्ष की आयु के बीच निकलते है । आम तौर पर वे छठे साल में गिरने शुरू होते हैं और फिर उनकी जगह स्थायी दाँत निकल आते हैं ।

एक सामान्य दाँत के तीन भाग होते हैं : जड़, गर्दन और किरीट (चित्र 28.24) । किरीट वह भाग है जो मसूढ़ों से बाहर निकला रहता है । गर्दन, ठीक मसूढ़े के पास वाला हिस्सा है और जड़ वह जो जबड़े की हड्डी में बनी कूपिकाओं के भीतर मजबूती से धँसी रहती है। दाँत को बनाने वाला मुख्य पदार्थ **डेन्टीन** है । दाँत के खुले हुए भाग पर एक बड़े पदार्थ **इनेमल या दंतवल्क** की तह चढ़ी रहती है । एक तरह का सीमेन्ट और एक तंतुमय झिल्ली दाँतों के जमाव को मजबूत बनाती है । जड़ में एक पतला आधारीय द्वार होता है जो छोटी-सी मज्जा-गुहा (pulp-cavity) में खुलता है । इस गुहा में छोटी-छोटी तंत्रिकाएँ और रुधिर वाहिकाएँ होती है, जो पतले आधारीय द्वार में होकर गुहा तक पहुँचती हैं । कृंतकों और रदनकों में तो हर दाँत की एक जड़ होती है पर अग्र-चर्वणकों में दो और चर्वणकों में तीन जड़ें हो

हैं। हमारे दाँत हर रोज कड़ी मेहनत करते है, पर वे घिसते नहीं हैं, क्योंकि उनके किरीट पर सख्त इनेमल या दंतवल्क चढ़ा रहता है।

साफ दाँत खूबसूरती ही नहीं बढ़ाते, बल्कि तंदुरुस्ती के लिए बहुत फायदेमंद भी हैं। दिन भर में कम-से-कम दो बार तो दाँत साफ करने ही चाहिए और यदि संभव हो तो जब भी भोजन करें उसके तुरंत बाद ही दातुन या ब्रुश करें, नहीं तो दाँतों के बीच की
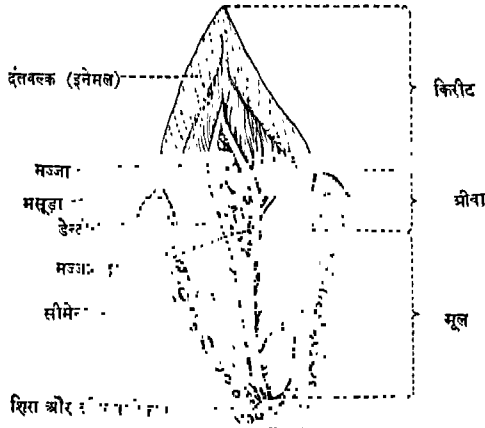
चित्र 28.24 कृंतक का अनुदैर्ध्य सेक्शन। आधार : ई. क्रोबर, डब्ल्यू० एच० वुल्फ एंड आर० एल० वीवर, "बायोलोजी", डी० सी० हीथ एंड कंपनी, बोस्टन, 1960।

जगहों में छूटे हुए अन्न-कण वहाँ पड़े-पड़े सड़ने लगते हैं और एक किस्म का अम्ल बनाते हैं जो दंतवल्क या इनेमल को प्रभावित करता है। यह अम्ल दाँतो में सुराख बना देता है। मसूढ़ो और दाँतों को नीरोग रखने के लिए आपके भोजन में कैल्सियम और विटामिनो की उचित मात्रा होनी चाहिए। ताजे फलों और तरकारियों से मिलनेवाला विटामिन C **स्कर्वी** रोग (जिसमें मसूढ़े फूल जाते हैं और उनसे खून आने लगता है) से बचाता है। 'धूप' वाला विटामिन यानी विटामिन D ठीक तरह से दाँत बनें, इसके लिए जरूरी है।

मुख में तीन जोड़ी **लार-ग्रंथियाँ** (salivary glands) होती हैं। एक जोड़ी तो निचले जबड़े के कोने में और दूसरी जोड़ी जीभ के नीचे मुख के तल में स्थित होती है। लार-ग्रंथियों की तीसरी जोड़ी गालों मे कान के सामने से नीचे तक फैली रहती है (चित्र 28.25)। ये ग्रंथियाँ ही **लार** निकालती हैं जो फिर वाहिनियों में होती हुई मुख-गुहा में पहुँचती है। कभी-कभी लार-ग्रंथियों का तीसरा जोड़ा एक वाइरस के संक्रमण के फलस्वरूप फूल आता है और **गलसुआ** (mumps) नामक रोग पैदा करता है।

चित्र 28.25 लार-ग्रंथियों की स्थिति। आधार : पी० बी० वीज, "बायोलोजी", मैकग्राहिल बुक कंपनी, इंको०, न्यूयार्क, 1954।

लार एक साफ और पनीला द्रव है जो मुख को गीला बनाए रखता है और भोजन को चबाने तथा निगलने में मदद करता है। यह आँशिक रूप से स्टार्च या मंड को शर्करा में बदल देता है। आपने यह महसूस किया होगा कि जब रोटी के कौर को अधिक देर तक चबाए चले जाते है तो उसमें मिठास आने लगती है। मुख लार द्वारा गीला रहने से बोलने में भी मदद मिलती है। उत्तेजना या डर के कारण जब मुख सूखने लगता है तो बोलने में कठिनाई होती है।

चबाया हुआ भोजन जिह्वा और कपोलों से गले में (यानी ग्रसनी pharynx में) धकेला जाता है। ग्रसनी में कई द्वार होते हैं, जैसे कि नासा-कोष्ठों (nasal chambers) के यूस्टेकी नलिकाओं (कान से आने वाली) के और श्वासनली (wind pipe) के। लेकिन सब कुछ इस तरह व्यवस्थित होता है कि भोजन सीधा ग्रसिका या ईसोफेगस में ही पहुँचता है (चित्र 28.26)। अगर किसी तरह संयोगवश अन्न का कोई कण श्वासनली में पहुँच गया तो हमें फौरन खाँसी आ जाती है और श्वासनली में प्रविष्ट हुआ अन्न बाहर आ जाता है।
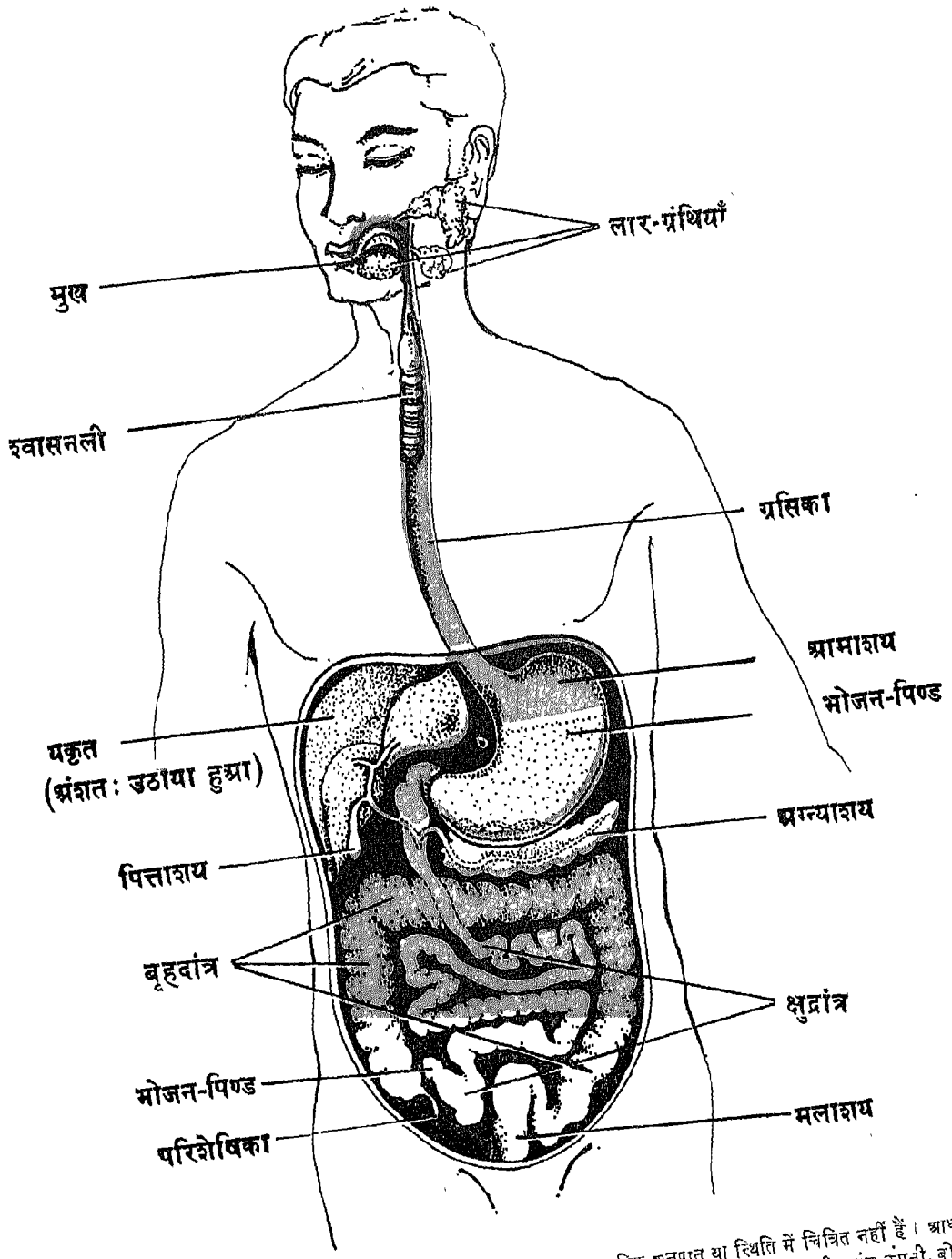
चित्र 28.27 पाचन क्षेत्र और पाचन में सहायक ग्रंथियाँ। अंग वास्तविक अनुपात या स्थिति में चित्रित नहीं हैं। आधार : ई० क्रोबर, डब्ल्यू० एच० वल्फ एंड आर० एल० वीवर, "बायोलोजी", डी० सी० हीथ एंड कंपनी, बोस्टन, 1960।

ग्रसिका या ईसोफेगस एक लंबी सीधी नली है जो गले या ग्रसनी को आमाशय से जोड़ती है (चित्र 28.27)। एक बार निगला हुआ अन्न ईसोफेगस मे प्रविष्ट हुआ कि फिर लगातार सिकुड़ने की क्रिया (क्रमाकुंचन — peristalsis) से अंदर खिसकता ही चला जाता है। यह क्रिया आहार-नाल (alimentary canal) के अस्तर की पेशियों द्वारा की जाती है।

आमाशय एक लचीला थैला-सा है जो कि डायाफ्राम के ठीक नीचे स्थित होता है। एक सामान्य व्यक्ति के आमाशय में औसतन दो या तीन लिटर भोजन भरा रह सकता है। आमाशय की भित्ति में बहुत ग्रंथियाँ (glands) होती है जिनमें से अनेक स्राव सीधे आमाशय की गुहा में रिसते रहते है। यहाँ पर पेशियो के बहुत तेजी से सिकुड़ने के कारण भोजन इस तरह मथा जाता है कि अंतत: उसके बहुत छोटे-छोटे अंश बन जाते हैं। इन आकुंचनों के कारण आमाशय के रस भोजन में अच्छी तरह से घुल-मिल जाते है और उसकी लुगदी-सी बन जाती है, जिसे **काइम** (chyme) कहते हैं। जिस जगह आमाशय छोटी आँत से मिलता है वहाँ एक बारीक रास्ता **जठर-निर्गम** (pylcrus) होता है जो वाल्व से ढका रहता है। इसका वाल्व रुक-रुक कर खुलता रहता है जिससे कि 'काइम' थोड़ा-थोड़ा करके छोटी आँत में पहुँचता रहे। भोजन करने के बाद कोई तीन-चार घंटे में पेट (आमाशय) खाली हो जाता है।

छोटी आँत या क्षुद्रांत्र लंबी, पतली और कुंडलीदार नलिका है जो कि लगभग सात मीटर लंबी और कोई 2·5 सें० मी० चौड़ी होती है। इसका पहला खंड लगभग 25 सें० मी० लंबा होता है और ग्रहणी (duodenum) कहलाता है। आंत्र के अस्तर में असंख्य अँगुलीनुमा सूक्ष्म **उद्वर्ध** (villi) होते हैं। इन उद्वर्धों के कारण आँत का अस्तर मखमली लगता है (चित्र 28.28)। प्रत्येक उद्वर्ध (villus) में से पाचक रस निकलते हैं। छोटी आँत, बड़ी आँत या बृहदांत्र (colon) से उदर के निचले दाएँ भाग में जाकर मिलती है। दोनों के मिलने की जगह एक फूली हुई थैली-सी होती है, जिससे एक छोटा और अँगुली-जैसा प्रवर्ध निकलता है जिसे **कृमिरूप परिशेषिका** (vermiform appendix) कहते हैं। मनुष्य में यह परिशेषिका एक अवशेषांग (vestigial organ) है, अर्थात् कभी किसी समय यह सक्रिय रही होगी परंतु अब इसका कोई उपयोग नहीं रह गया है और यह बहुत घट भी गई है। कभी-कभी परिशेषिका में सूजन आ जाती है तो **अपेंडिसाइटिस या परिशेषिका-**
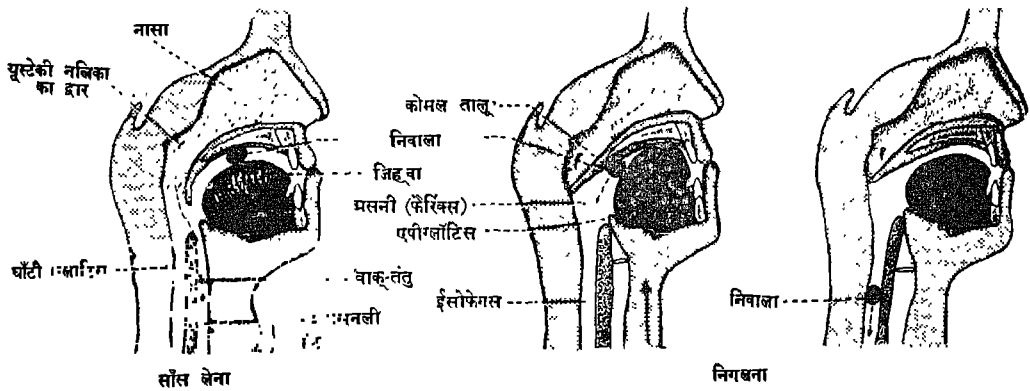
चित्र 28.26 निवाला निगलने और साँस लेने के समय जीभ और एपीग्लॉटिस की स्थिति। जीभ निवाले को धकेलकर ग्रसनी (फेरिंक्स) में पहुँचा देती है। इस समय एपीग्लॉटिस द्वारा वायु-मार्ग बंद कर दिया जाता है। कंठ (लैरिंक्स) ऊपर की ओर चढ़ता है और निवाला ग्रसिका (ईसोफेगस) में आ जाता है। आधार : सी० ए० विली, "बायोलोजी", डब्ल्यू० बी सांडर्स कंपनी, फिलाडेल्फिया, 1957।

शोथ नामक रोग हो जाता है। आम तौर पर इसका उपचार यही होता है कि शल्य-क्रिया या सर्जरी के द्वारा परिशेषिका काट दी जाती है। बड़ी आँत (बृहदान्त्र) प्रायः 1.5 मीटर लंबी और लगभग 7.5 से० मी० चौड़ी होती है।

आँतें बड़ी तेजी से रह-रहकर सिकुड़ती और फैलती है, जिससे कि उनमें के पाचक रस भोजन में भली-भाँति मिल जाते हैं। बड़ी आँत तक पहुँचते-पहुँचते 'काइम' बिल्कुल 'तरल' बन चुकता है। यहाँ यह एक तरह से बहुत धीमे-धीमे खिसकता है और इसमें का अधिकांश पानी रुधिर में अवशोषित हो चुकता है। धीरे-धीरे बड़ी आँतों में मौजूद भोजन-पिण्ड गाढ़े होकर अर्ध-ठोस हो जाते हैं और मल के रूप में अगले छोटे और पेशीमय भाग मलाशय (rectum) में जा पहुँचते हैं। मलाशय गुदा (anus) से बाहर की ओर खुलता है।

मोटे अन्न न होने से तथा कुछ अन्य कारणों से भोजन जब बहुत धीरे-धीरे खिसकता है तो आँतों में से बहुत अधिक पानी सोख लिया जाता है। इसके फलस्वरूप मल बहुत सूखा और सख्त हो जाता है और व्यक्ति कब्ज या **मलावरोध** (constipation) का शिकार हो जाता है। इसके विपरीत जब भोजन बहुत तेजी से खिसकता है (उत्तेजक पदार्थों या रोग के कारण) तो पानी का अवशोषण कम होता है और व्यक्ति पतले दस्त या **अतिसार** (diarrhoea) का शिकार हो जाता है।

आँतों से संबद्ध दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथियाँ हैं—यकृत और अग्न्याशय (pancreas)। हमारी देह में यकृत सबसे बड़ी ग्रंथि है। इसमें दाईं और बाईं पालियाँ (lobes) होती है जो कि डायाफ्राम के ठीक नीचे स्थित होती है पर उनका अधिकांश दाईं तरफ ही रहता है। यह एक भूरा-हरा द्रव पैदा करता है, जिसे पित्त (bile) कहते हैं। अनेक पित्त-वाहिनियों (bile-ducts) में बहता हुआ यह पित्त पित्ताशय में पहुँचता है जहाँ यह काफी गाढ़ा हो जाता है। यहाँ से वाहिनी के निचले हिस्से में होता हुआ पित्त पित्ताशय से ग्रहणी (duodenum) में पहुँचता है। पित्त में कुछ लवण और वर्णक (pigments) होते है। पृष्ठ 362 पर यकृत के पाचनसंबंधी तथा अन्य कार्य बताए गए हैं। अग्न्याशय लंबी, कई पालियों वाली सफेद-सी ग्रंथि है जो आमाशय के ठीक पीछे स्थित होती
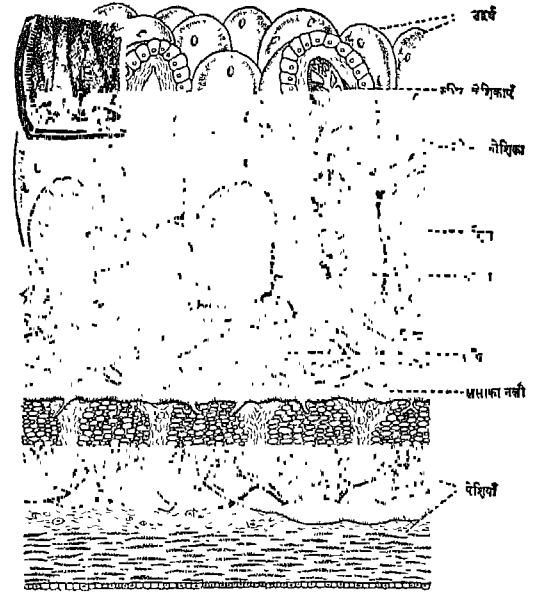
चित्र 28.28 आँत्र की रचना। ऊपर कोने का छोटा चित्र आँत्र-भित्ति के एक खंड की भीतरी गुदगुदी सतह प्रदर्शित करता है। मुख्य आकृति में आँत्र-भित्ति की खड़ी काट का आवर्धित दृश्य है। उद्वर्धों (villi) की ग्रंथिमय रचना पर ध्यान दीजिए। आधार: जी० जी० सिम्पसन, सी० एस० पिटेंड्रिघ एण्ड एल०एच० टिफैनी, "लाइफ: ऐन इंट्रोडक्शन टू बायोलोजी", हारकोर्ट ब्रेस एण्ड कंपनी, इंको० न्यूयार्क, 1957।

है। यह यकृत से काफी छोटी होती है और एक पाचक रस —अग्न्याशय-रस (pancreatic juice) पैदा करती है। यह अग्न्याशय-रस पित्तवाहिनी वाले द्वार से ही ग्रहणी में पहुँचता है। अग्न्याशय इंसुलिन नामक एक हार्मोन भी पैदा करता है देखें (पृष्ठ 377)।

पाचन क्रिया : यह तो आपको पता ही होगा कि हमारे भोजन में छः प्रकार के पोषक पदार्थ होते हैं। कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन, खनिज, विटामिन और जल। खनिज और जल में घुलनशील विटामिन सीधे-सीधे आँत की भित्तियों द्वारा सोख लिए जाते हैं, पर दूसरे पदार्थ आहार-नाल की भित्तियों द्वारा आसानी से अवशोषित किए जा सकें, इसके लिए उन्हें सरल घटकों में 'तोड़ना' पड़ता है। पाचन का आधारभूत प्रक्रम तो जल-विश्लेषण

या हाइड्रोलिसिस है। इसमें जल के द्वारा खाद्य पदार्थों में मौजूद जटिल अणु छोटे-छोटे घटक अणुओं में विघटित किए जाते हैं। पाचन-क्रिया के दौरान जब भी जल-विश्लेषणी अभिक्रिया (hydrolytic reaction) होती है तो उसका सूत्रधार कोई एन्जाइम होता है जो कि उत्प्रेरक (catalyst) के रूप में कार्य करता है।

मेंढक के विपरीत मनुष्य में भोजन पचने की क्रिया मुख से ही शुरू हो जाती है। लार में **टायालिन** (ptyalin) होता है, जो कि स्टार्च को दुहरी शर्करा (diachharides) में तोड़कर पाचन क्रिया आरंभ करता है। आमाशय में पहुँचने पर भोजन में अत्यंत अम्लीय आमाशय-रस (gastric juice) मिलता है। इसमें मौजूद हाइड्रोक्लोरिक एसिड **पेप्सिन** (pepsin) की क्रिया में सहायक होता है। पेप्सिन आमाशय-रस का प्रमुख एन्जाइम है। भोजन के साथ कोई हानिकर जीवाणु आ गया हो तो वह भी अम्ल की क्रिया से नष्ट हो जाता है। पेप्सिन, प्रोटीनों (अमीनो एसिड अणुओं की लंबी शृंखलाएँ) को पेप्टाइडों (अमीनो एसिड अणुओं की छोटी शृंखलाएँ) में बदल देता है।

जब भोजन आँत में पहुँचता है तो उसमें पाचन-क्रिया का प्रारंभ भर हुआ होता है। इसमें वसा और शर्करा ज्यों की त्यों अपरिवर्तित दशा में होती है, कुछ स्टार्च भी टायालिन से अनपचा बच रहता है और इसके साथ ही स्कंदित दूध (coagulated milk) या कैसीन (casein) प्रोटीनों पर आमाशय-रस में के पेप्सिन की क्रिया से बने पेप्टाइड और कुछ बचे हुए अपरिवर्तित प्रोटीन भी होते हैं। पाचन-क्रिया मे यकृत के स्राव पित्त के दो कार्य हैं। पहला तो यह कि आमाशय से आनेवाला हाइड्रोक्लोरिक अम्ल इसकी क्रिया से उदासीन (neutralize) हो जाता है। यह बड़े महत्त्व का काम है, क्योंकि अग्न्याशय-रस केवल क्षारीय माध्यम में ही क्रियाशील होता है। पित्त का दूसरा कार्य वसाओं का इमल्सीकरण है। इस क्रिया में वसा बहुत छोटी-छोटी बुँदकों में टूट जाती है और तब उन पर वसा-तोड़क एन्जाइमों की क्रिया भली-भाँति हो सकती है। यही नही बल्कि वसा की बहुत बारीक बुँदकें प्रारंभिक पाचन के बिना सीधे भी अवशोषित की जा सकती हैं।

अग्न्याशय-रस निर्मल क्षारीय द्रव होता है जो कि अम्लीय काइम (chyme) को उदासीन करने का काम करता है। इसमें तीन पाचक एन्जाइम होते हैं। **ऐमिलॉप्सिन** (amylopsin) जो कि स्टार्च को डाइ-सैकैराइडो मे 'तोड़ने' का काम जारी रखता है: **ट्रिप्सिन** (trypsin) जो कि प्रोटीन के रहे-सहे अणुओं को पेप्टाइडो मे बदल देता है और **लाइपेस** (lipase) जो वसाओं को वसा-अम्लो (fatty acids) और ग्लिसरोल मे बदलता है। वसा-अम्ल और ग्लिसरोल आसानी से अवशोषित किए जा सकते है।

आँत्र की ग्रंथिमय भित्ति से अत्यंत क्षारीय द्रव का स्राव होता है। इसमें चार एन्जाइम मुख्य होते है; **इरेप्सिन** (erapsin) जो कि पेप्टाइडों को शीघ्र अवशोषित होने वाले अमीनो एसिडो में बदलकर प्रोटीन का पाचन-कार्य पूर्ण करता है; **माल्टेस** (maltase) जो कि माल्टोस को तोड़कर ग्लूकोस में बदल देता है; **लैक्टेस** (lactase) भी इसी तरह दुग्ध-शर्करा (लैक्टोस) को ग्लूकोस मे बदल देता है। एक अन्य डाइ-सैकैराइड सुक्रोस को **सुक्रेस** (sucrase) नामक-इन्जाइम ग्लूकोस और फ्रक्टोस में तोड़ देता है।

भोजन जब आँत मे से गुजरता है तो उसमें के अधिक पाचन योग्य पदार्थ एन्जाइमो द्वारा उस हालत मे पहुँचा दिए जाते हैं, जिसमें वे सरलता से अवशोषित हो सकते हैं। पचाए हुए भोजन का अधिकांश छोटी आँत या क्षुद्रांत्र (ileum) में ही अवशोषित कर लिया जाता है। काइम (chyme) का अधिकांश जल बड़ी आँत सोख लेती है और इसके बाद जो बच रहता है, वह अवशेष (residue) मल-पदार्थ के रूप में मलाशय (rectum) में पहुँच जाता है।

रुधिर और उसका परिसंचरण

एक सामान्य व्यक्ति की देह में औसतन 6·5 लिटर खून होता है। इस खून या रुधिर के घटक बहुत कुछ मेंढक के रुधिर जैसे ही होते हैं। हलके पीले रंग के प्लाज्मा में 9/10 भाग जल होता है और इसमे कई द्रव्य घुले रहते है। इन द्रव्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण ये हैं: सीरम ग्लोबुलिन (जो एंटीबॉडी बनाता है), अनेक खनिज, पचाया हुआ भोजन (रुधिर-शर्करा, वसा-अम्ल, अमिनो-एसिड, इत्यादि), वर्ज्य उत्पाद (मुख्यतः यूरिया), **प्रोथ्रोम्बिन**

(prothombin) (खून के थक्के जमाने का कार्य शुरू कराने वाला द्रव्य), और **फाइब्रिनोजेन** (fibrinogen) जो वस्तुतः थक्के बनाता है ।
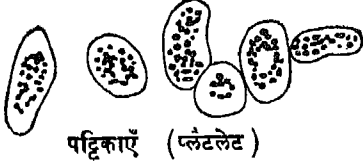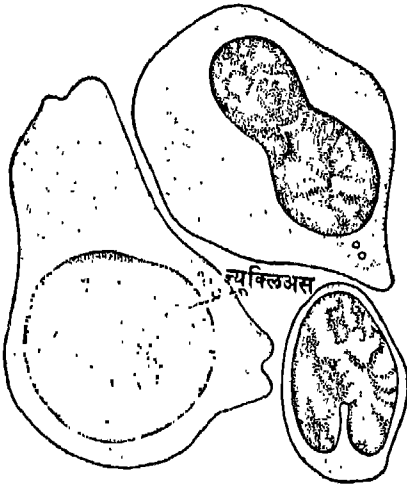
चित्र 28.29 मनुष्य के खून के ठोस रचक। पक्व लाल रुधिर कणिकाओं में न्यूक्लियस नहीं है, जब कि श्वेत कणिकाओं में है। आधार : ई० क्रोवर, डब्ल्यू० एच० वुल्फ एंड आर० एल० वीवर, "बायोलोजी", डी० सी० हीथ एंड कंपनी, बोस्टन, 1960।

रुधिर में के ठोस घटकों में लाल और सफेद रुधिर-कणिकाएँ और बिम्बाणु (platelets) आते हैं। (चित्र 28.29)। लाल और सफेद रुधिर कणिकाओं को क्रमशः रक्ताणु और श्वेताणु भी कहते हैं। लाल रुधिर कणिकाएँ दोनों ओर उभरी तश्तरी क शक्ल की होती हैं हालाँकि परिवर्धन की आरंभिक अवस्थाओं में इनमें केन्द्रक मौजूद होता है, पर परिपक्व होते-होते उनमें केन्द्रक (न्यूक्लिअस) लुप्त हो जाता है। एक सामान्य व्यक्ति में औसतन् 25,000,000,000,000 लाल रुधिर कणिकाएँ होती है। इन कणिका या कोशिकाओं में हीमोग्लोबिन होता है जो बड़ी जल्दी आक्सीजन ग्रहण करके देह के उन भागों में छोड़ देता है, जहाँ आक्सीजन की कमी है। ये लाल रुधिर कणिकाएँ फेफड़ों से आक्सीजन लेकर सारी देह में पहुँचाती है।

श्वेत रुधिर कणिकाएँ या श्वेताणु (leucocyte) बहुत-कुछ रंगहीन होते हैं। सफेद कणिकाएँ लाल से बड़ी होती है, और उन सबमें एक-एक केन्द्रक होता है। वे अमीबा की तरह घूम-फिर सकती हैं और केशिका-भित्तियों (capillary walls) में होकर लसीका या ऊतक-तरल (tissue-fluid) में जा मिलती हैं। इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम होती है और आम तौर पर प्रति श्वेत कणिका के साथ 600 लाल रुधिर कणिकाएँ होती हैं। ये अस्थि-मज्जा और लसीका-ग्रंथियों में पैदा होते हैं। इनका प्रमुख कार्य हानिकर जीवाणुओं को नष्ट करना तथा कुछ अन्य बाहरी द्रव्यों को ऊतकों और रुधिर से बाहर निकाल फेंकना है। जब देह पर जीवाणुओं का संक्रमण होता है तो कणिकाओं की संख्या बढ़ जाती है।

रुधिर-बिम्बाणु (थ्रोम्बोसाइट) बहुत छोटी होती हैं, यहाँ तक कि लाल रुधिर कणिकाएँ भी इनसे बड़ी होती हैं। संभवतः ये बिम्बाणु भी अस्थि-मज्जा में बनती है और अनियमित तथा रंगहीन होती है। खून के थक्के जमाने के काम में इनका भी महत्त्वपूर्ण योग होता है।

हृदय : यह कोई मुट्ठी के बराबर का तिकोना अंग है। यह दोनों फेफड़ों के मध्य, डायाफ्राम के ऊपर, छाती के लगभग बीच में अग्रभाग से कुछ बाईं तरफ झुका हुआ स्थित होता है (चित्र 28.30)। यह दुहरी भित्तिवाली
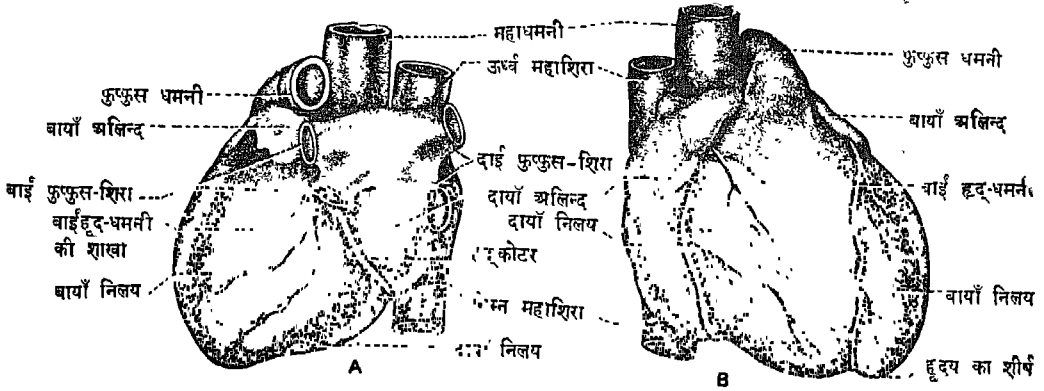
चित्र 28.30 हृदय पृष्ठतल से (A) और अधरतल से (B) A आधार : सी० सी० फ्रांसिस, "इंट्रोडक्शन टू ह्यू मन एनाटोमी", 1964। B. आधार : सी० सी० फ्रांसिस, जी० सी० नोल्टन एंड डब्ल्यू० टटल, "टेक्स्टबुक ऑफ एनाटोमी एंड फिजियोलोजी", दी सी० वी० मोस्बी कंपनी, सेंट लुई 1958।

झिल्लीदार थैली—हृदयावरण (पेरी कार्डियम) में बंद रहता है। हृदय बड़ा अनोखा अंग है जो कि जीवन भर चौबीसों घंटे चालू रहता है। अगर यह 10 मिनट से ज्यादा देर के लिए रुक जाए तो जान पर बन आती है। सामान्य व्यक्ति का हृदय विश्राम की अवस्था में प्रति मिनट 70 से 80 धड़कन करता है।

हृदय के बाएँ और दाएँ अर्धक एक पट (septum) द्वारा एक-दूसरे से पूरी तरह अलग रहते हैं। प्रत्येक अर्धक में एक ऊपरी कक्ष या अलिद (auricle) और एक निचला कक्ष या निलय (ventricle) होता है। हर ओर का अलिंद अपनी-अपनी तरफ के निलय में एक अलिंद-निलय-छिद्र (auriculo-ventricular
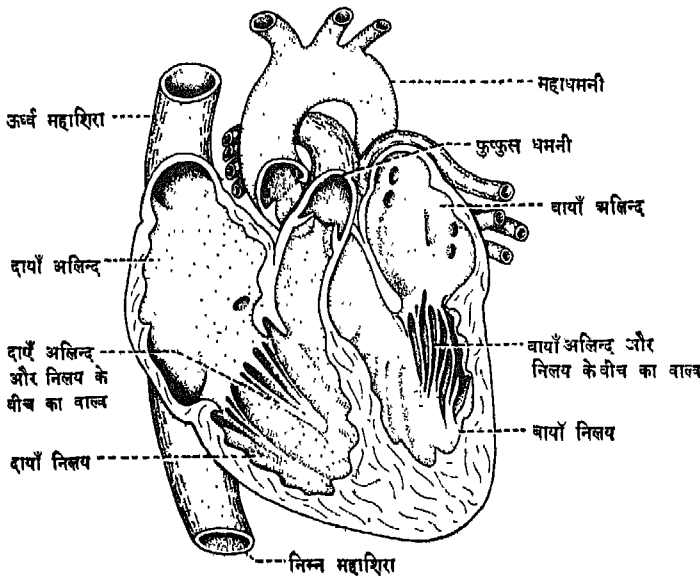
चित्र 28.31 हृदय की खड़ी काट आधार : डब्ल्यू० सी० बीवर, "जनरल बायोलोजी", दी सी० वी० मोस्बी कंपनी, सेंट लुई, 1962।

aperture) के द्वारा खुलता है। दोनों छिद्र वाल्वों से ढँके होते हैं और ये वाल्व केवल निलय की ओर खुलते हैं (चित्र 28.31)। दाएँ अलिंद में सारी देह (फेफड़ों को छोड़कर) से ऊर्ध्व महाशिरा (superior venacava) तथा निम्न महाशिरा (inferior venacava) द्वारा विआक्सीजनित (deoxygenated) शिरा-रुधिर लाया जाता है। बाएँ अलिंद में फेफड़ों से चार फुप्फुस शिराओं (pulmonary veins) द्वारा आक्सीजनित रुधिर (oxygenated blood) लाया जाता है (चित्र 28.32)।

यों तो दोनों ओर के ही निलय (ventricles) खूब पेशीमय होते हैं, पर बाईं ओर के और भी अधिक पेशीमय होते हैं। ये अपनी-अपनी ओर के अलिंद से रुधिर ग्रहण करते हैं। जब निलय सिकुड़ते है तो रुधिर धमनियों में धकेल दिया जाता है। वाल्व होने के कारण यह रुधिर वापस अलिदों में नहीं जा सकता। दायाँ निलय एक बड़ी फुप्फुस-धमनी में रुधिर धकेलता है, जो कि थोड़ी दूर चलकर ही दो शाखाओं में बँट जाती है—एक दाएँ फेफड़े के लिए और दूसरी बाएँ के लिए (चित्र 28.32)। बायाँ निलय रुधिर को एक मोटी **महाधमनी** (aorta) में धकेलता है। यह रुधिर का वितरण करने वाली प्रमख धमनी है। जब सिकुड़ने के बाद निलय फैलकर फिर अपना मूल आकार ग्रहण करते है, तो वे निलयों से अधिक रुधिर खींच लेते हैं। एक बार निलयों में से धमनियो में धकेल दिए जाने पर रुधिर फिर वापस नहीं लौट सकता, क्योंकि फुप्फुस-धमनी और महाधमनी के आधार पर लगे हुए वाल्व पीछे लौटने का रास्ता बंद कर देते हैं। ये वाल्व चूहेदानी के उस दरवाजे की तरह से हैं, जिनमें से चूहा भीतर घुस तो सकता है, पर बाहर नहीं निकल सकता——इसी प्रकार वाल्व भी रुधिर का प्रवाह एक दिशा मे——निलय से धमनी की ओर——बनाए रखते हैं। चित्र 28.33 में दिखाया गया है कि किस तरह रुधिर का परिसंचरण बाएँ निलय से देह में और फिर देह से वापस दाएँ अलिंद में जारी रहता है।

धमनियाँ और शिराएँ : महाधमनी (aorta) देह की प्रमुख रुधिर वितरक धमनी है। इसकी प्रथम शाखाएँ पतली हृद्-धमनियाँ (coronary arteries) हैं, जो कि हृदय की पेशियों में रुधिर पहुँचाती है। हृदयाधान या हार्ट-अटैक का सबसे प्रचलित कारण कॉरोनरी थ्रोम्बोसिस है, जो हृद्-धमनियों में रुकावट होने से ही पैदा होता है। इसके बाद महाधमनी ऊपर और नीचे दोनों ओर मुड़कर रीढ़ के साथ-साथ चलती है (चित्र 28.34)। ऊपर की ओर मुड़कर महाधमनी तीन रुधिर-वाहिकाओं में बँट जाती है, जो कि दाईं और बाईं भुजा, गर्दन और सिर में खून पहुँचाती है। महाधमनी से निकलने वाली बाकी शाखाएँ छाती की पेशियों, आहार-नाल, यकृत, वृक्क या गुर्दों और जनन-ग्रंथियों को जाती हैं। अंत में महाधमनी टाँगों को जानेवाली दो मुख्य धमनियों में बँट जाती है।

टाँगों से खून इकट्ठा करने वाली शिराएँ जुड़कर **निम्न महाशिरा** (inferior venacava) बनाती है। यह निम्न महाशिरा हृदय की ओर जाते हुए रास्ते में पीठ, जनन-ग्रथि, गुर्दों और यकृत से शिराओं द्वारा रुधिर-ग्रहण करती चलती है (चित्र 28.34)। आहार-नाल से आता हुआ खून सब से पहले निवाहिका-शिरा (portal vein) द्वारा यकृत में लाया जाता है और वहाँ उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं जैसे कि अतिरिक्त शर्करा का ग्लाइकोजन के रूप में जमा हो जाना। इसके बाद यह रुधिर यकृत-शिराओं (hepatic veins) द्वारा पश्च महाशिरा (posterior venacava) में पहुँचा दिया जाता है। देह के ऊपरी भागों से अनेक छोटी-छोटी शिराओं द्वारा रुधिर एकत्र किया जाता है जो कि मिलकर जुड़वाँ **अनामिका शिराएँ** (innominate veins) बनाती हैं। बाद में ये अनामिका शिराएँ जुड़कर **उर्ध्व महाशिरा** (superior venacava) बनाती हैं, जो कि दाएँ अलिंद में खुलती है। हृद्-शिरा हृदय-भित्तियों से इकट्ठा किया हुआ रुधिर उर्ध्व महाशिरा में लौटा देती है। देह के विविध अंगों में घूमते हुए रुधिर कुछ द्रव्यों का आदान-प्रदान करता है। इस लेन-देन से रुधिर का संघटन (composition) बदलता रहता है, जैसा कि चित्र 28·34 में दिखाया गया है।

नाड़ी और रक्त-दाब (ब्लड-प्रैसर) : आपने कानों से स्टेथोस्कोप लगाए डाक्टर को रोगी के हृदय की धड़कनों की जाँच करते हुए तो देखा ही होगा। इस जाँच से उसको यह मालूम हो जाता है कि रोगी का हृदय कैसा काम कर रहा है। हृदय का हर स्पंद या
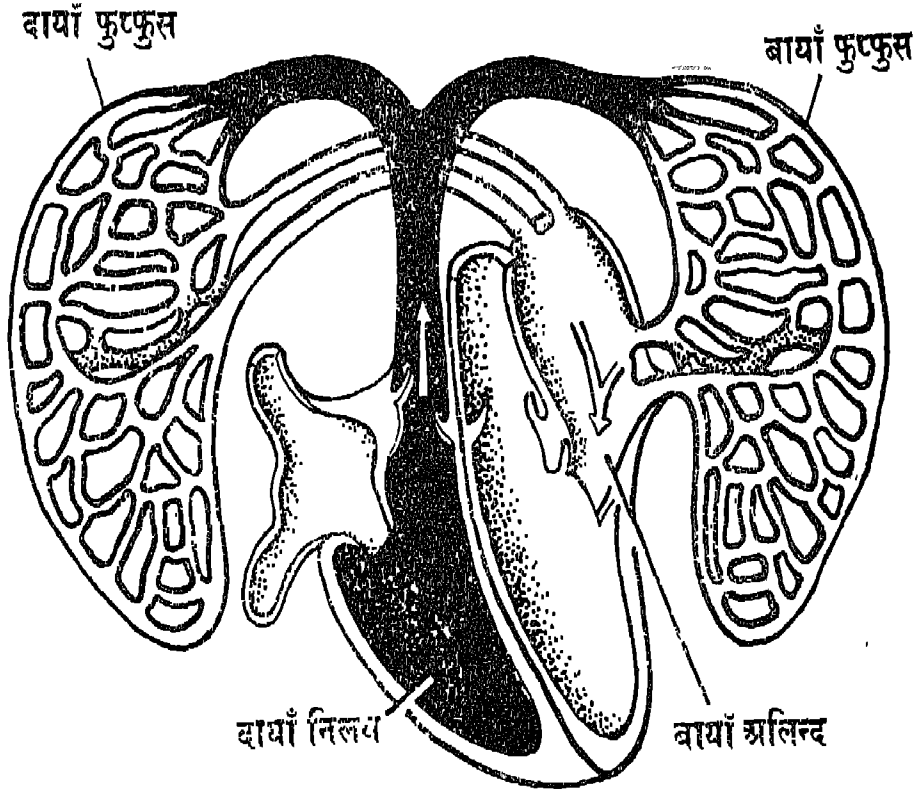
चित्र 28 32 दाएँ निलय में से बाएँ अलिंद में रुधिर-परिसंचरण। दाएँ अलिंद को इस तरह दिखाया गया है जैसे वह इस समय खाली हो, पर वास्तव में, इसमें देह के शेष भाग से आया खून भर रहा है। ध्यान दीजिए कि किस तरह दाएँ निलय से खून केवल फेफड़ों में जा रहा है। आधार : ई० कोवर, डब्ल्यू० एच० वुल्फ एंड आर० एल० वीवर, 'बायोलाजी', डी० सी० हीथ एंड कंपनी, बोस्टन, 1960।
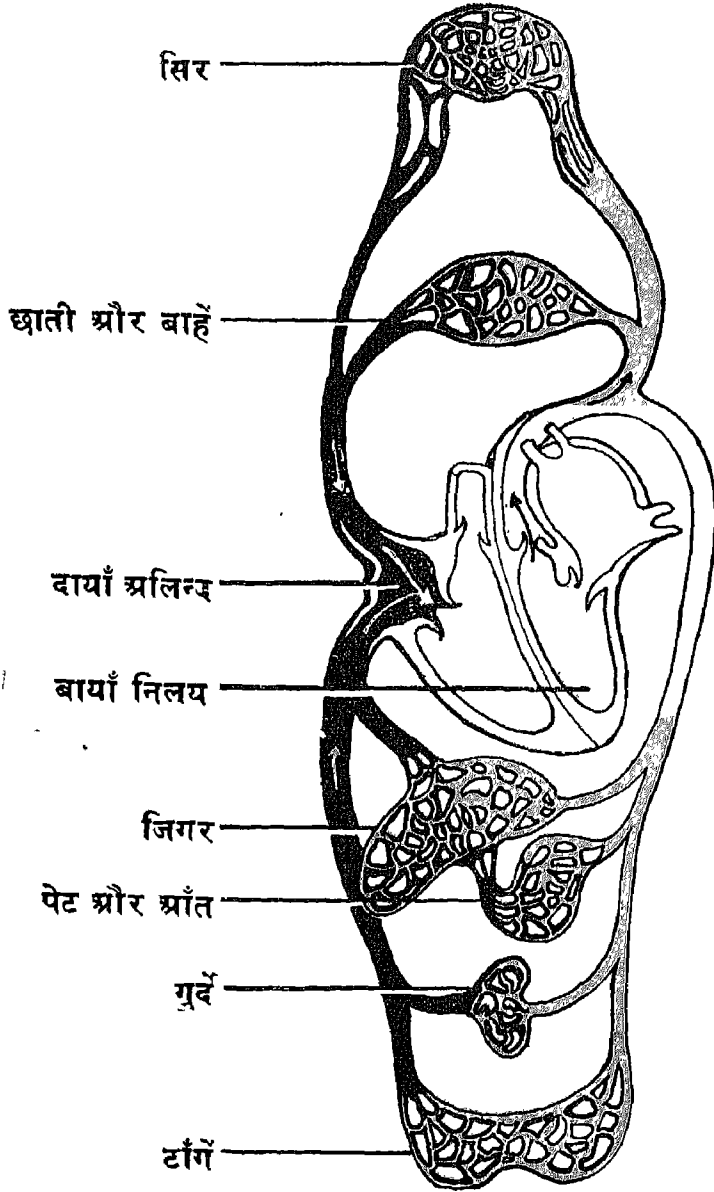
चित्र 28.33 बाएं निलय से दाएं अलिंद में रुधिर का परिसंचरण। बायाँ निलय महाधमनी में खून पंप करता है जो फिर देह के दूसरे हिस्सों में खून पहुँचाता है। देह के विविध अंगों से शिरा-रुधिर (venous blood) ऊर्ध्व महाशिरा और निम्न महाशिरा के द्वारा दाएँ अलिंद में आता है। अंत में यह दाएँ निलय द्वारा शुद्धिकरण के लिए फेफड़ों में पहुँचा दिया जाता है। अलिंदों से निलयों में खून वह सकता है, परंतु वाल्वों के कारण यह उल्टी दिशा में नहीं बह सकता। आधार : ई० क्रोवर, डब्ल्यू० एच० वुल्फ एंड आर०एल० वीवर, "बायोलोजी", डी०सी० हीथ एंड कंपनी, बोस्टन, 1960।
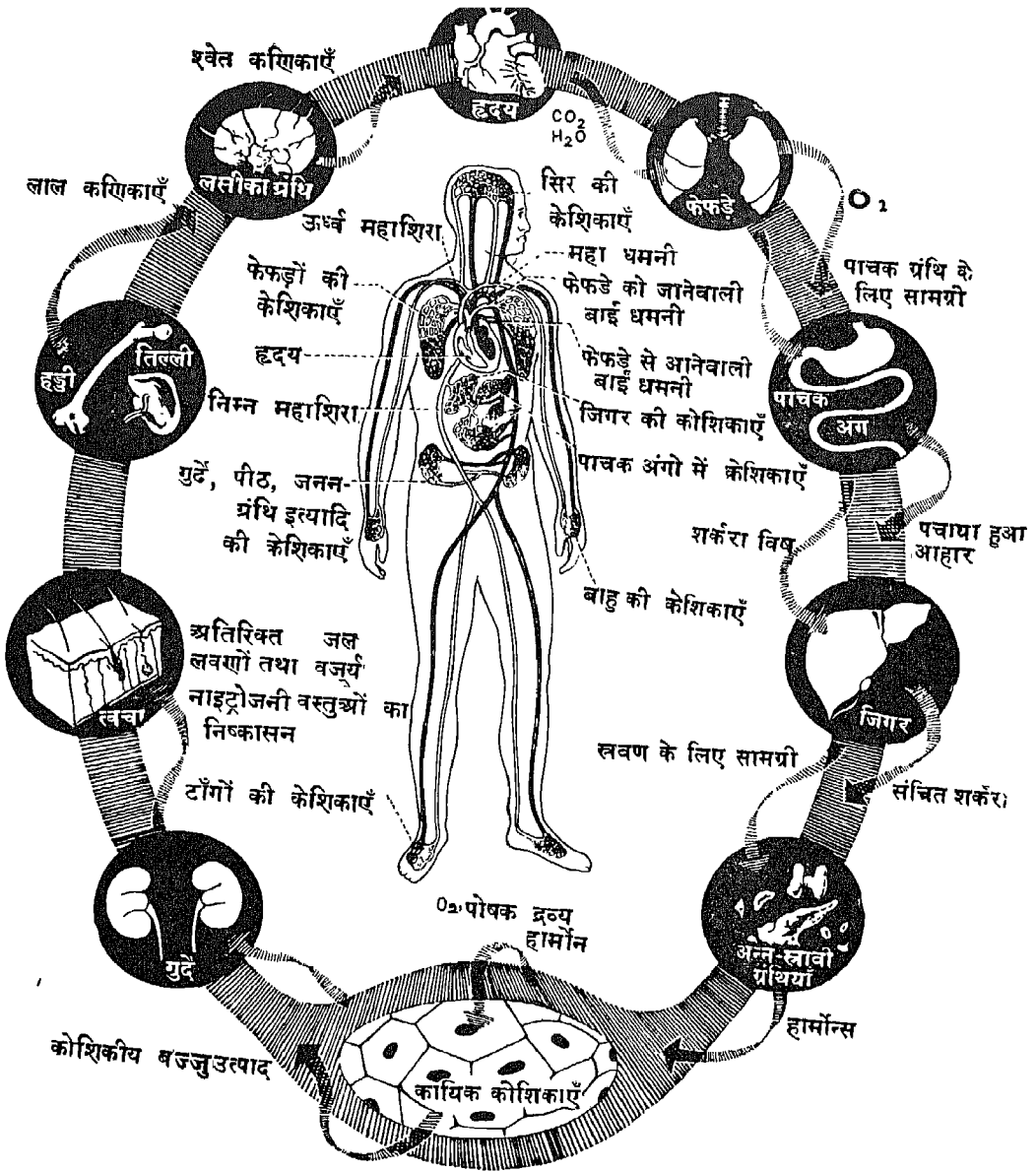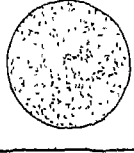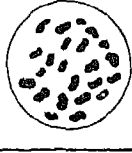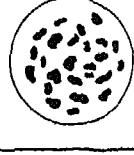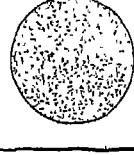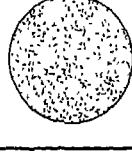
चित्र 28.34 देह के विविध भागों से बहते समय रुधिर के संघटन में होने वाले परिवर्तन। अपनी पंपिंग क्रिया के द्वारा हृदय खून का बहाव जारी रखता है। फेफड़े खून से कार्बन डाइआक्साइड खींचकर उसमें आक्सीजन मिला देते हैं। क्षुद्रांत्र पचाया हुआ आहार रुधिर-धारा मे मिला देती है। यकृत उसमें से वर्ज्य पदार्थों को निष्कासित करता है, शर्कराओं को संचित करता है और जरूरत पड़ने पर दे देता है। वाहिनीविहीन ग्रंथियाँ अपने स्राव (हार्मोन) रुधिर में मिला देती है। कायिक कोशिकाएँ आहार और आक्सीजन ग्रहण करके अपने वर्ज्य उत्पादन खून में छोड़ देती है। त्वचा और गुर्दे फालतू पानी और उसमें घुले हुए वर्ज्य पदार्थ खींच लेते हैं। प्लीहा (तिल्ली) नष्टप्राय लाल रुधिर कोशिकाओं को छान देती है तो अस्थि-मज्जा नई लाल कोशिकाएँ मिला देती है। लसीका-ग्रंथियाँ रोगाणु का मुकाबला करने के लिए श्वेत रुधिर कोशिकाओं की फौज जमा कर देती है। बीच के रेखाचित्र में मुख्य धमनियाँ और शिराएँ दिखाई गई हैं। आधार : सी० ग्रामेट एंड जे० मांडेल, "बायोलोजी सर्विंग यू", प्रेंटिस-हाल, इंको०, इंगेलवुड-क्लिफ्स, न्यूयार्क, 1958।

धड़कन सिकुड़ने (**प्रकुंचन** या systole) तथा फैलने (**अनुशिथिलन** या diastole) से पैदा होती है। अनुशिथिलन के समय दोनों अलिंद शिराओं द्वारा लाए गए खून से भर जाते हैं। प्रकुंचन के समय रुधिर हृदय में से धमनियों में पंप कर दिया जाता है। इन दोनों क्रियाओं में कोई 0·8 सेकंड लगती है। इस प्रकार एक मिनट में आप कोई 75 धड़कनें गिन सकते हैं। हृदय की धड़कन धमनियों में भी नियमित धक्कों या स्पंदों के रूप में महसूस होती है। जब निलय अचानक धमनियों में रुधिर धकेलता है तो रुधिर की अतिरिक्त माता के कारण धमनियाँ फैलती हैं। यह फैलाव ही धमनियों में स्पंदन पैदा करता है। इस स्पंदन को आप अपनी देह के उस स्थान को छूकर महसूस कर सकते हैं, जहाँ धमनियाँ सतह पर होती ह, जैसे कि कलाई, गर्दन और कनपटी पर।

धमनियों में रुधिर के प्रवाह से उनकी लचीली भित्तियों पर दबाव पड़ता है। ये दबाव प्रकुंचन (सिस्टोल) के समय अनुशिथिलन (डायास्टोल) की अपेक्षा अधिक होता है। इन दोनों तरह के दबावों या दाबों (प्रकुंचनी और अनुशिथिलनी) को प्रायः पारे के स्तंभ पर पड़ने वाले दाब के द्वारा मापा जाता है। एक सामान्य वयस्क में **रक्त-दाब या ब्लड-प्रेसर** अर्थात् प्रकुंचनी और अनुशिथिलनी दाब क्रमशः 120 mm Hg और 80 mm Hg होते हैं। इसको 120/80 mm Hg लिखा जाता है।

रुधिर के प्रकार : आपने देखा या सुना होगा कि किसी आदमी की देह से चोट या किसी दूसरे कारण से बहुत अधिक खून निकल गया तो उसके शरीर में किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति (प्रदाता या डोनर) का खून चढ़ाकर उसकी प्राण-रक्षा की गई। लेकिन यहाँ किसी भी स्वस्थ व्यक्ति का खून देने से काम नहीं चलेगा। अक्सर ऐसा होता है कि एक आदमी का खून दूसरे के खून से मेल नहीं खाता। इसके उल्टे दोनों का खून मिलने पर थक्के जम जाते हैं। इसका श्रेय जर्मन रसायनविज्ञानी कार्ल लैंडस्टीनर तथा कुछ अन्य वैज्ञानिकों को है, जो आज हम भली-भाँति जानते हैं कि चार प्रकार के खून होते हैं : (A), (B), (AB) और (O)। ये समूह लाल रुधिर कणिकाओं में 'A' और 'B' में से किसी एक या दोनों के होने या न होने के आधार पर बनाए गए हैं। 'O' टाइप के रुधिर वाले लोग, **सार्विक प्रदाता** (universal donor) होते हैं। उनके खून में न 'A' होता है न 'B' और वह किसी भी व्यक्ति की देह में बेखटके चढ़ाया जा सकता है। 'AB' टाइप वाले व्यक्ति **सार्विक ग्राहक** (universal recipients) होते हैं। खून चढ़ाने से पहले खून देने वाले आदमी यानी प्रदाता का खून लेकर उसका 'टाइप' मालूम किया जाता है और फिर देखा जाता है कि वह उसी टाइप का है या नहीं, जिस टाइप का खून रोगी की देह में है (चित्र 28.35)।

चित्र 28.35 रुधिर-वर्ग निर्धारित करने की विधि। खून के नमूने की बूँद लेकर एंटी-A और एंटी-B वाले सीरम से अलग-अलग मिलाई जाती है। जिस एंटीसीरम से मिलने पर थक्के बन जाएँ वही उस नमूने के खून का रुधिर-समूह होगा। आधार : ई० डी० हीस एंड आर० एच० लेय, "बायोलोजी–ए बेसिक साइंस", डी० वान नोस्ट्रैंड कंपनी इंको०, न्यू जर्सी, 1958।

परिसंचरण-तंत्र की देखभाल—देह के सभी अंग ठीक तरह काम करते रहें इसके लिए आवश्यक है कि उन्हें समुचित पोषण और आक्सीजन मिलता रहे। यह तभी संभव है जब कि हमारा परिसंचरण-तंत्र स्वस्थ रहे। इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि खान-पान की आदतें सुधारी जाएँ। खून बनाने के लिए प्रोटीन, लोहा और विटामिनों की सही खुराक जरूरी होती है। रुधिर के ठीक-ठीक परिसंचरण के लिए व्यायाम से सहायता मिलती है। हमारी देह में रुधिर-कोशिकाएँ बनती और बिगड़ती रहती हैं। औसतन एक लाल रुधिर कोशिका कोई चार महीने तक जीवित रहती है। हर सेकंड लगभग 10,000 लाल रुधिर कोशिकाएँ नष्ट होती रहती हैं। यदि इस क्षति की पूर्ति न हुई तो **रक्ताल्पता** (anaemia) की बीमारी हो जाती है। इस रोग में त्वचा पीली-सी हो जाती है और आदमी कमजोर व आलसी हो जाता है। रुधिर-कणिकाओं में हीमोग्लोबिन की कमी के कारण भी ये लक्षण पैदा हो सकते हैं। देह में लोहे की कमी से हीमोग्लोबिन कम हो जाता है।

हृदय पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है क्योंकि यह जीवन भर कार्य करता है। आज की जिन्दगी में दुनिया भर की चिन्ता और तनाव उठते रहते है जिनके कारण कभी-कभी हाई ब्लड-प्रैसर यानी अति रक्तदाब की शिकायत हो जाती है। इसका मतलब हुआ कि हृदय को अपनी शक्ति से ज्यादा काम करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप कभी-भी उसमें खराबी आ सकती है। इसलिए यह बड़ा जरूरी है कि हम मानसिक उत्तेजनाओं पर नियंत्रण रखें।

खून के थक्के जमना : खून बंद नलियों में एक दाब के प्रभाव में प्रवाहित रहता है, इसलिए पूरे तंत्र में कहीं भी कोई बाधा आने पर खून भी वैसे ही बह निकलता है, जैसे नल टूटने या फटने पर पानी बह निकलता है। खून के थक्के जमने की क्रिया इस तरह दुर्घटनावश खून निकलना रोकती है। देह पर खरोंच या चोट लगने का भला किसे अनुभव न होगा। उस समय कुछ देर तक खून निकलता है और फिर धीरे-धीरे चोट की जगह पर थक्का जम जाता है और खून बहना बंद हो जाता है। इस थक्के जमाने के पीछे खून के अंदर होने वाली अनेक रासायनिक अभिक्रियाओं का हाथ है। हानिग्रस्त कोशिकाएँ एक एन्जाइम—**थ्रोम्बोकाइनेस** निकालती हैं। रुधिर बिम्बाणु भी परिसंचरण-तंत्र से बाहर अपरिचित सतह के संपर्क में आने पर टूट जाते है और थ्रोम्बोकाइनेस पैदा करती हैं। यह एंजाइम खून मे मौजूद प्रोथ्रोम्बिन को थ्रोम्बिन में बदल देता है। खून में घुले फाइब्रिनोजन पर थ्रोम्बिन की क्रिया होती है और वह फाइब्रिन पैदा करता है। यह फाइब्रिन चोट की जगह एक महीन जाल-सा जमा देता है। रुधिर-कणिकाएँ फाइब्रिन-जाल की जालियों को बंद कर देती हैं और यह सब कुछ मिलकर खुरंट-सा बन जाता है और इस प्रकार कटी हुई रुधिर-वाहिका से खून बहना बंद हो जाता है।

कभी-कभी लोग हीमोफिलिया नामक रोग के शिकार हो जाते हैं। यह एक लिंग-सहलग्न (sex-linked) लक्षण (विशेष विवरण के लिए चौथा भाग देखिए) है, जिसके फलस्वरूप यह वंशागत विकार पैदा हो जाता है। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति के खून में फाइब्रिनोजन होता ही नहीं और जरा-सी चोट लगने पर ही इतना खून बहने लगता है कि मृत्यु हो जाती है। हीमोफिलिया रोग आमतौर पर पुरुषों को ही सताता है, जब कि स्त्रियाँ केवल रोग-वाहक का कार्य करती हैं।

लसीका और लसीका-तंत्र

सभी ऊतकों की कोशिकाएँ लसीका में भीगी रहती हैं। इसका अधिकांश रुधिर-प्लाज्मा से छन-छनकर रुधिर-केशिकाओं में से रिसता रहता है। हालांकि इसका एक अंश केशिकाओं द्वारा पुनः अवशोषित कर लिया जाता है, पर अधिकतर भाग पतली-पतली नलिकाओं में बह जाता है, जो जगह-जगह जुड़कर बड़ी-बड़ी वाहिनियाँ बना लेती हैं। अंत में यह तरल हृदय के निकट स्थित किसी शिरा में पहुँचा दिया जाता है। वाहिकाओं के इस अतिरिक्त तंत्र को ही लसीका-तंत्र (lymphatic system) कहते हैं (चित्र 28.36)। लसीका नलिकाओं में, डोरे में पड़े मनको की तरह अनेक गाँठें-सी फूली होती हैं। इनको **लसीका-ग्रंथियाँ** (lymph nodes) कहते हैं। यहाँ से फिर लसीका-नलिकाएँ शाखाओं में बँट जाती हैं और इन लसीका-ग्रंथियों में श्वेताणु या श्वेत कणिकाएँ खूब ज्यादा इकट्ठी हो जाती हैं, जिससे कि लसीका में मौजूद जीवाणु (बैक्टीरिया)
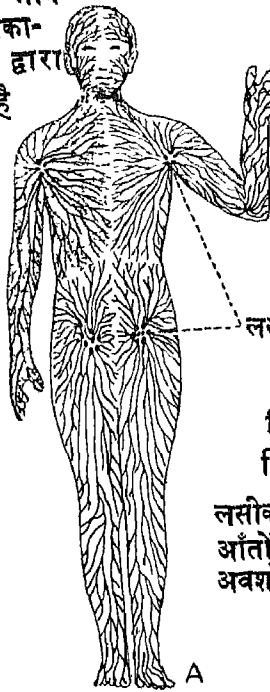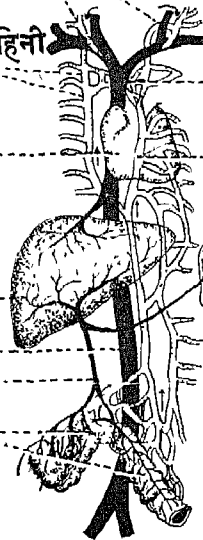
चित्र 28.36 लसीका-तंत्र। A. बाईं और दाईं मुख्य लसीका-वाहिनियों द्वारा सिंचित क्षेत्र और प्रमुख लसीका-ग्रंथियाँ। B. पाचक-तंत्र और परिसंचरण-तंत्र के भागों से लसीका-वाहिकाओं का संबंध। आधार: ए० ओ० बेकर, एल० एच० मिल्स एंड जे० टैंकजोस, "न्यू डाइनैमिक बायोलोजी", रैंड मैकनैली एंड कंपनी, न्यूयार्क, 1959।

का सामना कर सकें। गले में, बगल में और जाँघ या उरुमूल में लसीका-ग्रंथियाँ बहुतायत में होती हैं। कभी-कभी आपने देखा होगा कि बगल में गिल्टियाँ निकल आती हैं। यह बाँहों या टाँगों में किसी-न-किसी रोग-संक्रमण का ही फल है। गले में टॉन्सिल और नाक के पीछे एडीनाइड (adenoids) भी लसीका-ऊतकों के पिण्ड हैं। कभी-कभी टॉन्सिल फूल जाते हैं तो उन्हें शल्यक्रिया या सर्जरी के द्वारा निकलवाना पड़ता है।

लसीका, रुधिर-प्लाज्मा के लगभग समान ही होता है। देखने में यह रंगहीन या पीला-सा लगता है। इसमें रुधिर-बिम्बाणु तो नहीं होते, पर लिम्फोसाइट या लसीकाणु (छोटी-छोटी श्वेत रुधिर-कणिकाएँ) होती हैं। हमारी देह में लसीका कई तरह से उपयोगी है। यह ऊतकों को पोषण और आक्सीजन प्रदान करता है और उसके बदले उनसे कार्बन-डाइआक्साइड और वर्ज्य पदार्थ ले लेता है; यह अनेक रोगाणुओं का सामना करने में सहायता करता है; और इसके साथ ही यह सारी देह में एक-सा तापमान बनाए रखता है।

तिल्ली और जिगर

तिल्ली या प्लीहा एक बड़ा-सा अंग है, यही कोई मुट्ठी जितना; और डायाफ्राम के ठीक नीचे उदर के बाईं ओर स्थित होता है (चित्र 28.20)। यह स्पंजी ऊतक का बना होता है जिसमें भरपूर रुधिर होता है। इसके दो मुख्य कार्य हैं: एक तो यह अपने भीतर से गुजरते हुए खून में से विघटित हुई लाल-रुधिर कोशिकाओं को छानकर अलग करता है और दूसरे यह बहुत-सा खून जमा करके उसका भंडार रखता है। जब कभी रक्तस्राव (खून-बहना) होने लगे तो प्लीहा या तिल्ली अपने रुधिर-भंडार में से खून भेजना शुरू कर देती है। मनुष्य की भ्रूणावस्था में यह प्लीहा ही है जहाँ लाल और श्वेत दोनों तरह की रुधिर-कोशिकाएँ बनती हैं।

जैसा कि आप पहले ही पढ़ चुके है, जिगर का यकृत हमारी देह का सबसे बड़ा अंग है, यह पित्त पैदा करता है, जिसका वसा या चिकनाई पचाने में बड़ा महत्त्व हैं। इसके अलावा यकृत और भी कई काम करता है। सच तो हम यह कह सकते है कि हमारी देह का सबसे बड़ा रासायनिक कारखाना यकृत ही है।

हमारे भोजन में से वसा तो पहले ही सीधे लसीका-तंत्र द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है, इसके बाद जो भी कुछ बचा, वह आँतों से संबंधित रुधिर-वाहिकाओं द्वारा अवशोषित होकर सबसे पहले यकृती निवाहिका शिरा द्वारा यकृत मे लाया जाता है। वहाँ यह केशिकाओं के जाल द्वारा सारे जिगर में वितरित हो जाता है। जिगर की कोशिकाएँ रुधिर से अनेक प्रकार के द्रव्य, विशेषत: कार्बोहाइड्रेट और अमीनो एसिड अलग कर देती है। कार्बोहाइड्रेट तो अविलेय (जो धुल न सके) ग्लाइकोजन के रूप में संगृहीत कर लिए जाते है या अन्य जीव-रसायनी प्रक्रमों में उनका उपयोग किया जाता है। ग्लाइकोजन को दुबारा विलेय (जो धुल सके) शर्कराओं में बदलकर जरूरत पड़ने पर खून में छोड़ा जा सकता है। अमीनों एसिड कुछ रुधिर प्रोटीनों के संश्लेपण में काम आते हैं या उनमें से अमीनो-समूह अलग कर दिया जाता है। इस प्रक्रम में बननेवाला अमोनिया यूरिया में बदल दिया जाता है जो कि अंत मे वृक्क या गुर्दो के द्वारा निष्कासित किया जाता है।

पुरानी या मरी हुई लाल रुधिर कोशिकाओं का हीमोग्लोबिन यकृत द्वारा विघटित कर दिया जाता है। इस विघटन के फलस्वरूप अलग हुआ लोहा और अमीनो-एसिड फिर से शरीर के उपयोग में आ जाते है, जब कि 'हीमे' अंश पित्त-वर्णक (bile-pigment) मे बदल दिया जाता है। ये पित्त-वर्णक पित्त के साथ ही आहार नाल में पहुँचते है और उसके बाद मल के साथ उत्सर्जित हो जाते हैं। पांडु रोग (jaundice-जिसमें त्वचा का रंग पीला पड़ जाता है) में रुधिर की धारा में पित्त-वर्णक अधिक बढ़ जाते हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं या तो पित्त के आहार-नाल तक पहुँचने में किसी बाधा का आ पड़ना या लाल रुधिर कोशिकाओं का अत्यधिक विघटन।

अब आपको लगा होगा कि यकृत के अत्यंत महत्त्वपूर्ण विविध कार्यो में से किसी एक में भी कोई गड़बड़ पैदा हुई तो उसका स्वास्थ्य पर कितना गंभीर प्रभाव पड़ सकता है।

श्वसन-तंत्र

श्वसन-तंत्र की शुरूआत दो नासाद्वारों (nostrils) से होती है। ये दोनों द्वार एक लचीले उपास्थिमय पट (septum) के द्वारा एक-दूसरे से अलग किए जाते हैं। इस पट का ऊपरी भाग अस्थिमय होता है। नासिका में वर्तमान रोम और श्लेष्मा उसके अंदर प्रवेश करती हवा में से धूल-कण साफ कर देते हैं। यहाँ हवा को उष्णता भी प्रदान की जाती है और उसे गीला भी बनाया जाता है। मुख द्वारा साँस लेने पर नाक से साँस लेने के ये लाभ नहीं मिल पाते।

साँस के साथ ली हुई वायु नासाकोष्ठों को पार करके ग्रसनी (pharynx) में पहुँचती है (चित्र 28.37)। इसके बाद यह एक उपास्थिमय ध्वनि-पेटिका यानी कंठ (larynx) में पहुँचती है जिसे 'आदम का सेब' (Adam's apple) भी कहते हैं। गर्दन के अग्रभाग में इसकी उपस्थिति आसानी से महसूस की जा सकती है। कंठ के अंदर दो पतले और लचीले वाक्-तंतु (vocal cord) होते है। पेशियों द्वारा इनमें खिचाव पैदा करके उनके बीच से गुजरती वायु द्वारा कंपन पैदा किया जाता है और इस तरह ध्वनि या आवाज पैदा की जा सकती हैं। दोनों वाक्-तंतुओं के बीच एक द्वार होता है जिसे घाँटी (glottis) कहते है। एक पत्तीनुमा **घाँटी-ढक्कन या एपिग्लॉटिस** (epiglottis) घाँटी या ग्लॉटिस की रक्षा करता है।

कंठ या लेरिंक्स एक लंबी **श्वासनली** (trachea या windpipe) से जुड़ता है। श्वासनली की भित्तियाँ आकार के उपस्थिमय छल्लों की श्रृंखला से मजबूत बनी रहती है। छाती के लगभग मध्य में पहुँचकर श्वासनली दाएँ और बाएँ **ब्रॉंकस या श्वसनी** में बँट जाती है। दायाँ ब्रंकिस दाएँ फेफड़े से और बायाँ, बाएँ फेफड़े से जोड़ता है। फेफड़ों के अंदर ब्रॉंकस अनेक बारीक नलियों में बँट जाते हैं जिन्हें **ब्रांकिओल या श्वसनिकाएँ** कहते हैं। प्रत्येक श्वसनिका बारीक वायु-कोशों या कूपिकाओं (alveoli; एकवचन–
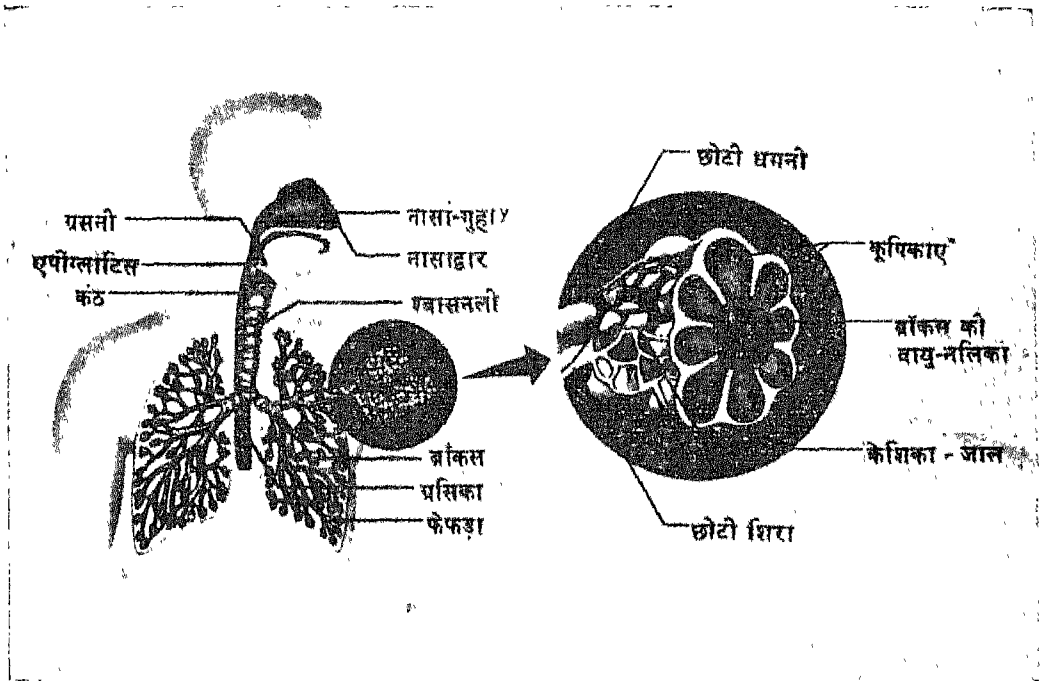
चित्र 28.37 मनुष्य के श्वसन-अंगों का रेखाचित्र। नासा गुहा (nasal cavity) कंठ के द्वारा ग्रसनी (pharynx) से जुड़ती है। श्वास-नली (trachea) दोनों फेफड़ों को कंठ से जोड़ती है। दोनों ब्रांकस फेफड़ों में कई शाखाओं में बँटते हुए कूपिकाओं (alveoli) में समाप्त होते हैं। कुछ कूपिकाएँ दाईं ओर के रेखाचित्र में बड़ी करके दिखाई हैं। कूपिकाओं के चारों ओर की वायु और केशिकाओं के रुधिर में गैस-विनिमय होता है। आधार : बी० एस० सी० एस० : "हाई स्कूल बायोलोजी", रैंड मैकनैली एंड कंपनी, न्यूयार्क, 1962।

alveolus) के झुण्ड में समाप्त होती है। प्रत्येक वायु-कोश या कूपिका में एक पतली भित्ति चारों ओर से रुधिर-केशिकाओं के जाल से घिरी होती है और उसमें से गैस-विनिमय होता है।

फेफड़े तिकोने होते हैं—अग्रभाग पर नोकदार और तले की तरफ चौड़े। प्रत्येक फुप्फुस या फेफड़ा एक हल्का स्पंजी अंग है जिसमें लाखों कूपिकाएँ, श्वसनिकाएँ और रुधिर वाहिकाएँ होती हैं जो योजी ऊतक द्वारा परस्पर जुड़कर एक लचीला-पिंड बनाती हैं। हर फेफड़ा दो झिल्लियों से ढँका रहता है—एक आंतरिक फुप्फुसावरण (pulmonary pleura) जो फेफड़ों को निकट से ढके रहता है और एक बाह्य फुप्फुसावरण जो डायाफ्राम और वक्षगुहा का अस्तर भी बना रहता है। दोनों के बीच घर्षण रोकने के लिए एक पतले तरल की परत बहती रहती है। फुप्फुसावरण (प्लूरा) में सूजन आ जाने पर प्लूरिसी नामक रोग हो जाता है। प्लूरिसी की प्रारंभिक अवस्था का सबसे मुख्य लक्षण है छाती में बहुत तीव्र दर्द उठना जो कि गहरी साँस लेने या खाँसने पर और भी तीव्र हो जाता है।

श्वसन संबंधी गतिविधियाँ : साँस भीतर खींचने या निश्वसन (inhalaiton) और बाहर निकालने या उच्छ्वास (exhalation) की क्रिया डायाफ्राम और पर्शुकाओं यानी पसलियों द्वारा संपन्न की जाती है। निश्वसन के समय डायाफ्राम नीचे दबता है और पसलियाँ तथा छाती की हड्डियाँ कुछ पेशियों द्वारा आगे और बाहर की ओर उभरती हैं। इस तरह छाती फैलती है और वायु भीतर प्रवेश कर जाती है (चित्र 28 38)। उच्छ्वास की क्रिया में बिल्कुल उल्टा होता है। पेशियों के सिकुड़ने से उदरीय अंग (abdominal organs) दबते
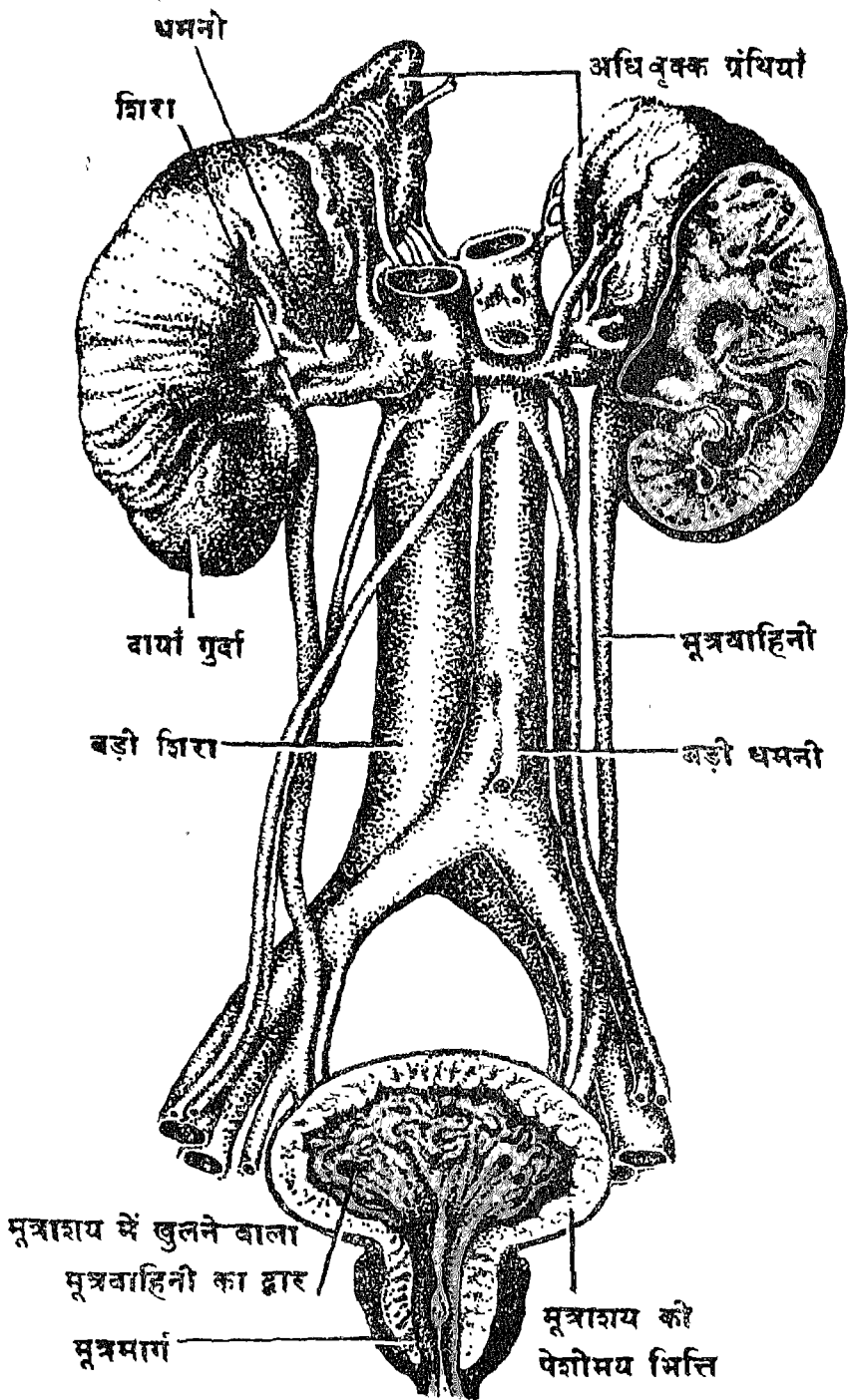
चित्र 28.39 उत्सर्जक अंग। मूत्रवाहिनी (यूरेटर) दिखाने के लिए बाईं ओर का गुर्दा काटकर खोल दिया गया है। आधार : ई० कोवर, डब्ल्यू० एन० वुल्फ एंड आर० एल० वीवर, 'बायोलोजी' डी० सी० हीथ एंड कंपनी, बोस्टन, 1960।
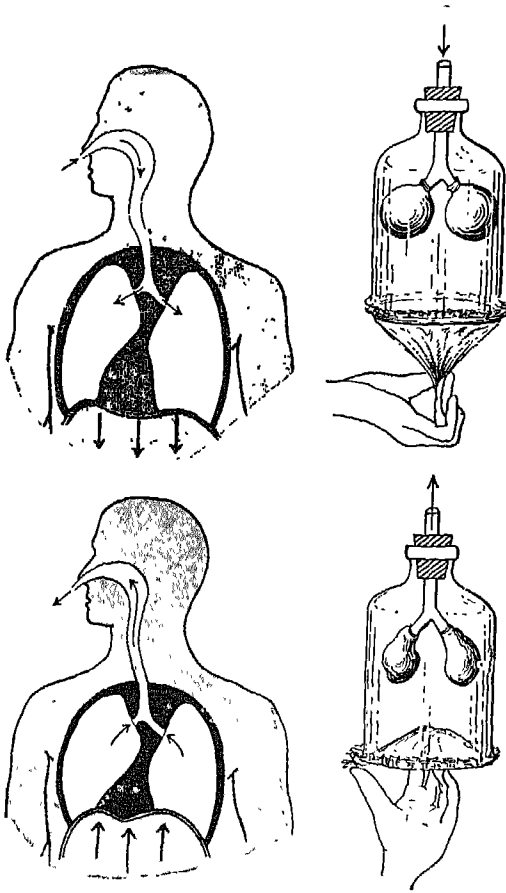
चित्र 28.38 श्वसन की प्रक्रिया। अंतः श्वसन (inhalation) के समय डायाफ्राम नीचे को दबता है और वक्ष-गुहा फैलती है। इसके फलस्वरूप हवा फेफड़ों में अंदर खिंच जाती है। उच्छ्‌वसन के समय डायाफ्राम ऊपर को उठता है, वक्ष-गुहा छोटी हो जाती है और हवा साँस छोड़ने के साथ बाहर निकल जाती है। डायाफ्राम की क्रिया इस प्रयोग से देखी जा सकती है। एक बेलजार में दो छोटे-छोटे गुब्बारे लगा दें। इस बेलजार के आधार में रबड़ का डायाफ्राम बना दें। अब गुब्बारों को फुलाने या उनकी हवा निकालने के लिए रबड़ के डायाफ्राम को सिर्फ खींचना या दबाना पड़ेगा।

हैं और डायाफ़ाम उभर आता है। पसलियाँ और छाती की हड्डियाँ भी दबती हैं। इस तरह फेफड़े भी दबते हैं और उनमें भरी वायु बाहर निकल आती है। डायाफ़ाम फेफड़ों को किस तरह फुलाता है, इसका एक प्रयोगात्मक प्रदर्शन चित्र 28.38 में दिखाया गया है। सामान्यतः डायाफ़ाम और पसलियाँ दोनों ही इस क्रिया में भाग लेती हैं, पर श्वसनक्रिया में डायाफ़ाम का योग प्रमुख होता है। अभी थोड़ी देर पढ़ना बंद करके आप यह महसूस करके देखिए कि निश्वसन और उच्छ्‌वसन के साथ आपका उदर क्रमशः तनता और सिकुड़ता है। उदर की ये गतियाँ परोक्ष रूप से डायाफ़ाम को उभारने और दबाने मे सहायता करती हैं। हाँ, किस हद तक करती हैं, यह आदमी-दर-आदमी भिन्न होता है और उस समय आदमी क्या कर रहा है और किस स्थिति में है, इसका भी असर पड़ता है। जब फेफड़े खूब फूले हुए होते हैं तो उनमें कोई 3000 मिलीलीटर वायु समा सकती है। साधारणतया साँस के साथ कोई 500 मिलीलीटर वायु भीतर खींची जाती है और इतनी ही बाहर निकाली जाती है।

कुछ परिस्थितियों में कृत्रिम श्वसन देने की जरूरत पड़ती है, जैसे कि किसी के डूबने पर, या बिजली का गहरा झटका लगने पर या दम घुटने पर। कृत्रिम साँस देने की कई तरकीबें हैं और इनके बारे में तुम 'फर्स्ट एड' या 'प्राथमिक चिकित्सा' की किसी किताब में पढ़ सकते हो। इनमें से एक विधि में 'आयरन लंग' इस्तेमाल किए जाते है। यह दुर्बल रोगियों या उन रोगियो मे साँस डालने का साधन है जिनकी छाती की पेशियों को लकवा मार गया है।

उत्सर्जन तंत्र

इस तंत्र में मुख्यतः एक जोड़ी वृक्क (kidneys), एक जोड़ी मूत्रवाहिनियाँ (ureters), एक मूत्राशय और एक मूत्रमार्ग (urethra) होता है (चित्र 28.39)। गुर्दे या वृक्क उदर में डायाफ़ाम के ठीक पीछे मेरु-दंड के दोनों ओर स्थित होते हैं। पसलियो का सबसे निचला जोड़ा उनकी रक्षा करता है। बायाँ गुर्दा आमतौर पर दाएँ से जरा-सी ऊँचाई पर स्थित होता है। प्रत्येक गुर्दे की शक्ल कुछ-कुछ सेम के दाने जैसी होती है और अंदरूनी किनारा बीच में भीतर को दबा-सा होता
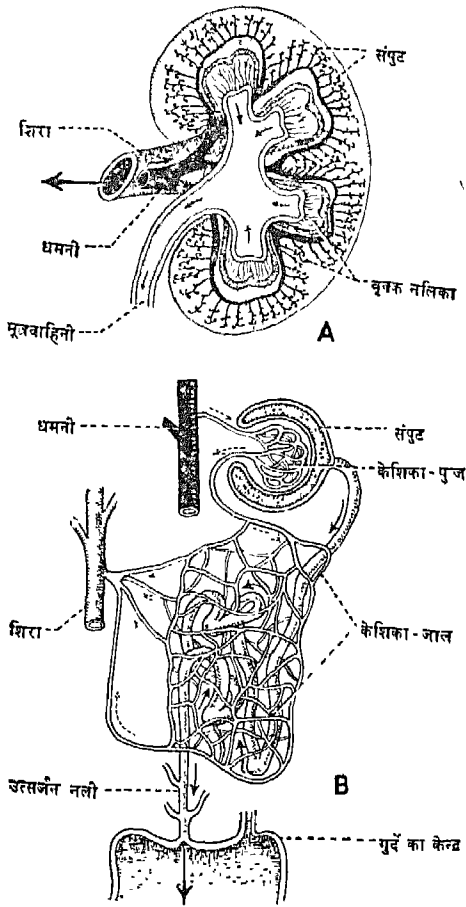
चित्र 28.40 गुर्दे के जिस अंग में वर्ज्य पदार्थ उत्सर्जित होते हैं, वह मूत्रनलिका ही गुर्दे की क्रियात्मक इकाई है। A. मूत्रनलिका की स्थिति, B. मूत्रनलिका की रचना। बिंदीदार तीर रुधिर का मार्ग और ठोस तीर उत्सर्जित वर्ज्य पदार्थों की गतिविधि प्रदर्शित करते हैं। आधार: सी० एल० फैंटन एंड पी० ई० कांबली, "बेसिक बायोलोजी", दी मैक्मिलन कंपनी, न्यूयार्क, 1947।

है। इसी जगह रुधिर-वाहिकाएँ, तंत्रिकाएँ लसीका वाहिनियाँ और मूत्र-वाहिनियों का वृक्क में संगम होता है।

गुर्दे असंख्य पतली भित्तिवाली मुड़ी हुई नलियों के बने होते हैं, जिन्हें वृक्क-नलिकाएँ (uriniferous tubules) कहते हैं और जिनके चारों ओर रुधिर-केशिकाओं का जाल बुना होता है (चित्र 28.40)। प्रत्येक नलिका का एक प्यालेनुमा भाग वृक्क के बाहरी किनारे की ओर स्थित होता है। इस प्याले में केशिकाओं का झुंड होता है जिसमें से काफी प्लाज्मा (और उसके साथ उत्सर्जन-सामग्री) प्याले में विसरित होता रहता है। जब ये प्लाज्मा नलिका वाले हिस्से में से बहता रहता है तो वहाँ उपयोगी सामग्री पुनः रुधिर में अवशोषित हो जाती है और वर्ज्य उत्पाद (waste products) जैसे कि यूरिया, कुछ लवण और अतिरिक्त जल) मूत्र के रूप में मूत्रवाहिनी में आ जाते हैं। यह मूत्र अस्थायी रूप से मूत्राशय में इकट्ठा रहता है। गुर्दे या वृक्क खून में से बेकार की चीज निकाल फेंकने का ही काम नहीं करते, बल्कि इसके साथ-साथ वे, चाहे हम कुछ भी खाएँ-पिएँ, रुधिर का संघटन स्थायी बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। मूत्राशय का निचला भाग मूत्रमार्ग नामक एक नली बनाता है जो कि बाहर की ओर खुलती है और मूत्र निष्कासित करती है।

तंत्रिका-तंत्र

देह की सारी क्रियाएँ दो तंत्रों द्वारा समन्वित की जाती हैं। तंत्रिका-तंत्र और अंतःस्रावी तंत्र (endocrine system)। तंत्रिका-तंत्र अधिक फुर्तीला है और इसमें मस्तिष्क, मेरु-रज्जु (spinal cord) और सारी देह में फैली तंत्रिकाओं का जाल शामिल है। तंत्रिका-ऊतक, तंत्रिका कोशिकाओं की बनी होती है। मस्तिष्क और मेरु-रज्जु मिलकर केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र बनाता है और उसकी तंत्रिकाएँ परिधीय तंत्रिका-तंत्र बनाती हैं। एक तीसरा तंत्र स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र कहलाता है, जो कि विविध आंतरिक अंगों का नियंत्रण अपने-आप करता है और जिसकी हमें चेतनरूप से कोई जानकारी नहीं होने पाती और वह हमारे नियंत्रण से परे होता है।

प्रमस्तिष्क-गोलार्ध (cerebral hemisphere) के आकार और धूसर द्रव्य (grey matter) की मात्रा की दृष्टि से मानव का मस्तिष्क किसी भी अन्य प्राणी से बढ़कर है। एक सामान्य वयस्क में मस्तिष्क का भार औसतन लगभग 1350 ग्राम होता है, जब कि गोरिल्ला का 450 ग्राम और कुत्ते का 140 ग्राम। प्रमस्तिष्क या सेरीब्रम सबसे बड़ा भाग है और मध्य
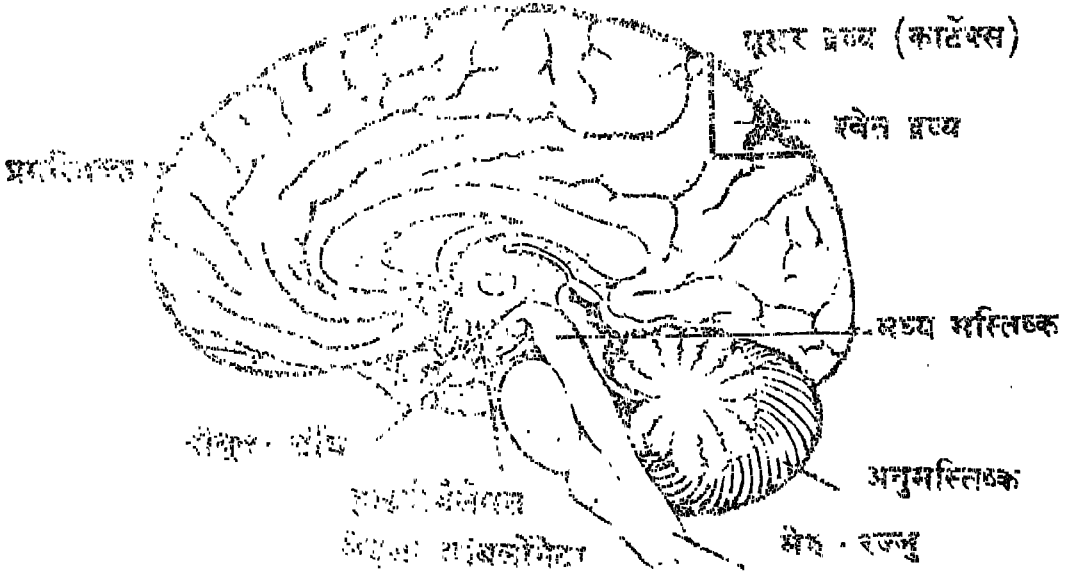
चित्र 28.41 मानव-मस्तिष्क का दोनों अर्धकों की सीमारेखा से काटा गया अनुदैर्ध्य सैक्शन। ऊपर बाएँ कोने पर मोटी रेखा से चिह्नित भाग मस्तिष्क के कार्टेक्स और श्वेत द्रव्य की स्थिति बताता है। आधार : सी० ग्रामेट एंड जे० मांडेल, "बायोलोजी सर्विंग यू", प्रेंटिस-हाल इंको० इंगेलवुड क्लिफ्स, न्यूजर्सी, 1958।

मस्तिष्क, अनुमस्तिष्क तथा मेडूला ऑबलांगेटा इत्यादि सब के ऊपर स्थित होता है (चित्र 28.41)। एक गहरी लंबूतरी दरार प्रमस्तिष्क को दो गोलार्धों में बाँटती है और ये दोनों गोलार्ध तंतुमय ऊतक की एक क्षैतिज परत से

चित्र 28.42 मस्तिष्क के नीचे से मनुष्य के तंत्रिका-तंत्र का दृश्य। कुल मिलाकर 12 जोड़ी कपाल-तंत्रिकाएँ और 31 जोड़ी रीढ़ तंत्रिकाएँ होती हैं। बीच के 'इनसेट' में मेरु-रज्जु का सेक्शन काट कर दिखाया गया है। आधार : सी० ग्रामेट एंड जे० मांडेल, "बायोलोजी सर्विंग यू", प्रेंटिस-हाल, इंको०, इंगेलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी, 1958।
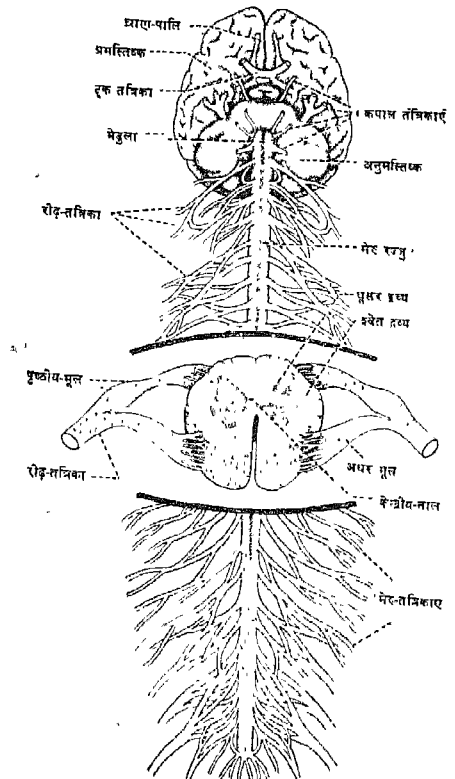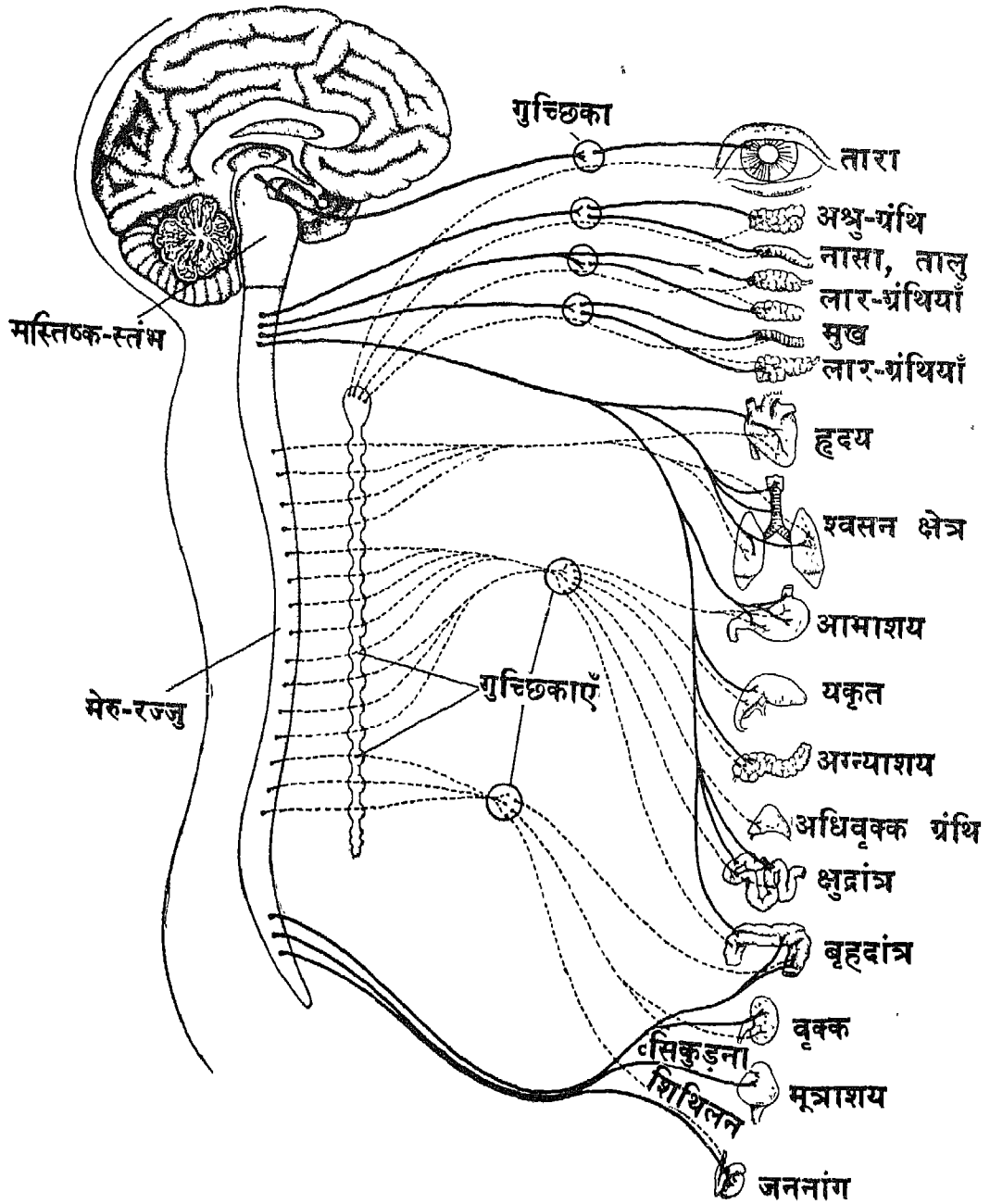
चित्र 28 43 स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र के अनुकंपी (बिंदीदार रेखा) और परानुकंपी (काली रेखा) भाग और केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र (मस्तिष्क और मेरु-रज्जु) तथा विविध अंगों से उनका संबंध। मेरु-रज्जु के समांतर स्थित अनुकंपी तंत्रिका-तंत्र की गुच्छिकाओं (ganglia) पर ध्यान दें। विविध स्रोतों से।

परस्पर जुड़े रहते हैं। प्रमस्तिष्क-गोलार्धों की सतह पर असंख्य झुर्रियाँ पड़ी रहती हैं जिन्हें संवलन (convolutions) कहते हैं। घ्राण-पालि (olfactory lobe) बहुत छोटे होते है और केवल अधरतल से दिखाई देते है। देह के विविध कार्यों का नियंत्रण करने वाले केन्द्र चित्र 28.44 में दिखाए गए है।

मेडूला ऑबलॉगेटा नीचे की ओर मेरु-रज्जु के रूप मे जारी रहता है जो कि रीढ़ की हड्डी के बीच की नाल के भीतर से जाती है। मस्तिष्क और मेरु-रज्जु दोनों ही दो सख्त झिल्लियों से और प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव (cerebrospinal fluid) द्वारा रक्षित रहते हैं। यह प्रमस्तिष्क-मेरु द्रव एक शॉक-एबजॉर्बर (shock-absorber) का काम करता है। मस्तिष्क से 12 जोड़ी और मेरु-रज्जु से 31 जोड़ी तंत्रिकाएँ निकलती है (चित्र 28.42)।

स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र में अनुकंपी (sympathetic) और परानुकंपी (parasympathetic) तंत्र होते हैं। अनुकंपी तंत्र में मेरु-रज्जु के दोनों बाजुओं में गुच्छिकाओं (ganglia) की दो शृंखलाएँ होती हैं। तंत्रिका-तंतुओ द्वारा ये गुच्छिकाएँ केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र और आँतरांगों (visceral organs) से जुड़ी होती हैं। परानुकंपी तंत्रिका-तंत्र की गुच्छिकाओं के भी जोड़े होते हैं, पर वे आँतरांगों के अधिक निकट होते हैं। इस तंत्र का उद्गम मस्तिष्क से और मेरु-रज्जु के पश्च भाग से होता है। ये दोनों तंत्र (अनुकंपी और परानुकंपी) आंतरिक अंगो——जैसे कि हृदय और आँतों की भित्तियों के कार्य का नियमन करते है (चित्र 28.43)। अनुकंपी तंत्र किसी अंग-विशेष की क्रिया को आम तौर पर तीव्रता प्रदान करता है और परानुकंपी तंत्र उसे मंद करता है।
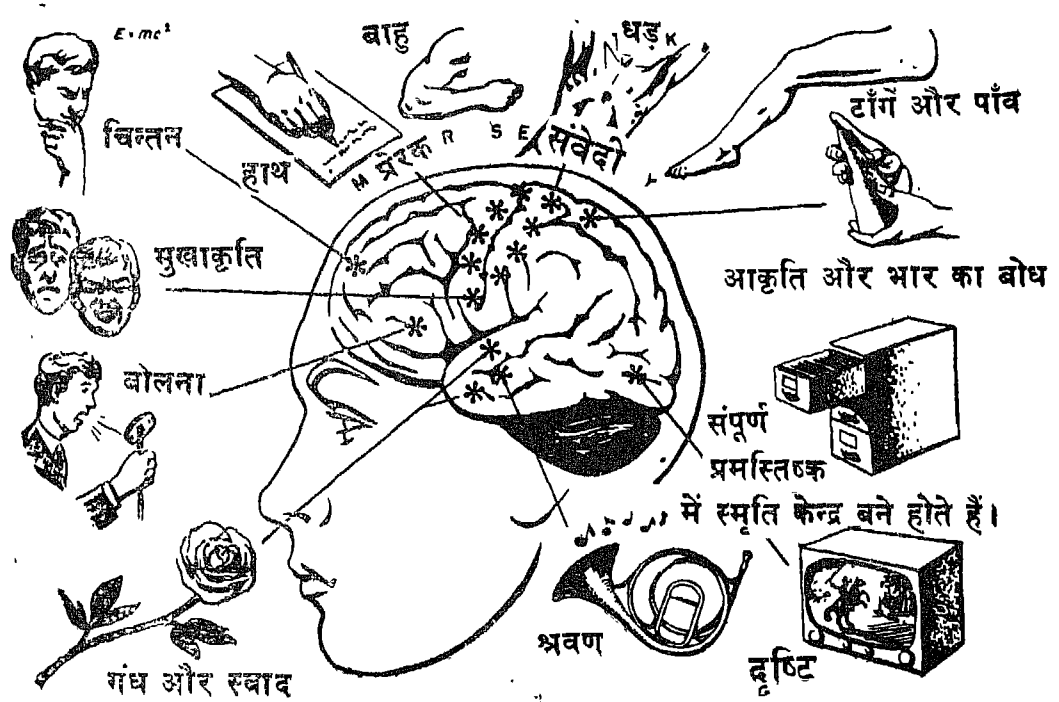
चित्र 28.44 मनुष्य में प्रमस्तिष्क के कार्य। प्रमस्तिष्क का अधिकांश ऐसे सह-क्षेत्रों का बना होता है जो स्मृति और बुद्धि के केन्द्र माने जाते हैं। आधार: सी० ग्रामेट एंड जे० मांडेल, "बायोलोजी सर्विंग य", प्रेंटिस-हाल, इंको०, इंगेलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी, 1958।

ज्ञानेन्द्रियाँ

हमारे पाँच सुपरिचित संवेदन ज्ञान हैं; दृष्टि, श्रवण, गंध, स्वाद और स्पर्श। ये काम क्रमशः आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा द्वारा संपन्न किए जाते हैं। दबाव, दर्द, ठंड और गर्मी की अनुभूति भी त्वचा से ही होती है।

आँख: आँखें कुछ-कुछ गेंद-सरीखी होती हैं और खोपड़ी की गहरी गुहाओं (अर्थात् नेत्र-कोटरों–orbits) में रखी रहती हैं। आँखों में धूल या कोई दूसरी वस्तु न पड़े, इसके लिए पलकें बड़ी तेजी से बंद हो जाती हैं। पलकों के रोमयुक्त किनारे या पक्ष्म (eye lashes) भी इस कार्य में सहायता करते हैं। गैस, धुएँ या किसी तिनके वगैरह के गिर जाने पर या फिर बहुत भावुक हो उठने पर आँखें एक जलीय स्राव से भर जाती हैं, जिसे हम आँसू कहते हैं। यह स्राव आँख की बाहरी कोर के निकट स्थित अश्रु-ग्रंथियों से निकलता है और ऊपरी पलकों के नीचे स्थित बारीक नलियों (वाहिनियों–ducts) द्वारा आँख में रिसता है (चित्र 28.45)। ऊपरी पलक के झपकने से यह स्राव सारी आँख में फैल जाता है और कोई धूल-कण वगैरह आ गए हों तो साफ हो जाते हैं।
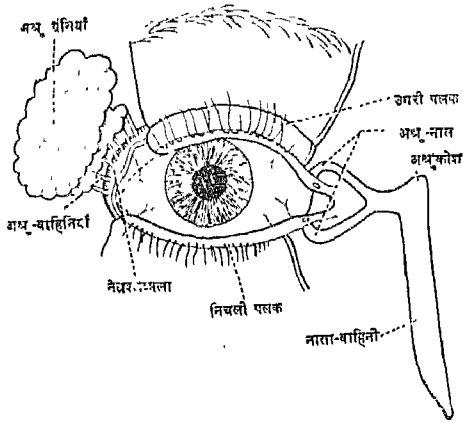
चित्र 28.45 दायाँ नेत्र और उसकी अश्रु-ग्रंथि। हमारी आँखें यों तो सदैव कुछ-कुछ गीली रहती हैं, पर धुआँ या गैस लगने या कुछ भावनाओं का आवेग होने पर जलीय स्राव यानी आँसुओं से भर जाती हैं। आधार: डब्ल्यू० डब्ल्यू० टटल एंड बी०ए० शोटेलियस, "टैक्स्टबुक ऑफ फिजियोलोजी", दी सी० वी० मोस्बी कंपनी, सेंट लुई, 1965।

आँख की भित्ति उन्हीं तीन संकेन्द्री परतों (दृढ़ पटल––sclerotic, रक्तक पटल––choroid, दृष्टि पटल––retina) की बनी होती है, जो कि मेंढक में थी। सामने की ओर दृढ़पटलीय परत एक पारदर्शी, कुछ-कुछ उभरा और गोल कॉर्निया (cornea) बनाती है। कॉर्निया निकालकर सुरक्षित रखा जा सकता है और किसी दूसरे व्यक्ति की आँख में रोपा जा सकता है। कॉर्निया तथा दृढ़पटलीय परत का शेष भाग एक दूसरी पतली झिल्ली––नेत्रश्लेष्मला (conjunctiva) से ढका होता है। यह झिल्ली पलकों की अंदरूनी सतह का ही यहाँ तक जारी भाग है। बीच की परत यानी रक्तक पटल (choroid) द्वारा निर्मित परितारिका (iris) में पुतली (pupil) बंद होती है, जो कि बाहर से 'काली खिड़की-सी' दिखाई देती है। परितारिका में अनेक कोमल पेशियाँ होती हैं, जो कि पुतली के आकार को आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ाकर नियंत्रित करती हैं, जिसके फलस्वरूप दृष्टिपटल तक पहुँचने वाला प्रकाश भी नियंत्रित हो जाता है। पुतली के ठीक पीछे एक उपयोत्तली लेन्स होता है जो कि स्नायुओं (ligaments) और पेशियों द्वारा सधा रहता है। लेन्स और कॉर्निया के बीच की संकरी जगह में नेत्रोद (aqueous humour) नामक पारदर्शी जलीय तरल भरा रहता है (चित्र 28.46A)। लेन्स के पीछे के बड़े कोष्ठ में साफ श्लेषी पदार्थ (काचाभ-द्रव––vitreous humour) होता है।

दृष्टिपटल या रेटिना संवेदी परत है और इसमें दो तरह की कोशिकाएँ होती हैं––दंड (rods) और शंकु (cones) (चित्र 28.46B)। दंड-कोशिकाएँ मंद प्रकाश के लिए संवेदनशील होती हैं और रंगों का भेद नहीं कर सकतीं। जब कि शंकु-कोशिकाएँ तेज रोशनी के लिए संवेदनशील होती हैं और रंगों का भेद कर सकती हैं। आँख के पीछे की ओर पुतली की विपरीत दिशा में शंकु-कोशिकाओं की संख्या अधिक होती है। यह भाग कुछ-कुछ दबा होता है और **पीत-बिन्दु** (yellow spot) या **फोविआ** (fovea) कहलाता है। यहाँ पर दृष्टि सबसे अधिक तीक्ष्ण होती है। दृष्टिपटल के संवेदी तंतु एक साथ इकट्ठे होकर नेत्र-गोलक (eye ball) के पीछे से दृक्-तंत्रिका के रूप में निकलते हैं।

जहाँ से दृक्-तंत्रिका नेत्र से बाहर आती है, वहाँ दंड

या शंकु-कोशिकाएँ नहीं होतीं। क्योंकि इस जगह पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का बोध नहीं होता, अतः इसे **अंध-बिन्दु** (blind spot) कहा जाता है। एक सरल प्रयोग द्वारा इस बिन्दु का होना प्रदर्शित किया जा सकता है। एक कागज लीजिए और उस पर एक क्षैतिज रेखा में एक दूसरे से छः सेंटीमीटर की दूरी पर दो निशान लगाइए। इस कागज को अपनी आँखों से 20 सेंटीमीटर की दूरी पर रख कर देखिए। अब अपनी बाईं आँख बंद करिए और दाईं आँख से बाईं ओर का निशान देखिए। अब इसी स्थिति में आँख निशान पर गड़ाए हुए ही कागज को आगे चेहरे की तरफ सरकाते जाइए। एक स्थिति ऐसी आएगी जिस पर दायाँ निशान गायब हो जाएगा। अगर कागज को और अधिक निकट लाएँगे तो दायाँ निशान फिर नजर आने लगेगा। इस क्रिया को दाईं ओर के निशान पर बाईं आँख गड़ाकर दुहराइए। हर बार जब भी निशान गायब होता है तो उस समय उसका प्रतिबिम्ब आपकी आँख के अंध-बिन्दु पर पड़ रहा होता है।

सामान्य दोषरहित नेत्र दूर और निकट के बिम्बों का प्रतिबिम्ब दृष्टिपटल पर फोकस कर सकते हैं (चित्र 28.46 C)। यह **समंजन** (accommodation) के द्वारा संभव होता है, जिसमें दूरी के हिसाब से लेन्स की उत्तलता (convexity) बदल जाती है (चित्र 28.46 D)। निकट की वस्तुओं को देखने के लिए आँख के लेन्स को उन पर फ़ोकस करना होता है और इस क्रिया में पेशियाँ सिकुड़कर लेन्स की उत्तलता बढ़ा देती हैं। इसलिए लगातार देर तक निकट की वस्तु पर दृष्टि जमाए रहने से (जैसे कि किताब पढ़ते समय) आँखों पर जोर पड़ता है और वे थक जाती हैं।
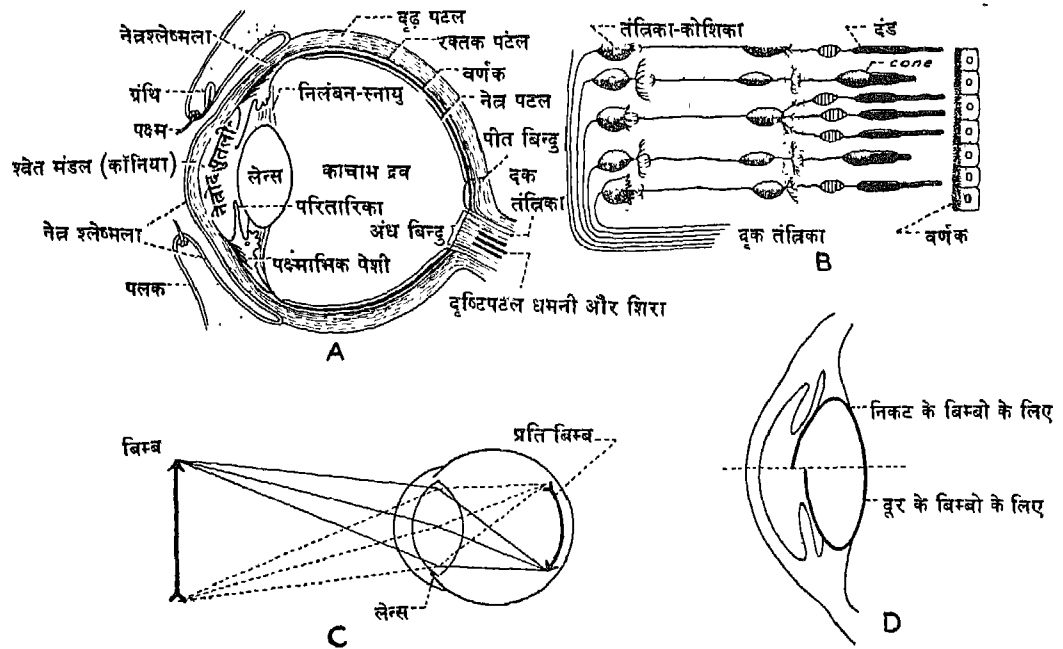
चित्र 28.46 मानव-नेत्र। A बीच से उदग्र सेक्शन। B नेत्रपटल (रेटिना) का एक छोटा-सा भाग तंत्रिकाओं दंडों (rods), शंकुओं (cones) और वर्णक-कोशिकाएँ दिखाने के लिए बड़ा कर दिया गया है। C जिस तरह कैमरे के लेन्स से फोटोग्राफिक फिल्म पर प्रतिबिम्ब उभरता है, उसी तरह नेत्र का लेन्स भी नेत्र पटल पर प्रतिबिम्ब (घटाया हुआ और उलटा) बनाता है। D बिम्बों की निकटता या दूरी के अनुसार उन्हें फोकस करने के लिए लेन्स की आकृति में परिवर्तन (यह समंजन (accommodation) कहा जाता है)। आधार: टी० आई० स्टोरर एंड आर० एल० यूसिंगर, "जनरल जूलोजी", मैकग्राहिल बुक कंपनी, इंको० न्यूयार्क, 1957।

आँखों के सामान्य दोष : निकटदृष्टि (near-sightedness) : यह दोष तब पैदा होता है जब किसी दूर की वस्तु का प्रतिबिम्ब दृष्टिपटल या रेटिना के सामने फ़ोकस होने लगता है। इसके दो कारण हो सकते हैं—आगे से पीछे तक नेत्रगोलक लंबा हो गया हो या लेन्स की उत्तलता बढ़ गई हो। सही अवतल शीशों वाला चश्मा इस्तेमाल करने से यह दोष दूर किया जा सकता है। **दूर-दृष्टि** (far-sightedness) का दोष बिल्कुल विपरीत परिस्थितियों के कारण पैदा होता है। इस दृष्टि-दोष को सुधारने के लिए उचित उत्तल लेन्स वाला चश्मा पहनना
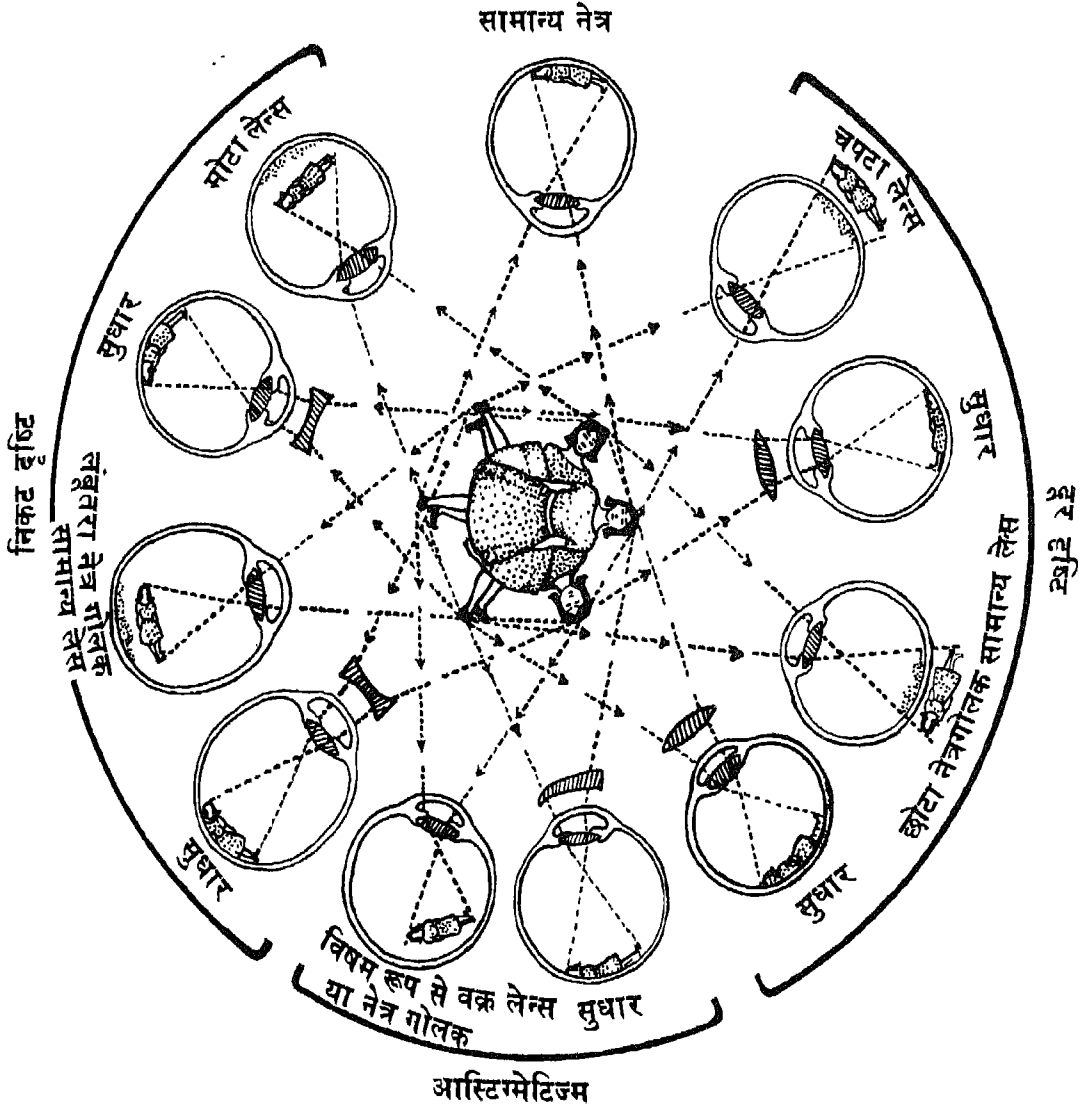
चित्र 28.47 नेत्र के कुछ सामान्य दोष। आधार : सी० ग्रामेट एंड जे० मांडेल, "बायोलोजी सर्विंग य" प्रैंटिस-हाल, इंको०, इंगेलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी, 1958।
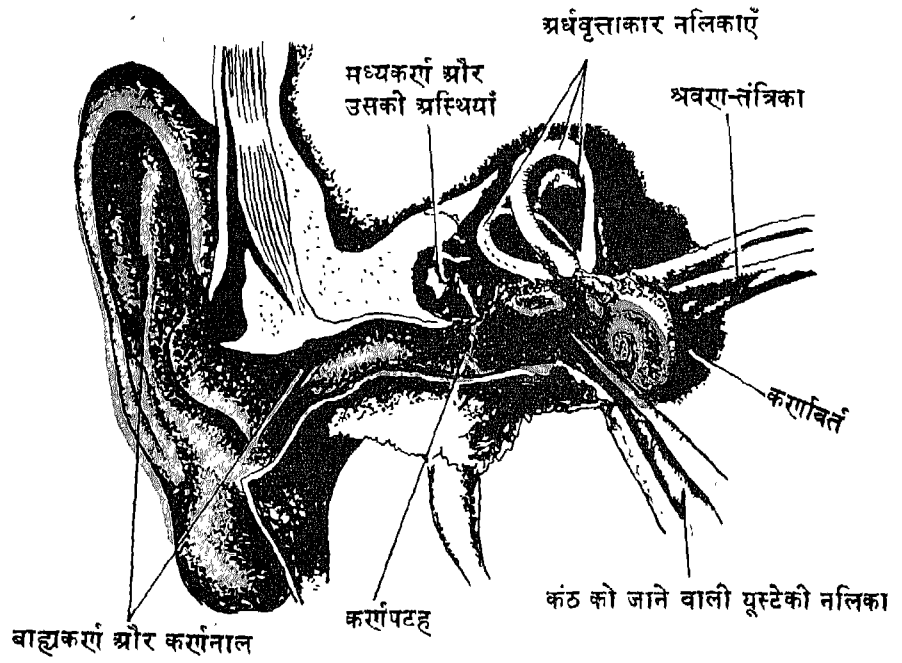
चित्र 28.48. मनुष्य के कान का रेखाचित्र। बाह्यकर्ण, मध्यकर्ण और आंतरकर्ण की सीमारेखाओं पर ध्यान दीजिए। सौजन्य : सोनोटोन कार्पोरेशन, न्यूयार्क।

होता है। एक और दोष होता है—**ऐस्टिग्मैटिज्म** (Astigmatism)। यह लेन्स और कॉर्निया के आकृति की असामान्यताओं के कारण पैदा होता है। इसको सुधारने के लिए सिलिंडराकार लेन्स इस्तेमाल किए जाते है। बुढ़ापे में नज़र कमज़ोर हो जाने का कारण यह है कि लेन्स का लचीलापन कम हो जाता है और उसे पास की चीजों पर फ़ोकस करने में कठिनाई होती है। यह दोष चालीस से ले कर छियालीस की आयु से प्रकट होना शुरू करता है (चित्र 28.47)। **कैटारेक्ट** (cataract) या **मोतिया-बिंद** में लेन्स अपारदर्शी हो जाता है जिसके कई कारण हो सकते हैं। इसके उपचार के लिए नेत्र-विशेषज्ञ की सेवाएँ लेनी होती हैं।

आँखों की देखभाल : कम रोशनी में पढ़कर आँखों पर जोर नहीं डालना चाहिए। बहुत तेज रोशनी की सीधी चमक से अपनी आँखें बचाइए। थकी आँखों को कुछ देर मूँद लेने से या कुछ क्षण के लिए बाहर दूर की ओर घुमा देने से आराम मिलता है। कम-से-कम दिन में दो बार आँखें भली प्रकार साफ़ करनी चाहिए। जब भी आँखों में कोई तकलीफ महसूस हो तो अपने चिकित्सक की सलाह लीजिए; अगर देखने में कठिनाई होने लगी है तो आपको चश्मा लगाने की जरूरत पड़ सकती है।

कान : कान के तीन भाग होते है—बाह्यकर्ण, मध्यकर्ण और आंतरकर्ण (चित्र 28.48)। बाह्यकर्ण, कान का सबसे बाहरी भाग है जो आगे निकला होता है। यह त्वचा से ढका हुआ उपास्थिमय अंग है, जिसे **पिन्ना** (pinna) या **कर्ण-पल्लव** कहते हैं। यह ध्वनि-तरंगों को एकत्र करके उन्हें एक नलिकाकार श्रवण-मार्ग में प्रविष्ट करता है। कुछ प्राणी अपने कानों को आवाज़ की दिशा में घुमा सकते हैं, पर आदमी में ये सामर्थ्य प्रदान करने वाली पेशियाँ अवशेषी (vestigial) हो चुकी हैं, हालाँकि कुछ लोग अपने कानों को जरा-सा हिला सकते हैं। श्रवण-मार्ग (auditory passage) में एक मोमी परत होती है जो भीतर खिसक आने वाले जीवाणु (बैक्टीरिया) आदि सूक्ष्मजीवों को फँसा लेती है और अंदर नहीं जाने देती। इसी तरह बाह्य द्वार पर स्थित महीन रोम भी रक्षा का कार्य करते हैं। श्रवण-मार्ग के अंदरूनी सिरे पर कुछ-कुछ तिरछी स्थिति में एक पतली नीली-भूरी झिल्ली लगी होती है जिसे **कर्ण-पटह** (eardrum) कहते हैं।

मध्यकर्ण में तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं जो कि एक कोष्ट में जमा होती हैं। पहली अस्थि **हैमर** (hammer) कहलाती है और कर्ण-पटह की भीतरी सतह से लगी होती है। इसके बाद **ऐन्विल** (anvil) होती है और तीसरी अस्थि **स्टिरप** (stirrup) कहलाती है। स्टिरप का अंदरूनी सिरा कोष्ठ की आंत-रिक भित्ति के अंडाकार द्वार में फिट होता है। एक वायु-मार्ग होता है—**यूस्टेकी नलिका** (eustachian tube)—जो कि मध्यकर्ण के फ़र्श को ग्रसनी या फ़ेरिंक्स से जोड़ता है। यह नलिका कर्ण-पटह के दोनों ओर के वायु-दाब को संतुलित करती है।

आंतरकर्ण बहुत कोमल होता है। इसमें दो भाग मुख्य होते हैं—ऊपरी भाग **यूट्रीकुलस** (utriculus) और निचला भाग **सैक्युलस** (sacculus)। ऊपरी भाग तीन अर्धवृत्ताकार नलिकाओं से जुड़ा होता है, जो कि श्रवण से नहीं बल्कि देह की स्थिति के संवेदन से संबंध रखती है। सैक्युलस से एक लंबा नलिकाकार भाग या कर्णावर्त निकलता है जो कि शंख की तरह से कुंडलीदार होता है और कपाल की एक अस्थि में धँसा रहता है। इसमें **नालों** (canals) और लिम्फ़ या लसीका-जैसे तरल से भरे हुए अवकाशों (spaces) का जाल बिछा रहता है और इनके आर-पार पतली संवेदनशील झिल्लियाँ लगी रहती है। यह भाग सुनने से संबंधित है (चित्र 28.49)।

नासिका : गंध पहचानने वाली कोशिकाएँ नासा-कोष्ठों (nasal chambers) के अस्तर में स्थित होती है। इन कोशिकाओं से निकलने वाले तंत्रिका-तंतु अस्थियों में होते हुए मस्तिष्क के गंधवाले भाग में पहुँचते हैं। किसी भी चीज, जैसे कि गुलाब से गंध वहन करने वाले कण नासिका में वायु के साथ प्रवेश करते है और संवेदी कोशिकाओं को उद्दीपित कर देते हैं।

जिह्वा : जीभ की सतह पर अनेक **स्वाद-कलिकाएँ** (taste-buds) होती हैं। प्रत्येक स्वाद-कलिका सतह पर की एक छोटी-सी नीचे दबी जगह में स्थिति पक्ष्माभिक कोशिकाओं (ciliated cells) के एक

मस्तिष्क का अभिलेखागार
श्रवण-तंत्रिका
कर्णनाल
एन्विल
हैमर
स्टिरप
कर्णावर्त्त में कंपनशील झिल्ली
कर्णपटह
बाह्य कर्ण
कर्णपल्लव
मध्यकर्ण
आंतर कर्ण
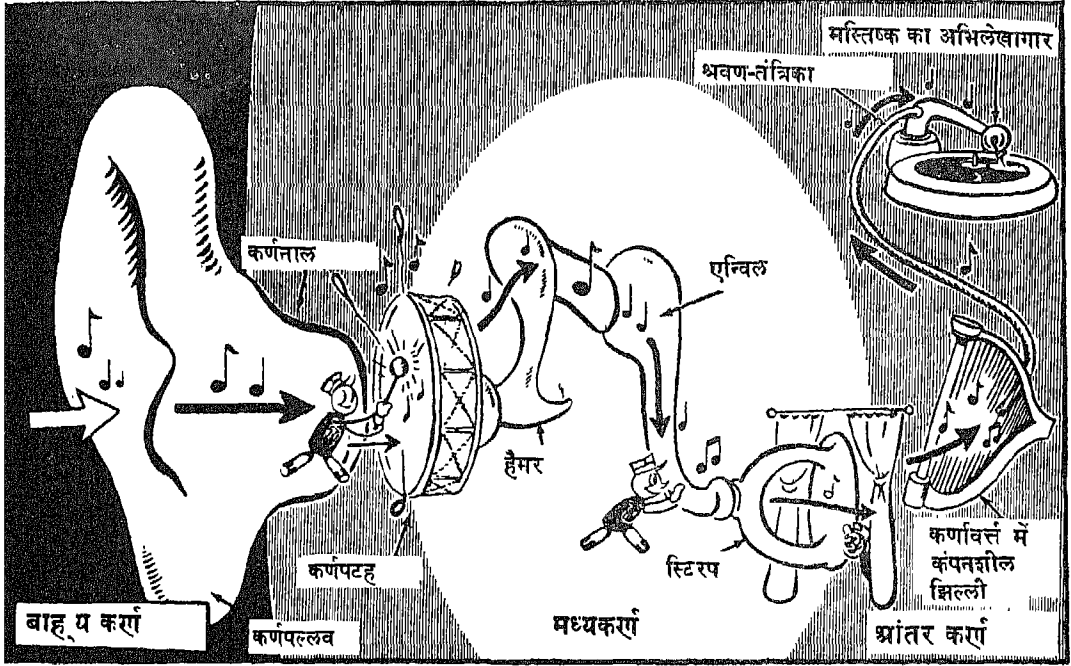
चित्र 28.49 सुनने की प्रक्रिया। हम सुनते कैसे हैं, यह समझने के लिए कान के इस व्यंग्य-चित्र की वास्तविक भागों के चित्र से तुलना करिए। सौजन्य: सोनोटोन कार्पोरेशन, न्यूयार्क।

बड़े झुंड के रूप में होती है। इन संवेदी कोशिकाओं के भीतरी सिरों से संवेदी तंत्रिका-तंतु निकलते हैं और स्वाद-तंत्रिका बनाते हैं। लार मिश्रित अन्न स्वाद-कलिकाओं के छिद्रों में प्रवेश करके रोएँनुमा तंत्रिकातों (nerve endings) को उद्दीपित करता है जो कि स्वाद का बोध कराते हैं। चित्र 28.50 में कड़ुए, खट्टे, नमकीन और मीठे, इन चार मूल स्वादों से संबंधित स्वाद-कलिकाएँ दिखाई गई हैं।
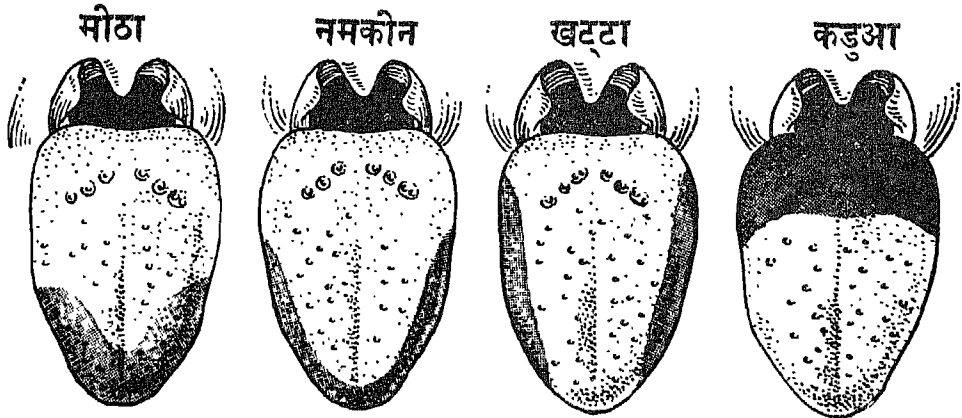
चित्र 28.50 जीभ पर विविध प्रकार की स्वाद-कलिकाओं (taste buds) का वितरण (छायांकित भाग)।

त्वचा : त्वचा पाँच प्रकार के संवेदन ग्रहण कर सकती है—ताप, शीत, स्पर्श, पीड़ा और दाब। इन संवेदनों को ग्रहण करने वाले अंग सारी त्वचा में अनियमित रूप से फैले रहते हैं। हथेली की रेखाओं के सहारे-सहारे बहुत सूक्ष्म उभरनें होती हैं, जिन्हें कोरी आँख से या आतशी शीशे से देखा जा सकता है। इन उभरनों में स्पर्श-संवेदी कोशिकाएँ होती हैं जो त्वचा में भीतर गहराई तक चली जाती हैं। इसी तरह गर्मी और ठंड की भी अलग-अलग संवेदी कोशिकाएँ होती हैं।

जनन-तंत्र

नर जनन-तंत्र में देह से बाहर **वृषण-कोष** (scrotum) में बंद दो **वृषण** (testes) प्रमुख हैं (चित्र 28.51)। प्रत्येक वृषण से अनेक शुक्र-वाहिनियाँ
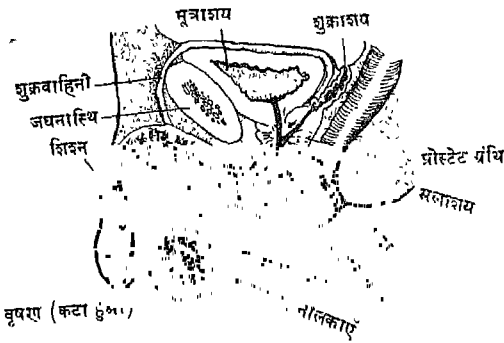
चित्र 28.51 नर जननांग और उनसे संबंधित रचनाएँ जो इस तरह चित्रित हैं जैसी कि देह को मध्य रेखा से काटने पर दिखाई देती। आधार : जी० जी० सिम्पसन, सी० एस० पिटेन्ड्रिफ एंड एल० एच० टिफेनी, लाइफ : "ऐन इंट्रोडक्शन टु बायोलोजी", हारकोर्ट, ब्रेस एंड कंपनी, इंको०, न्यूयार्क, 1957।

एक बड़ी घुमावदार नली में शुक्र पहुँचाती हैं। यह नली **शुक्र-वाहिनियों** (sperm duct) से मिलकर एक तरह की गाँठ-सी बना लेती है, जिसे **एपिडिडिमिस** (epididymis) कहते हैं और जो वृषण से लगी रहती है। दो संग्राहक नलिकाएँ **शुक्र-वाहिनियों** के जोड़े के रूप में आगे चलती हैं और अपनी-अपनी ओर वे **शुक्राशयों** (seminal vesicles) में खुलती हैं जो कि मूत्राशय के पीछे स्थित होते हैं। शुक्राशयों से आनेवाली दो स्खलनीय वाहिनियाँ (ejaculatory ducts) **मूत्रमार्ग** (urethra) से जुड़ जाती हैं जो कि शिश्न के अग्र-भाग पर बाहर की ओर खुलता है। मूत्रमार्ग से ही मूत्र भी आता है। शिश्न मैथुनांग है जो कि शुक्राणुओं को स्त्री जननेन्द्रिय में छोड़ने का कार्य करता है। यह अत्यंत पेशीमय अंग है जिसमें बड़े-बड़े संवहनी अवकाश होते हैं जिनमें रुधिर भर जाने से शिश्नोत्थान होता है। प्रोस्टेट-ग्रंथि और काउपर-ग्रंथि मूत्रमार्ग में खुलती हैं। इनका चिपचिपा स्राव शुक्र-संवाहन के माध्यम का काम करता है।

स्त्री-जननांग में दो छोटे-छोटे अंडाशय (ovaries) होते हैं जो कि उदर-गुहा के निचले हिस्से में स्थित होते हैं। हर अंडाशय से एक अंडवाहिनी (oviduct) या **फालोपिओ-नलिका** (fallopian tube) निकलती है, जिसका कीपाकार मुख अंडवाहिनी से लगा होता है। जब अंडवाहिनी में से परिपक्व अंड निकलता है तो कीप में आता है और यहाँ से फालोपिओ नलिका उसे थैलेनुमा गर्भाशय (uterus) में पहुँचा देती है (चित्र 28.52)। अंड का निषेचन (fertilization) फालोपिओ नलिका में किसी एक शुक्राणु द्वारा किया जाता है जो कि योनि मार्ग से होकर यहाँ तक पहुँच जाता है। नीचे खिसकता हुआ अंड निषेचित हो जाने पर गर्भाशय की भित्ति में स्थित हो जाता है, जहाँ वह बार-बार खंडीभवन (segmentation) और अंगों के विभेदन (differentiation) के द्वारा भ्रूण के रूप में परिवर्धित होता जाता है। यदि निषेचित न हो सका तो अंड जल्दी ही मर जाता है और गर्भाशय की ऊपरी श्लेष्मल परत तथा कुछ रुधिर माहवारी (ऋतु-स्राव) के रूप में बाहर निकल जाता है। एक ऋतु-स्राव और उससे अगले ऋतु-स्राव के बीच नारी-देह में जटिल परंतु नियमित परिवर्तन होते हैं। इस अवधि को **ऋतु-चक्र** (menstrual cycle) कहते हैं जो कि आमतौर पर 28 दिनों के अंतर से चलता है।
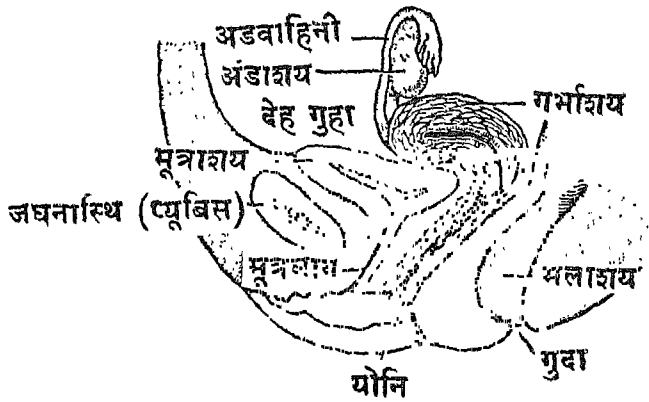
चित्र 28.52 स्त्री-जननांग और उनसे संबंधित रचनाएँ, जो इस तरह चित्रित हैं, जैसी कि देह की मध्य रेखा पर काटने पर दिखाई देतीं। आधार: जी० जी० सिम्पसन, सी० एस० पिटेन्ड्रिफ एंड एल० एच० टिफेनी, लाइफ: "ऐन इंट्रोडक्शन टू बायोलोजी", हारकोर्ट, ब्रेस एंड कम्पनी, इंको०, न्यूयार्क, 1957।

अंतः स्रावी-ग्रंथियाँ

आपने 25वें अध्याय में पढ़ा कि मेंढक में अनेक अंतःस्रावी (वाहिनीहीन—ductless) ग्रंथियाँ होती हैं, जिनके स्राव (हार्मोन) अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में देह को प्रभावित करते हैं। इनमें से अधिकतर ग्रंथियाँ मानव समेत संपूर्ण कशेरुकी समुदाय में पाई जाती हैं। पिछले कुछ वर्षों से मनुष्य में अंत-स्रावी ग्रंथियों के कार्य को लेकर इतनी व्यापक खोजें की गई हैं कि प्राणि-शरीरक्रिया विज्ञान (animal physiology) के क्षेत्र में **अंतः-स्राविकी** या एंडोक्रोनोलोजी एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। चित्र 28.53 में मानव-देह में पाई जाने वाली अंतःस्रावी ग्रंथियाँ दिखाई गई हैं। **थॉयरॉइड ग्रंथि** में दो पालियाँ (lobes) होती हैं और यह गर्दन में श्वास-नली के अधर-तल की ओर स्थित होता है। इसका स्राव थॉयरॉक्सिन कृत्रिम रूप से भी बनाया जा सकता है। यह हार्मोन उपापचय (metabolism) की दर को नियमित करता है। तीव्र वृद्धि और परिवर्धन के दिनों में और गर्भवती स्त्री में यह ग्रंथि अधिक सक्रिय होती है। जाड़े के दिनों में भी यह अधिक सक्रिय होती है क्योंकि उन दिनों देह को गर्म रखने के लिए इसे आक्सीकरण की दर बढ़ानी पड़ती है। इस ग्रंथि की अतिसक्रियता के कारण हृदयस्पंदन की दर भी बढ़ जाती है और बेचैनी के अलावा कई बार नेत्रगोलकों में बाहर को उभर आने की शिकायत पैदा हो जाती है। कई बार तो केवल आराम करने से ही यह तकलीफ दूर हो जाती है, पर कभी-कभी ग्रंथि का एक भाग शल्य-क्रिया द्वारा निकलवाना पड़ता है। दूसरी ओर थॉयरॉइड की क्रिया मंद हो जाने से शारीरिक और मानसिक विकास रुक जाता है।

कभी-कभी लोग साधारण **गलगंड** (goitre) (थॉयरॉइड की अतिवृद्धि के कारण गर्दन में गिल्टी बन जाना) के शिकार हो जाते हैं। यह आयोडीन की कमी की वजह से होता है, क्योंकि थॉयरॉइड से निकलने वाले स्राव थॉयरॉक्सिन में आयोडीन अधिक होता है। देह आयोडीन की कमी पूरी करने के लिए यह ग्रंथि ज्यादा थॉयरॉक्सिन पैदा करने लगती है। जो लोग खारे पानी की मछली या अन्य समुद्री खाद्य सेवन करते हैं—उन्हें गलगंड नहीं सताता, क्योंकि समुद्र के जल में आयोडीन खूब होता है। कुछ जिलों की मिट्टी में आयोडीन कम होता है। इसलिए वहाँ के लोगों में गलगंड की बीमारी आम होती है। खाने के नमक तथा पीने के पानी में आयो-डीन मिलाकर काफी हद तक इस रोग की रोकथाम की गई है।

थॉयरॉइड की पृष्ठीय सतह पर दोनों तरफ दो-दो छोटी-छोटी ग्रंथियाँ होती हैं, जिन्हें **पैराथॉयरॉइड** कहते हैं। इन चारों ग्रंथियों के स्राव देह में कैल्सियम की खपत का नियंत्रण करते हैं। इस तरह अस्थियों की वृद्धि, पेशियों के संकुंचन और तंत्रिका-तंत्र की क्रिया का नियंत्रण ये पैराथॉयरॉइड ग्रंथियाँ करती हैं।

थाइमस वक्षास्थि (breast bone) के नीचे स्थित होता है और ऊपर गर्दन तक पहुँचा होता है। बचपन में यह सबसे अधिक विकसित होता है और वयस्कों में
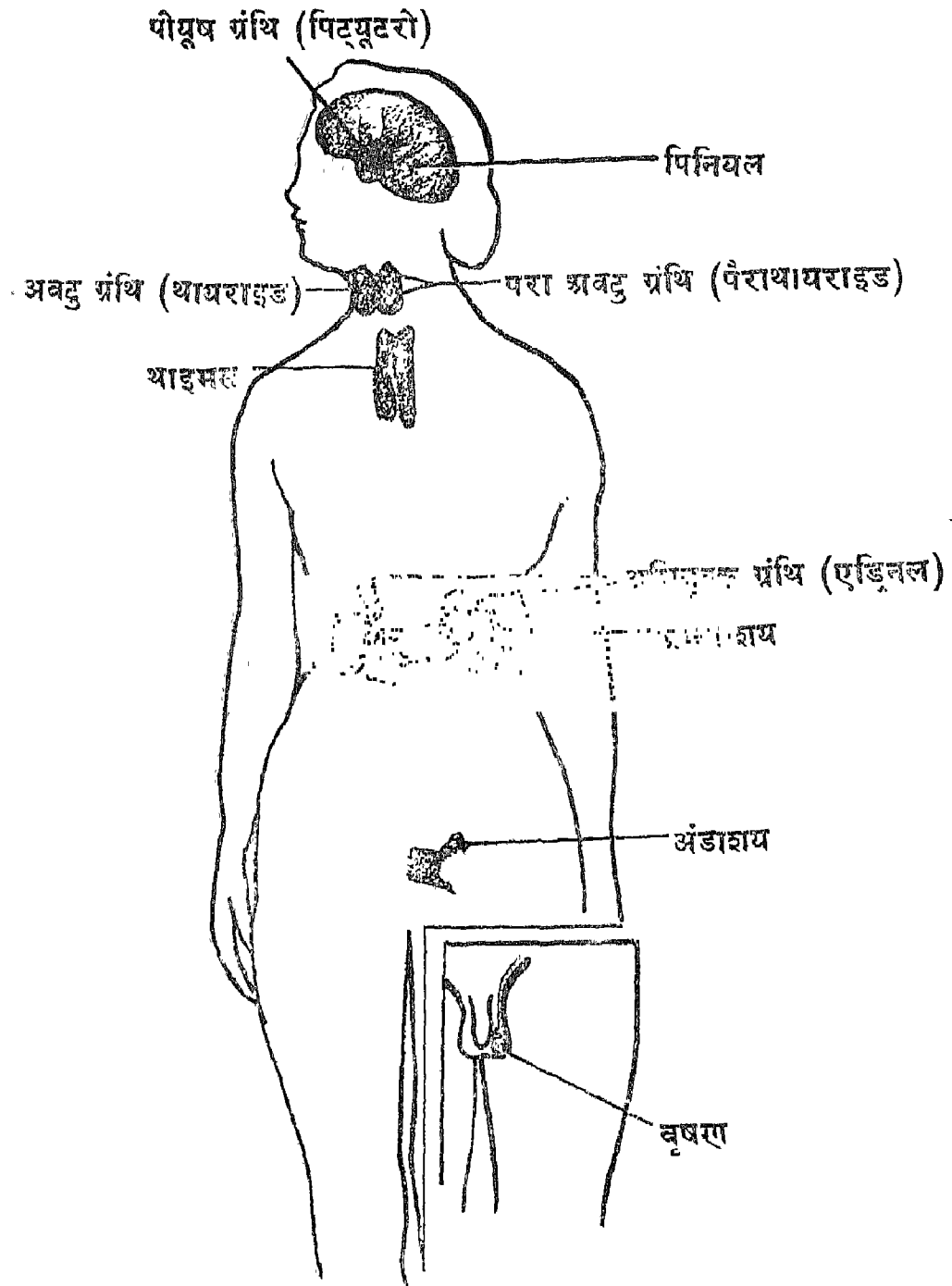
चित्र 28.53 विविध अंतःस्रावी ग्रंथियों की स्थिति। आधार : ई० ग्रोवर, डब्ल्यू० एच० वुल्फ एंड आर० एल० वोवर, 'बायोलॉजी', डी० सी० हीथ एंड कंपनी, बोस्टन, 1960।

सिकुड़कर बहुत छोटा रह जाता है। इसका ठीक-ठीक कार्य अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

अग्न्याशय (pancreas) में कुछ विशिष्ट प्रकार की कोशिकाएँ होती हैं जिन्हें **'लौंगरहान्स की द्वीपिकाएँ'** (Islets of Langerhans) कहा जाता है। इनका स्राव **इन्सुलिन** (insulin) है, जो कि यकृत में शर्करा के संग्रह को नियमित करता है। आपको याद होगा कि यकृत का प्रमुख कार्य अतिरिक्त शर्करा को ग्लाइकोजन में बदलकर आगे कभी जरूरत के वक्त इस्तेमाल करने के लिए संग्रह करके रखना है। यह कार्य ठीक-ठीक तभी होता है, जब इन्सुलिन मौजूद हो। यह हार्मोन ऊतकों मे शर्करा के आक्सीकरण का भी नियंत्रण करता है। थोड़े में कहें तो शर्करा के उपापचय (metabolism) की बागडोर इन्सुलिन के हाथ में होती है।

आपने सुना होगा कि कुछ लोग **मधुमेह** (diabetes mellitus) से पीड़ित हो जाते हैं। इस रोग की पहचान खून में और फिर मूत्र में शर्करा की अधिक मात्रा से होती है। इन्सुलिन न बनने की वजह से यह रोग पैदा होता है। सन् 1922 में दो प्रसिद्ध कनाडा-वासी फिजियोलोजिस्ट बांटिंग और बेस्ट ने जानवरों को मारकर उनके अग्न्याशय से इन्सुलिन पृथक् करने की विधि निकाली और मधुमेह के रोगियों में इसकी लाभकारी क्रिया का प्रदर्शन किया। इसमें कोई सदेह नहीं कि मधुमेह के रोगियों को इन्सुलिन के इंजेक्शन ले-ले कर 40-40 वर्षों तक चलते देखा गया है।

अधिवृक्क ग्रंथियाँ (adrenal gland or suprarenal glands) एक जोड़ी टोपीनुमा पिड के रूप में वृक्कों के सिर पर स्थित होती हैं (इसलिए इनका नाम अधिवृक्क है, अधि-ऊपर स्थित)। प्रत्येक ग्रंथि के दो भाग होते है—एक तो बाहरी भाग कार्टेक्स और दूसरा भीतरी भाग मज्जा (medulla)। कार्टेक्स से अनेक प्रकार के हार्मोन निकलते है जो कार्बोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीनों के उपापचय में कुछ चरणों का नियंत्रण करते हैं। इसके साथ ही लवण और जल का पारस्परिक संतुलन बनाए रखना भी इन्हीं हार्मोनों का काम है। जोड़ों के गठिया या रूमेटोइड संधिशोथ (rheumatoid arthritis) के इलाज में इन कार्टेक्सी हार्मोनों में से ही एक हार्मोन **कोर्टीसोन** (cortisone) दिया जाता है। जब इन हार्मोनो का स्राव नहीं होता या कम हो जाता है तो एक गम्भीर रोग पैदा होता है। मज्जा या मेडुला वाले भाग से **एपीनेफ्रिन** (epinephrine or adrenalin) या **एड्रिनलिन** नामक हार्मोन निकलता है, जो कि अनुकपी तंत्रिका-तंत्र (sympathetic nervous system) से नियंत्रित होने वाली क्रियाओं जैसे कि रक्तदाब (ब्लड-प्रैसर) को नियमित (regulate) करता है। यही हार्मोन हमें संकटकालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार करता है। मानसिक तनाव की स्थिति में ज्यादा एड्रिनलिन पैदा होता है, जिसके फलस्वरूप ब्लड-प्रैसर बढ़ जाता है, हृदय ज्यादा जोर से और जल्दी-जल्दी धड़कने लगता है, आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं और बढे हुए आक्सीकरण के लिए सामग्री की पूर्ति हेतु रुधिर में यकृत से अधिक शर्करा आने लगती है। दौड़ के आखिरी क्षणों मे फीता सबसे पहले छूने के लिए जो आप बड़ी तेजी से जोर लगाते है, वह भी एड्रिनलिन का ही प्रभाव है।

पीयूष ग्रंथि (pituitary gland) मटर के दाने जितनी बड़ी ग्रंथि है, जिसका भार लगभग आधा ग्राम होता है। यह एक वृंत के सहारे मस्तिष्क के निचले भाग से लगी रहती है। इसके तीन भाग होते है, जिन्हें क्रमशः अग्रपालि, मध्यपालि और पश्चपालि कहते हैं। अग्रपालि से कई हार्मोन निकलते है। इनमे से पॉच हार्मोन अन्य अंतःस्रावी ग्रथियों (थॉयरॉइड, अधिवृक्क और जनन-ग्रंथि—gonads) को सक्रियता प्रदान करते हैं। यही कारण है कि पीयूष या पिट्यूटरी ग्रंथि को अंतःस्रावी तंत्र (endocrine system) की अधिष्ठात्री मानते हैं। इसके बदले अन्य ग्रंथियाँ पीयूष के अग्रपालि की क्रिया को नियमित करती है। उदाहरण के लिए यदि थॉयरॉक्सिन अत्यधिक मात्रा में पैदा हो रहा है तो इससे थॉयरॉइड को उद्दीपित करने वाले हार्मोन की दर कम हो जाएगी। पीयूष ग्रंथि से अधिक हार्मोन पैदा होने पर महाकायता (gigantism) और कमी होने पर बौनापन या अवटु वामनता (cretinism) आ जाती है। यदि किसी वयस्क व्यक्ति में पीयूष ग्रंथि से अतिस्राव होने लगता है तो वह **अतिकायता** (acro-

megaly—कुछ अस्थियों, खासतौर से जबड़े, नाक, हाथ और अँगुलियों की हड्डियों का अनुपात से अधिक बढ़ जाना) का शिकार हो जाता है। **प्रोलेक्टिन** (prolactin) नामक हार्मोन माताओं में दुग्धस्राव का उद्दीपन करता है।

पीयूष ग्रंथि की मध्यपालि (intermediate lobe) एक हार्मोन पैदा करती है जो त्वचा में रंगद्रव्य यानी वर्णक (pigment) बनने की क्रिया उद्दीपित करता है।

इसी तरह पश्चपालि (posterior lobe) से भी दो महत्त्वपूर्ण हार्मोन निकलते हैं। इनमें से एक हार्मोन वृक्क नलिकाओं (kidney tubules) से जल का अवशोषण बढ़ाने में मदद करता है। इस हार्मोन की कमी से **उदक मेह** (diabetes insipidus—देह से अत्यधिक पानी निकल जाना, बार-बार पेशाब आना और जोर की प्यास लगना) की शिकायत पैदा हो जाती है। दूसरा हार्मोन अरेखित पेशियों (smooth muscles) के संकुंचन को नियमित करता है, जैसे कि शिशु-जन्म के समय गर्भाशय की पेशियों का संकुंचन इसी हार्मोन द्वारा नियमित होता है।

वृषणों (testes) की अंतराली कोशिकाएँ (interstitial cells) अर्थात् शुक्र पैदा करने वाली नलिकाओं के बीच में स्थित कोशिकाएँ नर हार्मोन पैदा करती हैं। किशोरावस्था आने पर इसी हार्मोन की वजह से देह में पुरुष की विशेषताएँ प्रकट होने लगती हैं। लड़कों के चेहरे पर और शरीर के अन्य भागों में बाल उगने लगते हैं; उनकी आवाज मोटी हो जाती है।

अंडाशय मादा हार्मोन पैदा करते हैं। इसके कारण लड़कियों में किशोरावस्था आने पर अनेक विशिष्ट परिवर्तन होने लगते हैं, जैसे कि उरोजों का परिवर्धन, नितंबों का पृथुल होना और ऋतु-स्राव (menstruation) शुरू होना। परिपक्व अंड विसर्जित करने के साथ-साथ अंडाशय (ovary) देह-गुहा में एक स्त्री-हार्मोन भी छोड़ता है। इसके कारण गर्भाशय की भित्तियाँ मोटी हो जाती हैं और निषेचित अंड को ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाती हैं। इसी बीच, जहाँ से पहले अंड विसर्जित हुआ है, अंडाशय के उस स्थान की फॉलिकिल कोशिकाएँ (follicle cells) एक पीला-सा पिंड—**कॉर्पस ल्यूटियम** (corpus luteum) बनाती हैं। यह पीत-पिंड एक और हार्मोन पैदा करता है, जिसे **प्रोजेस्टेरोन** (progesterone) कहते हैं, जो गर्भाशय को अंड-ग्रहण के लिए तैयार करना जारी रखता है। यदि अंड निषेचित नहीं हुआ तो कॉर्पस ल्यूटियम नष्ट होने लगता है और ऋतु-स्राव के बाद गर्भाशय की भित्ति फिर अपनी सामान्य दशा में लौट आती है। लगभग चार हफ्ते के अंतर से यह चक्र दुहराया जाता है। पीयूष ग्रंथि के फॉलिकिल-उद्दीपक हार्मोन के प्रभाव से एक और फॉलिकिल परिवर्धित होता है और सारा घटनाक्रम फिर दुहराया जाता है। यदि अंड निषेचित हो गया है, तो यह गर्भाशय भित्ति में स्थापित हो जाता है। उस दशा में कॉर्पस ल्यूटियम प्रोजेस्टेरोन का स्राव जारी रखता है और फिर आगे के लिए ऋतु-स्राव बंद हो जाता है। इसके साथ ही स्तन-ग्रंथियाँ (mammary glands) बढ़ने लगती हैं और गर्भवती की देह में अन्य आवश्यक परिवर्तन होने लगते हैं।

सारांश

स्तनी प्राणियों में खरगोश, कुत्ता, गाय, घोड़ा, चमगादड़, सिंह, बंदर और स्वयं मानव जैसे सुपरिचित जीव आते हैं। इस वर्ग के महत्त्वपूर्ण लक्षण ये हैं: रोम, बाह्यकर्ण, सात कशेरुकों से बनी गर्दन और कूपिकाओं (sockets) में जमे हुए दाँत। इन प्राणियों में मादा की स्तन-ग्रंथियों में पैदा हुए दूध से शिशु का पोषण होता है। स्तनी प्राणियों के आवास भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इनके कुछ सामान्य गुण इस प्रकार हैं:

(1) मोनोट्रेमेटा या अंडे देनेवाले स्तनी जैसे कि आस्ट्रेलिया में पाए जाने वाले डकबिल और कंटीले चींटीखोर; (2) मार्सूपिएलिया या थैली वाले स्तनी, जैसे कि कंगारू, जिनकी विशेषता यह है कि उनकी देह

मे एक थैली या मार्सूपियम लगी होती है, जिसमे चलने-फिरने लायक होने से पहले नवजात शिशुओं को पाला-पोसा जाता है; (3) इन्सेक्टीवोरा या कीटाहारी प्राणी जिनके सबसे सामान्य उदाहरण है—जाहक या झाऊमूसा (hedge-hog), छछूँदर (mole) और मंजोरू या श्रियू (shrew); (4) ईडेन्टेटा या दंतहीन प्राणी जैसे कि शल्की चींटीखोर और आर्माडिलो, जिनकी देह श्रृंगिल पट्टिकाओं या रोम मिश्रित शल्कों से ढकी होती है; (5) रोडेन्शिया या कृंतक प्राणियों मे वे कुतरनेवाले स्तनी आते है जिनमे रदनक दाँत (canine) नहीं होते, बल्कि बहुत तेज कृंतक (incisor) होते हैं; जैसे कि खरगोश, खरहा और सेही (porcupine) में; (6) अंगुलेटा या खुरदार स्तनी प्राणियों में गधा, घोड़ा, जेबरा और गैंडा (पादांगुलियो की विषम संख्या वाले) तथा गाय, हिरन और ऊँट (पादांगुलियों की सम सख्या वाले) आते हैं, (7) प्रोबोसिडिया या सूँडदार जानवरों में वर्तमान जंतु-जगत का सबसे बड़ा प्राणी हाथी आता है; (8) काइरोप्टेरा, में वे स्तनी हैं, जो कि उड़ान भर सकते है जैसे कि चमगादड़; (9) कार्नीवोरा वे स्तनी है, जिनके पंजे (नखर) बड़े मजबूत होते है और चीरने-फाड़ने वाले रदनक दाँत पाए जाते है, जैसे कि सिंह, बाघ, लोमड़ी, सियार, बिल्ली और सील; (10) सिटेसिया स्तनी जल-वासी हैं और उनमे बाह्यकर्ण और बाल केवल भ्रूणावस्था में होते है, जैसे कि डॉल्फिन, सूँस और ह्वेल आदि; (11) प्राइमेट या श्रेष्ठ मस्तिष्क वाले स्तनियों मे बंदर लीमर, कपि (ape) और मानव आते हैं, जिनमे किसी चीज को पकड़ने के लिए हाथ होते हैं। इस समय चार प्रकार के मनुष्य-जैसे कपि मिलते है : गिबन, ओरांग-उटान, गोरिल्ला और चिम्पैन्जी।

इस समय मानव की केवल एक ही स्पीशीज प्राप्य है—**होमो सैपिएन्स** (Homo sapiens), हालाँकि कभी सुदूर अतीत में दूसरी स्पीशीजें भी वर्तमान थीं। मानव समस्त प्राणियों में सबसे अधिक विकसित जीव है जिसमें बोलने की क्षमता है, सबसे अधिक बुद्धि है और जो औजारो या मशीनो से काम कर सकता है।

त्वचा देह को ढँक कर उसकी रक्षा करती है और धूप की उपस्थिति मे विटामिन D का संश्लेषण करती है। इसमें कोशिकाओं की एक ऊपरी परत—एपिडर्मिस होती है, जो भीतर की रुधिर वाहिकाओं, तंत्रिका-तंतुओं और ग्रंथियों वाली परत (डर्मिस) के ऊपर चढ़ी रहती है। रोम एपिडर्मिस के विशेष उद्वर्ध हैं। त्वचा और बालों का रंग मैलेनिन पर निर्भर होता है।

मानव-कंकाल की मूल योजना वैसी नहीं है जैसी कि अन्य कशेरुकियों में होती है। परंतु मानव खड़ा होकर चलता है, इसलिए उसकी श्रोणि-मेखलाएँ (hip girdles) इस तरह रूपांतरित हो गई हैं कि उदरीय अंगों को आधार दे सकें।

मनुष्य का पाचन-मार्ग लगभग नौ मीटर लंबा होता है और उसमे मुख से लेकर ईसोफेगस (ग्रसिका), आमाशय, क्षुद्रांत्र (छोटी आँत), और बृहदांत्र (बड़ी आँत) तक सभी अंग शामिल है। इसके साथ अनेक पाचन-ग्रंथियाँ भी जुड़ी होती है : लार-ग्रंथि, आमाशय के अस्तर में मौजूद जठरी या आमाशयी ग्रंथियाँ और आँतों के अस्तर की आंत्रिक ग्रंथियाँ (intestinal glands), यकृत और अग्न्याशय। पाचनक्रिया मुख से ही शुरू हो जाती है; आमाशय में जारी रहती है और छोटी आँत में पूरी हो जाती है। इसके दौरान भोजन घुलनशील रूप में बदल जाता है और रुधिर तथा लसीका में अवशोषित होकर देह के सभी अंगो मे वितरित हो जाता है। अनपचा अन्न बड़ी आँत में इकट्ठा हो जाता है, जहाँ इसका अधिकाश जल सोख लिया जाता है और काफी कड़ा हो जाता है। मल के रूप में यह उत्सर्जित हो जाता है।

रुधिर देह के सभी भागों को आक्सीजन तथा पोषण पहुँचाता है। रुधिर के दो हिस्से होते हैं—हल्के पीले रंग का प्लाज्मा, लाल और श्वेत रुधिर कणिकाएँ और पट्टिकाएँ। परिपक्व लाल कणिकाओं या रक्ताणु में केन्द्रक नहीं होते। दो तरह की रुधिर-वाहिकाओं—धमनियों और शिराओं मे होता हुआ रुधिर सारी देह मे परिसचरण करता है। हृदय एक मिनट में कोई 75 बार धड़कता और पंप की भांति कार्य करता है। यह दो अर्धकों में बँटा होता है जिनके बीच एक भित्ति होती है। प्रत्येक अर्धक में एक ग्राही कोष्ठ यानी अलिद (auricle), एक पेशीमय पंपिंग कोष्ठ अर्थात् निलय (ventricle) होता है। अलिद और निलय के बीच एक छोटा-सा द्वार दोनो मे संबंध बनाए रखता है। देह से रुधिर दाएँ अलिद

में आता है, जो कि दाएँ निलय द्वारा फेफड़ों में पंप कर दिया जाता है, जहाँ ऑक्सीजन मिलती है। यहाँ से फुप्फुस-शिरा के द्वारा खून बाएँ अलिंद में लौट आता है, जहाँ से पृष्ठीय महाधमनी (*dorsal aorta*) के द्वारा वापस सारी देह में भेज दिया जाता है। बड़ी से छोटी धमनियों में और छोटी धमनियों में गुजरता हुआ रुधिर केशिकाओं द्वारा शिराओं में पहुँचता है। रुधिर में कुछ विशिष्ट प्रोटीनों की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर रुधिर को चार वर्गों में बाँटा गया है। किसी की देह में खून चढ़ाने के लिए रुधिर-वर्गों की जानकारी होना बहुत जरूरी है। कटी हुई जगह से खून बहना थोड़ी देर बाद थक्के जमने की वजह से बंद हो जाता है।

लसीका रंगहीन या पीले-से रंग का द्रव है जो कि केशिकाओं से निकलकर सभी ऊतकों को नहलाता रहता है। यह सारी देह में बिछी लसीका वाहिकाओं में बहता रहता है। अंत में यह शिराओं में प्रवेश करके एक बार फिर रुधिर का ही अंग बन जाता है। तिल्ली या प्लीहा में खून इकट्ठा करके रखा रहता है और रक्त-स्राव के समय जब काफी खून निकलने लगता है तो वहीं से खून की क्षति पूर्ति होती है। यकृत एक महत्त्वपूर्ण अंग है जो देह के कई कार्यों का नियंत्रण करता है।

श्वसन-तंत्र में फेफड़े (फुप्फुस) होते हैं और ग्रसनी (pharynx) से फेफड़ों तक एक नली होती है—श्वास-नली। फेफड़ों में रुधिर-केशिकाओं की भरमार होती है। गैस-विनिमय का कार्य फेफड़ों में स्थित कूपिकाओं (alveoli) का अस्तर बनाने वाली पतली झिल्लियों में से होता है। निश्वसन यानी साँस खींचते समय डायाफ्राम नीचे को दबता है और छाती उभरती है जिससे कि नासा-द्वारों में होकर हवा भीतर खिंची चली जाए। उच्छ्वसन के समय डायाफ्राम और छाती अपनी सामान्य स्थिति में आ जाते हैं और अशुद्ध हवा बाहर फेंक दी जाती है।

देह के वर्ज्य पदार्थ त्वचा और मूत्र-तंत्र (urinary system) द्वारा निष्कासित किए जाते हैं। मूत्र-तंत्र में एक जोड़ी वृक्क, मूत्र-वाहिनियाँ (ureters), मूत्राशय और मूत्र-मार्ग (urethra) शामिल हैं। जब खून वृक्क-धमनी के द्वारा वृक्क में प्रवेश करता है तो उसमें सारी देह के विविध अंगों से इकट्ठे किए हुए प्रोटीनेतर (non-proteinaceous) नाइट्रोजनी वर्ज्य पदार्थ भरे होते हैं, जो कि छन-छन कर वृक्क में स्थित अनेक मूत्र-नलिकाओं (urinary tubules) में पहुँच जाते हैं। मूत्र-वाहिनियाँ, मूत्र को मूत्राशय में पहुँचाती हैं, जहाँ से यह समय-समय पर मूत्र-मार्ग से उत्सर्जित होता रहता है। इन वर्ज्य पदार्थों से मुक्त होकर साफ खून वृक्क से वृक्क-शिरा द्वारा सारी देह के लिए बाहर लाया जाता है।

तंत्रिका-तंत्र और अंतःस्रावी-तंत्र देह की सभी गतिविधियों का नियंत्रण करते हैं। तंत्रिका-तंत्र में केन्द्रीय, परिधीय और स्वायत्त, ये तीन भाग होते हैं। केन्द्रीय-तंत्र में मस्तिष्क और मेरु-रज्जु आते हैं और परिधीय तंत्रिका-तंत्र में कपाल-तंत्रिकाएँ (cranial nerves) और मेरु-तंत्रिकाएँ (spinal nerves)) आती हैं। स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र में अनुकंपी (sympathetic) और परानुकंपी (parasympathetic) तंत्रिकाएँ शामिल हैं। परिधीय तंत्रिकाएँ केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र को संवेग ले भी जाती है और वहाँ से लाती भी हैं। बड़े-से प्रमस्तिष्क (cerebrum) वाला मस्तिष्क मुख्यतः 'सोचने' से संबंध रखता है। मेरु-रज्जु या रीढ़-रज्जु प्रतिवर्ती केन्द्र और संवेगों (impulses) की संवाहक के रूप में कार्य करती हैं।

नर जनन-तंत्र में वृषण होते हैं और शुक्रों का संवाहन करने वाली संबंधित वाहिनियाँ होती हैं। शुक्र-वाहिनियाँ मूत्र-मार्ग में मिल जाती हैं जो कि शिश्न के अग्रभाग पर खुलता है। प्रोस्टेट-ग्रंथि और काउपर-ग्रंथि वह द्रव निकालती हैं, जिसमें शुक्र डूबे रहते हैं।

स्त्री-जनन-तंत्र में अंडाशय, अंडवाहिनियाँ, गर्भाशय और योनि होती है। अंडाशयों से हर महीने एक अंडाणु निकलता है। अंडाणु अंडवाहिनी में निषेचित होता है और गर्भाशय में पहुँचकर शिशु के रूप में परिवर्धित होता है। जन्म से पहले शिशु का पोषण माँ के गर्भाशय में ही होता है। यदि निषेचन न हुआ तो अंड नष्ट हो जाता है और ऋतु-स्राव के दौरान बाहर निकल जाता है।

अंतःस्रावी ग्रंथियाँ अपने स्रावों के द्वारा देह की वृद्धि और व्यवहार का नियंत्रण करती हैं और इन स्रावों का सामूहिक नाम हार्मोन है। ये ग्रंथियाँ अपने भीतर से बहने वाले रुधिर में सीधे-सीधे हार्मोन डाल देती हैं।

प्रश्न

1. स्तनियों के महत्त्वपूर्ण भेदक लक्षण कौन-कौन से है ?
2. जाड़ों मे आपकी त्वचा सूखी-सी क्यों हो जाती है और गर्मियो तथा वर्षा-ऋतु मे यह चिकनी क्यो होती है ?
3. आपकी देह में पसलियों का क्या उपयोग है ?
4. यकृत के प्रमुख कार्य क्या हैं ?
5. रुधिर और लसीका (lymph) में क्या अंतर है ?
6. आपकी त्वचा कितनी तरह के संवेदन ग्रहण कर सकती है ?
7. डकबिल नामक प्राणी की विशेषताएँ क्या हैं ? इसको स्तनियों में शामिल किए जाने के पक्ष में आप क्या तर्क देंगे ?
8. अँधेरे में चमगादड़ सामने की चीजों से टकराने से कैसे बचाव करते है ?
9. मानव और चिम्पैन्जी में कौन-कौन-सी समानताएँ हैं ?
10. मानव का परिसंचरण-तंत्र मेंढक से किस प्रकार अधिक उन्नत है ?
11. उस धमनी का नाम बताओ जिसमें शुद्ध खून नहीं होता और उस शिरा का नाम बताओ, जो शुद्ध खून ले जाती है ?
12. नाक की बजाय मुख से साँस लेना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं बताया जाता, क्यों ?
13. साँस लेने में (breathing) और श्वसन (respiration) में क्या अंतर है ? खाँसी क्यों आती है ?
14. पहाड़ों की ऊँचाइयों पर साँस लेने में कठिनाई क्यो होती है ?
15. क्या कारण है कि देह में किसी भी जगह सुई चुभोने पर खून निकलने लगता है ? खुरंट कैसे पड़ता है ?
16. अक्सर लोग किसी का दिल जीतने या तोड़ने की बात करते है। मानव-हृदय संबंधी अपने ज्ञान के आधार पर बताओ कि क्या इन बातों में कोई तथ्य है ?
17. बतलाइए कि ह्वेल मछली क्यों नहीं है और चमगादड़ चिड़िया क्यों नही है ?
18. निम्नलिखित तथ्यों का कारण बताओ :
    (क) सबसे बड़े प्राणी (ह्वेल) जल में निवास करते हैं, जब कि सबसे बड़े पेड़ स्थल वासी हैं।
    (ख) जौंक द्वारा किए गए घाव में से बड़ी देर तक रक्त-स्राव होता है, जब कि चाकू से कटी जगह से थोड़ी देर बाद खून बहना बंद हो जाता है।
19. मार्सूपियल या धानी-प्राणी से क्या मतलब है ? दो उदाहरण दीजिए।
20. मान लीजिए आपका एक सहपाठी जोर देकर कहता है कि ह्वेल और डॉल्फिन तो मछलियाँ ही हैं। आप उसको कैसे विश्वास दिलाएँगे कि वे मछलियाँ नही स्तनी (मैमल) हैं ?
21. पित्त में कोई एन्जाइम नहीं होता, फिर भी पाचनक्रिया के लिए यह अत्यावश्यक है। क्यों ?
22. पोस्ट-मार्टम में अक्सर जिगर या यकृत का विश्लेषण किया जाता है। इस यकृत-परीक्षा का क्या महत्त्व है ?
23. मनुष्य और मेंढक के मूत्र-तंत्र में क्या अंतर है ?
24. मान लीजिए आपने नाश्ते में डबलरोटी, मक्खन, अंडे और दूध लिया है। तो इनमें मौजूद पोषक पदार्थों का आपकी आहारनाल के विविध भागों में से गुजरते हुए क्या परिणति होगी ?

25. एक ओर एकदम शाकाहार और दूसरी ओर मिश्रित भोजन, इन दोनों में कौन-सा आहार अच्छा है और क्यों ?
26. आंत्र-भित्ति मे से निकले उद्‌वर्ध्रों (villi) का क्या लाभ है ?
27. आहारनाल की भित्ति में पेशियों की मोटी परत होती है। इन पेशियो का काम क्या है ?
28. हाथी का मस्तिष्क आदमी के मस्तिष्क से बहुत भारी होता है; फिर भी हाथी मनुष्य-जैसा बुद्धिमान नहीं है। क्यो ?
29. आमाशय में भोजन का अवशोषण नहीं के बराबर होता है। ऐसा क्यों ?
30. यह कथन कहाँ तक सही है कि हम वस्तुत: केवल आँख और कान से नही बल्कि मस्तिष्क से देखते और सुनते हैं।
31. अन्य अधिकांश स्तनियों की तुलना में मनुष्य के हाथ अद्वितीय क्यों हैं ?
32. देह के छ कार्य बताओ, जिनका नियंत्रण स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र (autonomous nervous system) करता हो।
33. मान लीजिए किसी प्राणी की देह में आप एक नई वाहिनीहीन ग्रंथि (ductless gland) खोज निकालते हैं। तो आप कैसे पता करेंगे कि देह मे उसका क्या कार्य है ?
34. वाहिनीहीन ग्रंथि से जुडी कौन-सी रुधिर वाहिका हार्मोन ले जाती है--शिरा या धमनी ?
35. एक रेखाचित्र खीचकर बताओ कि आपके हाथ में सुई चुभोने पर क्या होता है ?
36. अपनी छोटी अँगुली से खून की एक बूंद का हृदय और फेफड़ों में पहुँचने और वहाँ से वापस अँगुली में आ जाने का मार्ग बताओ ?
37. वाहिनीहीन ग्रंथियों से तथा देह के अन्य विविध भागो मे से बहने पर खून की बनावट में क्या-क्या परिवर्तन होते जाते हैं ?
38. खून चढ़ाने से क्या मतलब है ? इस काम के लिए रुधिर का कौन-सा भाग इस्तेमाल किया जाता है ?
39. रुधिर के उचित परिसंचरण में व्यायाम से कैसे लाभ होता है ?
40. गाय-भैंस आदि पशु, गैंडा, जिराफ़ और हिरन के सींगों में क्या अंतर है ?

अन्य पठनीय सामग्री

एलीसन, ए० सी० 1956; ह्यूमन हीमोग्लोबिन टाइप्स। **न्यू बायोलोजी**, अंक 21, पृष्ठ 43-58।

अज्ञात 1962; दॉ ईअर। **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग 2, अंक 14, पृष्ठ 234-235।

अज्ञात 1962; दॉ आई एंड इट्स डिफ़ेक्ट्स। **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-2, अंक-18, पृष्ठ 287-288।

अज्ञात 1962; दॉ स्ट्रक्चर एंड डेवलपमेंट आफ टीथ। **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-3, अंक-27, पृ० 430।

अज्ञात 1962; डिसऑर्डर्स ऑफ दॉ टीथ एंड जॉज--एन इन्ट्रोडक्शन टू डेन्टिस्ट्री। **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-3, अंक-28, पृ० 434-435।

अज्ञात 1962; दॉ ऑरीजिन ऑफ मैन। **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-3, अंक-32, पृ० 498-499।

अज्ञात 1963; ब्रीदिंग इन मैन। **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-3, अंक-35, पृ० 552-553।

अज्ञात 1963; स्तनियों का वर्गीकरण। **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-3, अंक-35, (आवरण के पिछले पृष्ठ के अंदर)

अज्ञात 1963; स्ट्रक्चर ऑफ ऐनीमल्स—कार्टेट्स। अंडरस्टैंडिंग साइंस, भाग-5, अंक-52, पृ० 828-830।

इवान्स, आर० एम० 1949; सीइंग लाइट एंड कलर। साइंटीफिक अमेरिकन, भाग-181, अंक-2, पृ० 52-55।

ईवेर, आर० एफ० 1917; ह्वेल्स। न्यू बायोलोजी, अंक-2, पृ० 53-73।

गी, ई० पी० 1964; दी वाइल्ड लाइफ ऑफ इंडिया, कालिंस, लंदन।

हागेन-स्मिट, ए० जे० 1952; स्मैल एंड टेस्ट। साइंटीफिक अमेरिकन, भाग-186, अंक-3, पृ० 28-32।

मैथ्यूज, एल० एच० 1954; माइग्रेशन ऑफ मैमल्स। डिस्कवरी, भाग-15, पृ० 202-206।

मैक्लीन, एफ० सी० 1955; बोन। साइंटीफिक अमेरिकन, भाग-192, अंक-2, पृ० 84-91।

वाल्ड, जी० 1950; आई एंड कैमरा। साइंटीफिक अमेरिकन भाग-183, अंक-2, पृ० 32-41।

29

प्रोटोजोआ—एक-कोशिका वाले प्राणी

फाइलम प्रोटोजोआ में एक-कोशिका वाले प्राणी आते है। इन प्राणियों में चलन (locomotion) से लेकर अशन (feeding) पाचन, मलत्याग, श्वसन (respiration) तथा उत्सर्जन (excretion) और जनन तक समस्त जीवन-क्रियाएँ एक ही कोशिका में संपन्न होती रहती हैं। कुछ स्पीशीज में प्रोटोजोआ निवह (कालोनी) बनाकर रहते हैं। इन निवह वाले जीवों में प्रत्येक 'प्राणी' (यानी कोशिका) अपना-अपना काम बाँट लेता है, जैसे कि कुछ चलन का काम करते है तो कुछ जनन का।

प्रोटोजोआ में चलन-क्रिया या तो प्रोटोप्लाज्म के बाहर की ओर निकले अंशों द्वारा की जाती है, जिन्हे **पादाभ** (pseudopods) कहते है या फिर कशाभिकाओ (flagella) या पक्ष्माभिकाओं (cilia) द्वारा। **वोर्टीसिला** (vorticella) जैसे प्राणी अपने वृंत के सहारे एक जगह जमे खड़े रहते है। प्रोटोजोआ प्राणी अपने भोजन में अक्सर ठोस खाद्य कण लेते है। कुछ परजीवी (मलेरिया के परजीवी-जैसे) प्रोटोजोआ मनुष्य या अन्य जंतुओं की देह में और पौधो मे रहते हैं। ये परजीवी जिस परपोषी (host) में रहते हैं उसी से घुले हुए खाद्य पदार्थ सोखते रहते हैं। श्वसन और उत्सर्जन की क्रिया सीधे कोशिकीय झिल्ली से होती रहती है। प्रोटोजोआ लैंगिक और अलैंगिक दोनों प्रकार से जनन करते है और उनमे से बहुतों के जीवन-वृत्त बड़े जटिल होते है। शायद ही कोई जगह हो, जहाँ ये नही पाए जाते—तालो मे, तलैयो में, जंतु और बनस्पतियो की देह के भीतर और बाहर, सड़ती हुई पत्तियो मे, मिट्टी में, यानी कहीं भी लेशमात्र नमी हुई और कुछ जैव-पदार्थ हुआ कि प्रोटोजोआ पनपे।

प्रोटोजोआ वर्ग का प्रतिनिधि—अमीबा

प्रोटोजोआ का सबसे अधिक प्रचलित उदाहरण है—अमीबा (चित्र 29.1)। यह तालों में सडी-गली पत्तियो और टहनियो पर पाया जाता है। कोरी आँखों से इसे देख पाना मुश्किल है, पर किसी ताल से इकट्ठी की गई सामग्री को तुम माइक्रोस्कोप या सूक्ष्मदर्शी से परखो तो उसमे मौजूद अमीबा को देखकर तुम्हें लगेगा कि यह तो किसी-निर्जीव वस्तु का कण है। पर सावधानी से परखने पर तुम देखोगे कि अमीबा जेलीनुमा जीव-द्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) का बना हुआ अनियमित सा लौंदा है, जिसके चारों ओर एक पतली झिल्ली है, और यह लौदा बहुत धीरे-धीरे सरक रहा है। इसका कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) दो भागो में बँटा होता है—बाहरी पतला और स्वच्छ भाग **एक्टोप्लाज्म** या बहिःप्रद्रव्य है और भीतरी दानेदार पिड **एंडोप्लाज्म** या अंतःप्रद्रव्य है। इस एंडोप्लाज्म में अनेक क्रिस्टलीय कण, खाद्य पदार्थो से भरी हुई रिक्तिकाएँ (vacuoles), एक बड़ा गोल न्यूक्लिअस और एक बड़ी गोल संकुचनशील रिक्तिका (contractile vacuole) होती है जिसमे कुछ द्रव पदार्थ भरा रहता है।

कोशिका द्रव्य स्थायी रूप से प्रवाहशील दशा मे होता है और कहीं भी पतली कोशिका झिल्ली से टकराया तो बाहर की ओर उभरकर स्यूडोपोड या पादाभ बना देता है। धीरे-धीरे काफी कोशिका द्रव्य नए बने बड़े पादाभ मे बह जाता है। जल्दी ही एक दूसरा पादाभ किसी दूसरे स्थान पर से उभरता है और अब सारा कोशिकाद्रव्य उधर बहने लगता है। इस तरह क्षण-प्रति-क्षण अमीबा अपनी आकृति और स्थिति बदलता रहता है। इस प्रकार

की गति को **अमीबीय-गति** (amoeboid movement) कहते हैं।

अगर काफी देर तक परखते रहें तो आप देखेंगे कि अमीबा किसी नन्हे-से खाद्य कण की ओर बढ़ रहा है। खाद्य कण के निकट पहुँचने ही दोनों ओर से दो पादाभ निकलते हैं। फिर कण को अपने घेरे में लेते हुए दोनो पादाभों के छोर मिलकर उसके चारो ओर एक रिक्तिका बना लेते हैं (चित्र 29.2)। यह **खाद्य रिक्तिका** (food vacuole) कोशिका द्रव्य मे घूमती है और ऐसा करते समय कोशिकाद्रव्य से कुछ एन्जाइम रिक्तिका में पहुँचकर खाद्य कण का पाचन कर लेते है। पचाया हुआ खाद्य अंत में अपने चारों ओर के कोशिका द्रव्य में सोख लिया जाता है जब कि अनपचा पदार्थ कोशिका झिल्ली के किसी स्थान से बाहर निकल जाता है।
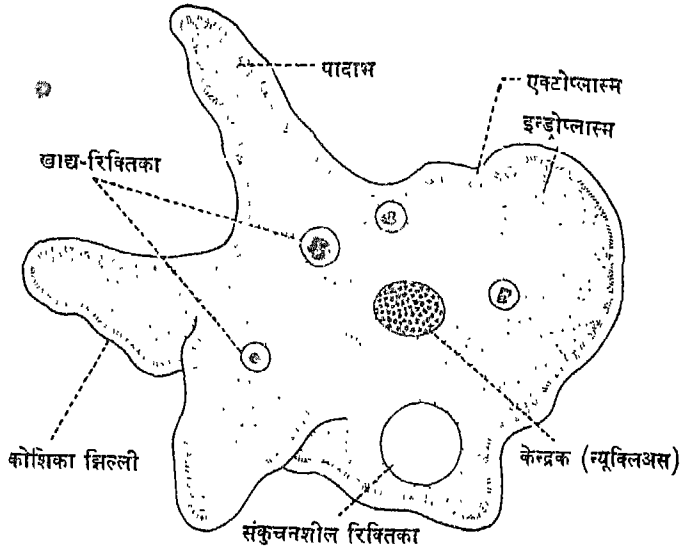
चित्र 29.1 अमीबा—सूक्ष्मदर्शी के उच्च आवर्धन से देखने पर।

चित्र 29.2 अमीबा द्वारा खाद्य का अंतर्ग्रहण (ingestion) A और B खाद्य कण के चारों ओर पादाभों का बनना। C खाद्य कण का घेराव करते हुए पादाभ। D कोशिका द्रव्य में खाद्य रिक्तिका

श्वसन के लिए ऑक्सीजन उस पानी से मिल जाता है जिसमें अमीबा रह रहा है। घुली हुई ऑक्सीजन कोशिका झिल्ली मे से विसरित होकर कोशिका द्रव्य में पहुँचता है। उपापचय (metabolism) के फलस्वरूप बना कार्बन डाइऑक्साइड तथा अन्य वर्ज्य पदार्थ इसी तरह बाहर निकल जाते हैं।

विसरण और उपापचय क्रिया के फलस्वरूप कोशिका द्रव्य में जल का आधिक्य हो जाता है। इससे पहले कि इस पानी के जोर से अमीबा फट जाए, एक विशेष रचना-**संकुचनशील रिक्तिका**-द्वारा अतिरिक्त जल बाहर की ओर पंप कर दिया जाता है। यह रिक्तिका कोशिका द्रव्य में एक बड़ी गोल जगह के रूप में दिखाई देती है। जैसे ही इसमें (घुले हुए वर्ज्य पदार्थ सहित) पानी भरता है कि यह सतह पर आकर फट जाती है। इसी बीच एक नई रिक्तिका बन चुकी होती है और सारी क्रिया फिर दुहराई जाती है।

अनेक बाह्य उद्दीपनों के प्रति अमीबा अपनी अनु-क्रिया दर्शाता है। तेज रोशनी डालने पर यह उस समय तक दूर सरकता है, जब तक हल्की रोशनी या बिल्कुल अँधेरे में न चला जाए। यह खाद्य कणों की ओर तो आकर्षित होता है, पर अकार्बनिक पदार्थों की ओर नहीं। अगर आप सूक्ष्म सुई (माइक्रो नीडिल) से इसको छुएँ या पास में जरा-सा अम्ल रख दें तो यह दूर खिसकता है। तापमान में होने वाले परिवर्तनों का भी अमीबा पर असर पड़ता है। निम्न तापमान पर इसकी क्रिया मंद हो जाती है। उच्च तापमान पर यह अधिक सक्रिय हो जाता है बशर्ते कि तापमान इसकी सहन शक्ति से बाहर न हो।

जैसे-जैसे खाद्य पदार्थ पचते जाते हैं उनका कुछ अंश नए प्रोटोप्लाज्म में बदलता जाता है और अमीबा बढ़ना जारी रखता है। एक विशेष आकार प्राप्त कर लेने के बाद अमीबा जनन शुरु करता है। जनन की सबसे अधिक प्रचलित विधि है—बीच में से टूटकर दो खंडों में बँट जाना, जैसा कि सरल कोशिका-विभाजन में होता है। इसको **द्वि-विभजन** (binary fission) कहते हैं (चित्र 29.3 A से E तक)। इस प्रक्रम में पूर्णतया विकसित अमीबा की देह कुछ-कुछ लंबूतरी हो जाती है, केन्द्रक दो में बँट जाता है और अंत में कोशिका भी दो भागों में खंडित हो जाती है। दोनों भागों में एक-एक केन्द्रक होता है। इस तरह से मूल अमीबा से अब दो छोटे-छोटे अमीबाओं का जन्म हो गया जो कि बड़े होकर खुद भी इसी तरह विभाजित होते हैं। अतः जब तक किसी दुर्घटनावश न मर जाएँ, तब तक अमीबा की स्वाभाविक मृत्यु नहीं होती। दूसरे शब्दों में एक तरह से अमीबा **अमर** है।

जब ताल में पानी सूख जाता है तो अमीबा गोल हो-कर अपने ऊपर एक रक्षक खोल या सिस्ट चढ़ा लेता है। इस रूप में यह काफी लंबे समय तक प्रतिकूल परिस्थितियों का मुकाबला कर सकता है। सिस्ट के अंदर प्रोटोप्लाज्म कई छोटे-छोटे अमीबाओं में विभाजित हो जाता है। इस क्रिया को **बहु-विभजन** (multiple fission) कहते हैं। परिस्थितियाँ सामान्य होने पर सिस्ट फट जाता है और नए-नए अमीबा बाहर पानी में निकल आते हैं (चित्र 29.3 F)।

प्रयोगशाला में परीक्षण के लिए अमीबा तालों के तले में पड़ी हुई वनस्पतियों पर से छुड़ाकर लाए जा सकते हैं। इसके लिए एक बड़े मुँह के काँच के बर्तन में ताल का पानी भर लें और उसमें पौधों पर से खुरची हुई सामग्री डालकर उसे बैठने दें तो तलछट में कई किस्म के सैकड़ों अमीबा मिल जाएँगे। अगर घास की जड़ें और अधसूखी पत्तियाँ लेकर ताल के पानी या वर्षा-जल से (नल का
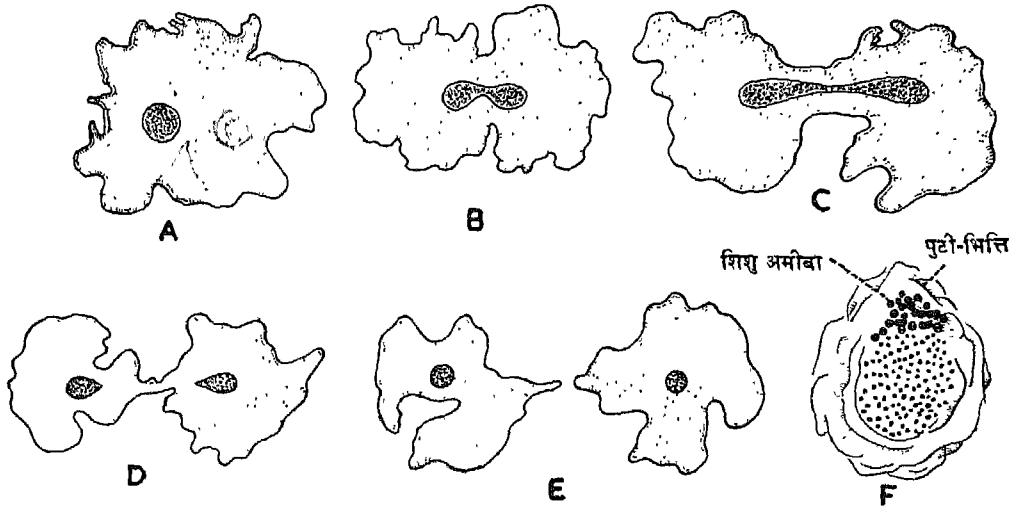
चित्र 29.3 अमीबा में लैंगिक जनन। A से E—द्वि-विभजन (binary fission) की अवस्थाएँ। F पुटीभूत अमीबा के भीतर नन्हे अमीबा।

क्लोरीन युक्त पानी प्रोटोजोआ जीवों के लिए जहरीला होता है) भरे हुए जार में कई हफ्ते तक खुला हुआ रख दें तो अमीबाओं का काफ़ी भंडार इकट्ठा हो जाएगा। इस भंडार में से अमीबाओं को एक पतले मुँह वाले पिपेट से निकालकर परखा जा सकता है।

फाइलम प्रोटोजोआ में कुछ अन्य रोचक प्राणी हैं, **पैरामीशियम, वोर्टीसेला** और **यूग्लीना** (चित्र 29.4)।

मनुष्य के परजीवी प्रोटोजोआ

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की देह में परजीवियों की तरह रहने वाले प्रोटोजोआ खतरनाक बीमारियाँ पैदा कर सकते हैं। मनुष्य में रोग पैदा करने वाले तीन महत्त्वपूर्ण प्रोटोजोआ ये हैं : **प्लाज्मोडियम** (मलेरिया-परजीवी), **एन्टअमीबा** और **ट्रिपेनोसोमा**।

प्लाज्मोडियम (मलेरिया-परजीवी) : आप लोगों ने मलेरिया का नाम तो सुना ही होगा। इस रोग में बड़ा तेज बुखार चढ़ता है और कँपकपी आती है और हर दूसरे या तीसरे दिन बुखार की पारी आ जाती है। यह एक प्रोटोजोआ की करामात है, जिसका नाम **प्लाज्मोडियम** है।
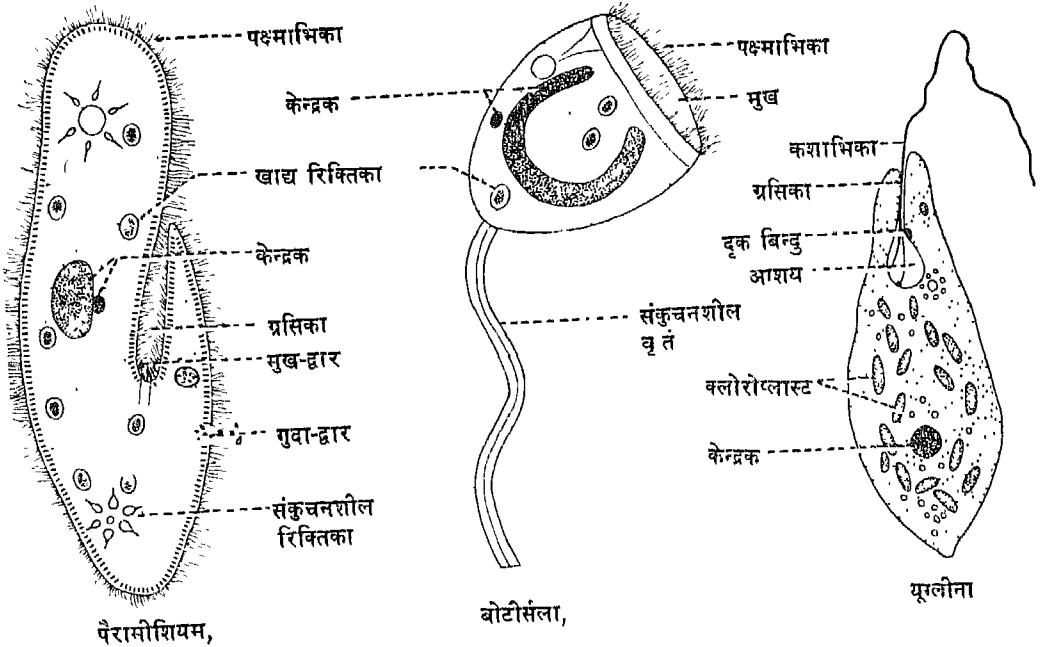
चित्र 29.4 कुछ अन्य प्रोटोजोआ। पैरामीशियम (Paramecium) की स्लीपर-जैसी आकृति स्थायी होती है। बाहरी सतह पक्ष्माभिकाओं (cilia) से ढकी रहती है, जो कि चलन (locomotion) के काम आते हैं। अमीबा के विपरीत इसमें अंतर्ग्रहण (ingestion) और बहिःक्षेपण (egestion) द्वार होते हैं। ध्यान दीजिए कि इस प्राणी में दो केन्द्रक न्यूक्लियस होते हैं।

वोर्टीसेला (Vorticella) घंटीनुमा प्रोटोजोआ है जो एक लंबे वृंत के द्वारा किसी जलीय पौधे से जुड़ा रहता है। पानी में जरा-सी खलबली होते ही यह वृंत सिकुड़कर गुड़ीमुड़ी हो जाता है। घंटीनुमा प्राणी के मुख के चारों ओर पक्ष्माभिकाओं का घेरा होता है। घोड़े की नाल की शक्ल के बड़े केन्द्रक और छोटे गोल केन्द्रक पर ध्यान दीजिए।

यूग्लीना (Euglena) की देह तकुआनुमा होती है और उसमें फ्लास्क की आकृति की ग्रसिका (gullet) होती है। अपनी लंबी कशाभिका को फटकारता हुआ यह प्राणी ताल के पानी में तैरता रहता है। इसमें एक दृक-बिन्दु (eye spot) और अनेक क्लोरोप्लास्ट (chloroplasts) होते हैं।

एनोफेलीज वंश के मादा मच्छर के काटने से यह परजीवी फैलता है। इस मच्छर के बैठने का एक खास ढंग होता है, जिससे आप इसे पहचान सकते हैं। यह सतह के साथ अपनी देह का एक कोण बनाते हुए बैठता है (चित्र 29.5)। जब कोई मादा मच्छर मलेरिया के किसी रोगी को काटती है और उसका खून चूसती है तो खून के साथ-साथ कुछ परजीवी मच्छर के आमाशय में पहुँच जाते हैं। इन परजीवियों में से कुछ मादा और नर कोशिका के रूप में व्यवहार करते हुए युग्मन करते हैं और उसके फलस्वरूप युग्मनज (zygote) बनाते हैं। युग्मनज कुछ लंबूतरे होकर आमाशय की भित्ति में प्रवेश कर जाते हैं और जहाँ बहुगुणित होकर तकुआनुमा कोशिकाएँ बनाते हैं, जिन्हें बीजाणुज या **स्पोरोज़ोइट** (sporozoite) कहते हैं। अंत में स्पोरोज़ोइट देह के द्रव पदार्थों के साथ-साथ मच्छर की लार-ग्रंथियों में पहुँच जाते हैं। यह मादा मच्छर जब किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटती है तो लार-ग्रंथियों में मौजूद स्पोरोज़ोइट उस आदमी के खून में पहुँच जाते हैं। पहले ये जिगर पर हमला बोलते हैं, जहाँ खूब पनपते हैं
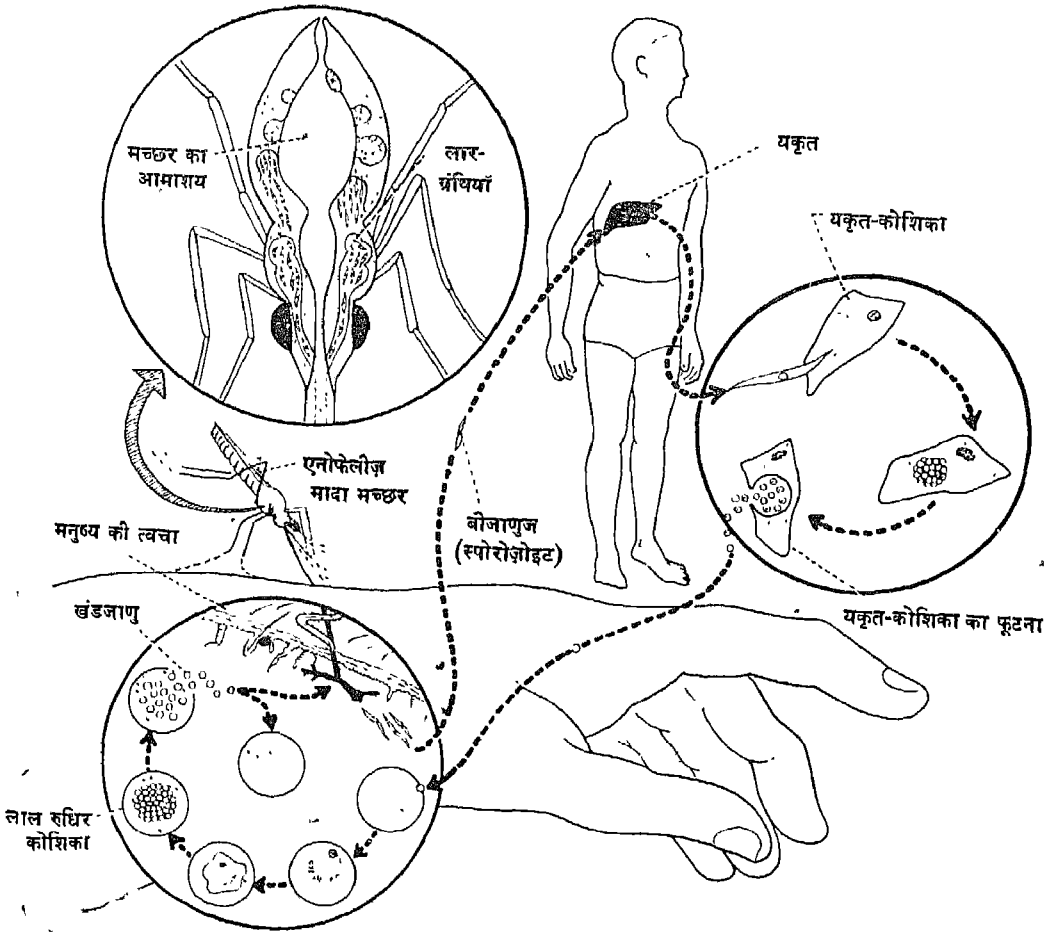
चित्र 29.5 मलेरिया परजीवी प्लास्मोडियम वाइवेक्स—का जीवन चक्र। आधार: ए० एम० इलियट और सी० रे० जूनियर, "बायोलोजी", एप्लेटन-सेंचुरी-क्रोफ्टस, इंको०, न्यूयार्क, 1960।

और संख्या वृद्धि करते हैं । इसके बाद में लाल रुधिर कोशिकाओं में प्रवेश करते हैं । जिस लाल रुधिर कोशिका पर हमला बोला गया है उसके भीतर पहुँचकर परजीवी पहले खूब बढ़ता है और फिर अनेक संतति कोशिकाओ में विभाजित हो जाता है, जिन्हे **खंडजाणु** (merozoite) कहते हैं । लाल कोशिकाओ के फटते ही मेरोजोइट या खंडजाणु बाहर निकल पड़ते है। इनमे से हरेक किसी नई लाल कोशिका को अपना शिकार बनाता है और इस चक्र को दुहराता है (चित्र 29.5) । खून में खंडजाणु के छोड़े जाने के समय ही रोगी को ठंड और जूड़ी बुखार चढ़ता है। मच्छर के काटने से लेकर बुखार चढ़ने तक का समय **उद्भवन-अवधि** (incubation period) कहलाता है ।

मलेरिया-परजीवी की चार स्पीशीज़ है जो मनुष्य पर संक्रमण करती हैं: **प्लाज्मोडियम वाइवेक्स** (Plasmodium vivax) और **प्लाज्मोडियम ओवेल** (Plasmodium ovale) ऐसी स्पीशीजे हैं कि इनके खंडजाणु 48 घंटे के बाद (यानी हर दूसरे दिन) लाल रुधिर कोशिकाओं को फाड़कर निकल पड़ते हैं। जब कि **प्लाज्मोडियम मलेरिई** (Plasmodium malariae) यही काम 72 घटे में (हर तीसरे दिन) और **प्लाज्मोडियम फाल्सीपेरम** (Plasmodium falciparum) 36 से 48 घंटे में पूरा करता है ।

अधिकतर उष्ण कटिबंधीय और उपोष्ण कटिबंधीय देशों में मलेरिया बड़ा व्यापक है । कुछ साल पहले तक भारत में हर साल कोई दस लाख व्यक्ति इस रोग के शिकार होकर मर जाते थे, लेकिन अब तो यह लगभग खत्म ही कर दिया गया है ।

एंटअमीबा (Entamoeba) : यह एक अन्य परजीवी है जो हमारे देश में बहुत पाया जाता है । इसकी एक स्पीशीज **एंटअबीमा हिस्टोलिटिका** (Entamoeba histolytica) के कारण **अमीबी अतिसार** या **अमीबियासिस** हो जाती है । इस रोग का लक्षण यह है कि पेट में दर्द उठने लगता है और दस्त छूट जाते है । रोगी के मल में खून और श्लेष्मा बहुत आने लगती हे ।

बनावट में **एंटअमीबा** अमीबा की तरह ही होता है, पर इसके पादाभ (pseudopods) अधिक पारदर्शी होते हैं, खाद्य रिक्तिकाओं में लाल रुधिर कणिकाएँ होती
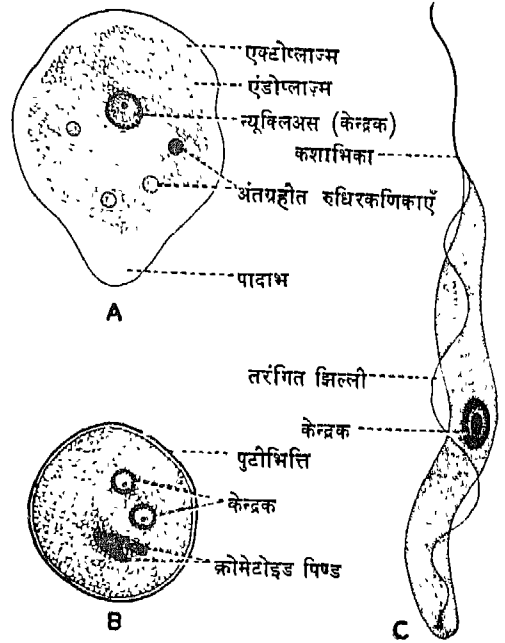
चित्र 29.6 परजीवी प्रोटोजोआ । A और B-एंटअमीबा हिस्टोलिटिका, आदमी में अमीबी पेचिस पैदा करने वाला अमीबा । A जैसा कि सूक्ष्मदर्शी से दिखाई देता है । पुटीभूत एंट-अमीबा, पुटी (सिस्ट) प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन कर सकती है । C-ट्रिपैनोसोमा गैम्बिएन्से (Trypanosoma gambiense) यह 'निद्रा-रोग' पैदा करता है । यह रोग अफ्रीका के कुछ भागों में बहुत व्यापक है ।

है और संकुचनशील रिक्तिकाएँ नहीं होतीं (चित्र 29.6A) । यह एक चिकनी गोल पुटी या सिस्ट (cyst) बनाता है जिसमें दो या चार केन्द्रक होते हैं (चित्र 29 6B) । मल के साथ एंटअमीबा और उनकी सिस्टे देह से बाहर निकल आती है । जब कोई व्यक्ति सिस्ट मिला हुआ पानी या भोजन ग्रहण करता है तो उसी पर संक्रमण हो जाता है । परजीवी अधिकतर समय बड़ी आँत में बिताता है और वहाँ आँत के अस्तर पर हमला बोलकर उसे नष्ट-भ्रष्ट करता रहता है । यों यह और भी भीतर धँसकर वहाँ के ऊतकों और रुधिर-केशिकाओं को भी हानि पहुँचा सकता है। कभी-कभी रुधिर की धारा के साथ यह जिगर, तिल्ली, फेफड़े या दिमाग तक में पहुँच
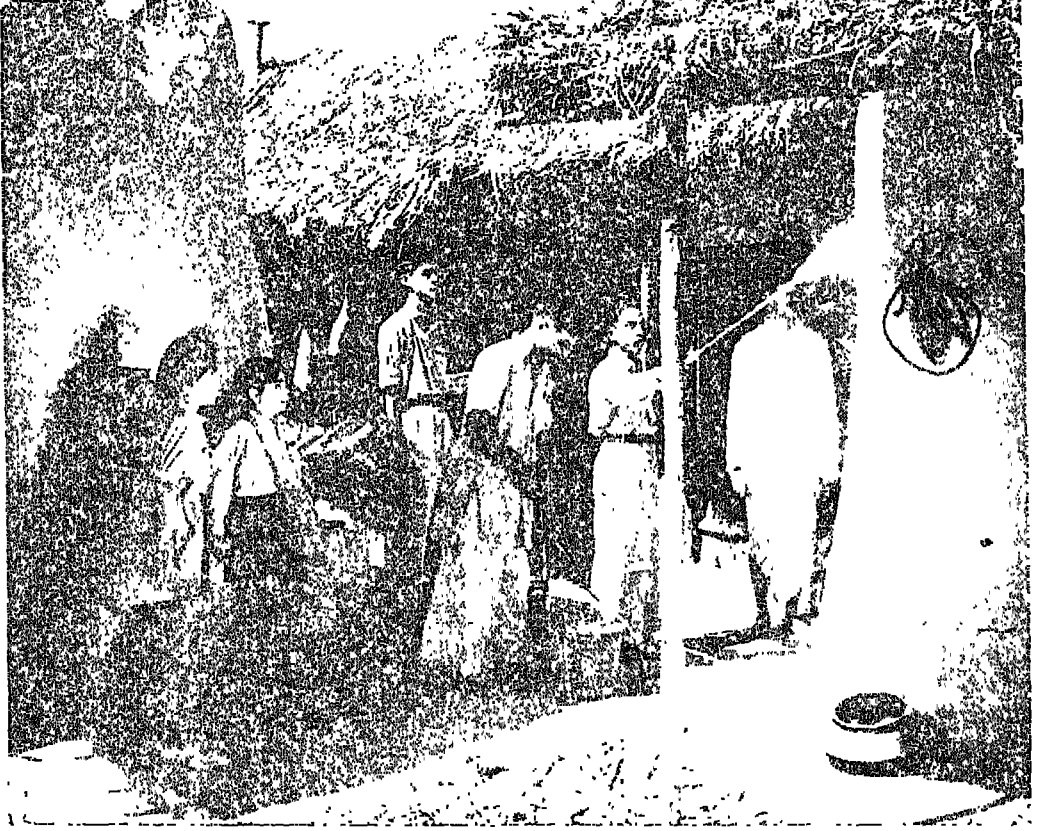
चित्र 29.7 मच्छरों को मारने के लिए एक घर में कीटनाशी छिड़का जा रहा है। सौजन्य : संयुक्त राष्ट्र।

सकता है और वहाँ पनपकर पीप से भरी हुई फुड़िया-सी बना सकता है।

ट्रिपैनोसोमा (Trypanosoma): यह परजीवी एक भयानक रोग पैदा करता है, जिसे **'स्लीपिंग-सिकनेस'** या **'निद्रा रोग'** कहते हैं। जिसका अफ्रीका के कुछ भागों में बड़ा जोर है। इसका मरीज तेज बुखार और बेहद कमजोरी अनुभव करता है और बारबार थोड़ी देर तक या ज्यादा देर तक सो जाया करता है। **ट्रिपैनोसोमा** पतली और चपटी-सी कोशिका के रूप मे होता है जिसमें एक तरंगित झिल्ली (undulating membrane) और एक पार्श्व में कशाभिका होती है (चित्र 29.6C)। ट्रिपैनो-सोमा जिन जंगली जानवरों के खून मे होता है, लगता है उन्हें इसकी वजह से कोई नुकसान नहीं पहुँचता। परंतु जब खून चूसने वाली सेट्सी मक्खियों-जैसे कीटों द्वारा यह परजीवी जंगली जानवरों से आदमी में पहुँचा दिया जाता है तो शीघ्र ही 'निद्रा-रोग' के लक्षण उभरने लगते हैं।

रोकथाम के उपाय

प्रोटोजोआ परजीवियों के नियंत्रण का सब से कारगर कदम तो यह है कि खान-पान में सफाई बरती जाए। बिना छना हुआ पानी या जिस जल के दूषित होने की शंका हो, उसे उबाल कर या उचित रासायनिक उपचार के बाद ही पीना चाहिए। भोजन उचित ढंग से पकाना चाहिए और फल तथा तरकारियो को खाने से पहले अच्छी तरह धो लेना चाहिए। जिन जगहो में मच्छर हों, वहाँ उनसे बचने के लिए मच्छरदानी लगाकर सोना चाहिए।

संक्रमण का फैलाव रोकने के लिए ऐसे उपाय काम में लाने चाहिए कि रोग के वाहक वयस्क और लार्वा अवस्था में से जिसमें भी हो मारे जाएँ। उदाहरण के लिए मच्छर तालाबों, सरोवरों और गड्ढो जैसी दलदली जगहों मे पनपते हैं। या तो इनका पानी निकाल देना चाहिए या कोई तेल डाल देना चाहिए जिससे पानी की सतह पर तेल की पतली परत जमकर लार्वाओ का साँस लेना दूभर कर दे और वे मर जाएँ। मच्छर के लार्वाओं को खाने वाली मछलियाँ लाकर छोड़ने से भी मच्छरों की बढ़वार रोकी जा सकती है। घर के कोनों में और दरारों में डी० डी० टी० आदि कीटनाशी छिड़ककर वयस्क रोगवाहकों को मारा जा सकता है, क्योंकि कीड़े-मकोड़े ऐसी ही जगहों में छिपे होते हैं।

सारांश

प्रोटोजोआ एक-कोशिका वाले जीव है जो कि उन सभी जगहो में मिलते हैं जहाँ जल और जैव पदार्थ सुलभ है। कुछ किस्में मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में परजीवी के रूप में रहती है। इस जीव की एक कोशिका मे ही जीवन की सारी क्रियाएँ संपन्न हो जाती है।

अमीबा सामान्य अलवण जलीय प्रोटोजोआ है। यह जीवद्रव्य का एक अनियमित पिंड ही तो है जो चलते समय कभी इधर, कभी उधर अपने पादाभ निकालकर शक्ल बदलता रहता है। न्यूक्लिअस के अलावा प्रत्येक अमीबा में एक या अनेक खाद्य रिक्तिकाएँ और एक संकुंचनशील रिक्तिका होती है। यह द्वि-विभजन के द्वारा अपनी आबादी बढाता है, अत: एक तरह से अमर है। प्रतिकूल परिस्थितियों में यह गोलमटोल होकर सिस्ट का रूप ग्रहण कर लेता है, जिसके अंदर अनेक अमीबा बन जाते हैं। जब अनुकूल परिस्थितियाँ आती है तो उन्हें अमीबा सिस्ट फाड़कर निकल पड़ते है।

तीन प्रमुख परजीवी हैं: **प्लाज्मोडियम, ट्रिपैनोसोमा** और **एंटअमीबा**। **प्लाज्मोडियम** या मलेरिया परजीवी अपने जीवन का एक भाग मादा **ऐनोफेलीज** मच्छर में और एक भाग मनुष्य की देह में बिताता है। **ट्रिपैनोसोमा** के कारण स्लीपिंग सिकनेस या निद्रा रोग हो जाता है जो कि सेट्सी मक्खी द्वारा फैलाया जाता है। **एंटअबीमा** बहुत-सी बातों में अमीबा के अनुरूप होता है पर यह बड़ी आँत या बृहदांत्र में संक्रमण करके अमीबी अतिसार (amoebic dysentry) पैदा कर देता है। इन परजीवियों की रोकथाम के सामान्य उपाय यही हैं कि रोगवाहकों को मार दिया जाए और खान-पान तथा रहन-सहन में सफाई बरती जाए।

प्रश्न

1. यदि अध्यापक कहें कि कक्षा में प्रोटोजोआ लेकर आओ तो आप कहाँ तलाश करेंगे ?
2. आपने जिन प्रोटोजोआ जीवों का अध्ययन किया, उनके जनन की लैंगिक और अलैंगिक विधियों का वर्णन करो ?
3. मलेरिया का शाब्दिक अर्थ है, 'बुरी हवा का रोग'। क्या आप समझते है कि सिर्फ बुरी हवा से बचे रहने से ही मलेरिया से बचा जा सकता है ?
4. 'स्लीपिंग सिकनेस' या 'निद्रा रोग' से आप क्या समझते हैं ? संसार के किस भाग में यह रोग अधिक फैला हुआ है ?
5. आपके नगर में मच्छर मारने के लिए नगरपालिका के अधिकारी क्या कदम उठा रहे हैं ?
6. मलेरिया-परजीवी के जीवन की कौन-कौन-सी अवस्थाएँ मच्छर में बिताई जाती हैं ?

7. किसी रोग पैदा करने वाले प्रोटोजोआ जीव के जीवन-वृत्त के ज्ञान से इस रोग के नियंत्रण में किस तरह सहायता मिलती है ?
8. पेचिश के रोगी के मल में श्लेष्मा और खून क्यों आता है ?
9. कुछ लोगों के विचार में 'अमीबा की अमर होने' की बात पूरी तरह सही नहीं है। आपका इस बारे में क्या मत है ?

अन्य पठनीय सामग्री

एल्वाराडो, सी० ए० और ब्रूस-श्वाट, एल० जे० 1962, मलेरिया। **साइंटीफिक अमेरिकन,** भाग—206, अंक—5, पृ० 86-98।

अज्ञात 1962, एनीमल्स एंड प्लांट्स, विच आर सिंगल सेल्स। **अंडरस्टैंडिंग साइंस,** भाग—1, अंक—3, पृ० 40-41।

अज्ञात 1962, सर रॉनेल्ड रॉस एंड हिज़ डिस्कवरीज एबाउट मलेरिया। **अंडरस्टैंडिंग साइंस,** भाग—1, अंक 10, पृ० 149।

बोनर, जे० टी० 1949, दॉ सोशल अमीबाज। **साइंटीफिक अमेरिकन,** भाग—180, अंक—6, पृ० 44-47।

बक्सबॉम, आर० 1948, **एनीमल्स विदाउट बेकबोन्स।** यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

रसेल, पी० एफ० 1952, दॉ इरेडीकेशन ऑफ मलेरिया। **साइंटीफिक अमेरिकन,** भाग—186, अंक—6, पृ० 22-25।

स्वान, एम० एम० 1951, फेमस एनीमल्स-3, अमीबा। **न्यू बायोलोजी** अंक—10, पृ० 9-32।

30

पोरीफेरा—छिद्रधारी प्राणी (स्पंज)

स्पंज निम्नतम श्रेणी के सरलतम बहु-कोशिक प्राणी हैं। बाजार में बिकने वाला नहाने का प्राकृतिक स्पंज वास्तव में इसी प्राणी का कंकाल है। अधिकतर स्पंज समुद्र के निवासी है, हालाँकि कुछ झीलों और तालाबों में भी पाए जाते हैं। ये चट्टानों से, घासपात मे या पानी में डूबी हुई दूसरी चीजों से चिपके रहते है और पौधों की तरह शाखाएँ उगाकर बढ़ते हैं। स्पंजों में भाँति-भाँति के रंग होते हैं और ये हरे, गुलाबी, लाल और पीले से लेकर सफेद या रंगहीन हो सकते हैं। अपने तरह-तरह के रंगों, शाखाओं और एक जगह लगे खडे रहने के कारण स्पंजों को भूल से पौधा समझ लिया जाता है।

सरल स्पंज की बनावट

सरल स्पंज मे अनेक सिलिंडरनुमा सीधी खड़ी नलिकाओं के झुंड आधार के पास क्षैजित नलिकाओं द्वारा जुडकर एक निवह (कालोनी) बनाते हैं (चित्र 30.1)। प्रत्येक नलिका एक पतली भित्ति वाली थैली-सी होती है, जो सारी की सारी छोटे-छोटे **छिद्रों** (ostia) से ढकी होती है। और सिरे पर एक बड़ा-सा **द्वार** (osculum) होता है भित्ति से चपटी एपिथीलियमी कोशिकाओं की बनी हुई बाहरी परत होती है, अंदर का अस्तर कशाभिका युक्त कालर कोशिकाओं से बनता है। इन दोनों परतों के बीच में एक श्लेषी द्रव्य भरा होता है जिसमें अनेक अमीबीय कोशिकाएँ होती हैं (चित्र 30.2B)। कालर-कोशिकाओं की कशाभिकाएँ इधर-उधर हिलती हुई पानी के अंदर की ओर प्रवाह बनाए रखती है। सूक्ष्म छिद्रों में होकर पानी बीच की बड़ी गुहा (cavity) में आता रहता है और सिरे पर के द्वार से बाहर निकल जाता है (चित्र 30.2A)। यह जल-धारा अपने साथ पोषक
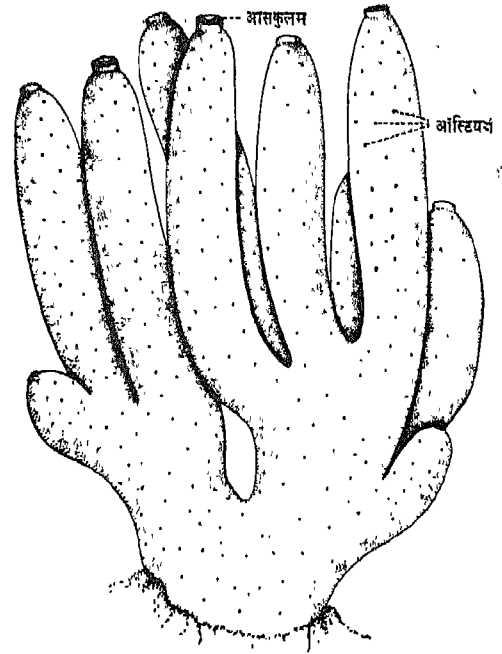
चित्र 30.1 सरल स्पंज की कालोनी का एक भाग।

सामग्री और ऑक्सीजन लाती है और वर्ज्य पदार्थ ले जाती है। खाद्य कण (सूक्ष्म जीवों के रूप में) कालर कोशिकाओं द्वारा पकड़ लिए जाते है और या तो सीधे इन कोशिकाओं द्वारा ही पचा लिए जाते है या उनके भीतर की श्लेष्मी द्रव्य वाली परत में स्थित अमीबाम कोशिकाओं में पहुँचा दिए जाते हैं।

श्लेष्मी परत में चूनामय या सिलिकामय पदार्थ का बना एक कंकाल **कंटिकाओं** (spicules) के रूप में होता है। इनमें सबसे सरल सुई नुमा होते हैं, जब कि

चित्र 30.3 स्पंजों का कंकाल। A. विविध आकृतियों की कंटिकाएँ। B. स्पंजित-तंतु।

चित्र 30.2 सरल स्पंज की आंतरिक रचना। A. समूचे प्राणी की देह की अनुदैर्घ्य काट का रेखाचित्र। B. देह-भित्ति (A में चिह्नांकित) का एक भाग बड़ा करके दिखाया है। रूपांतरः पी० बी० बीरज, "ऐन इन्ट्रोडक्शन टू बायोलोजी", मैक-ग्राहिल बुक कंपनी, इंको०, न्यूयार्क, 1963।

दूसरों में तीन या अधिक 'अर' होते हैं (चित्र 30.3A)। असंख्य कंटिकाएँ एक दूसरे को ढकती हुई इस तरह व्यवस्थित होती है कि स्पंज की देह भित्ति में इनका जाल-सा बिछा रहता है। नहाने के स्पंज में यह कंकाल लचीले **स्पंजित तंतुओं** का बना होता है (चित्र 30.3B)।

स्पंज या तो मुकुलों (buds) द्वारा अलैंगिक जनन करते हैं या अंड और शुक्राणु द्वारा लैंगिक जनन करते है। अधिकतर स्पंज **उभयलिंगी** (hermaphroditic) हैं यानी एक ही प्राणी में अंड और शुक्राणु दोनों बनते हैं। परिपक्व युग्मक पानी में छोड़ दिए जाते हैं

स्पंजों में पुनरुद्भवन की अपूर्व क्षमता होती है। एक छोटा-सा खंड भी बढ़कर पूर्ण जीव बन सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि एक सजीव स्पंज को कुचलकर उसका गूदा महीन रेशम के कपड़े में से छाना जाए तो छने हुए भाग में कोशिकाएँ नजर आती हैं और ये कोशिकाएँ दुबारा पुंजीभूत होकर नए प्राणियों के रूप में उग जाती हैं। जहाँ स्पंजों को बड़े पैमाने पर लगाया जाता है, वहाँ एक बड़े स्पंज को लेकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर दिए जाते हैं, जो कि फिर छोटे-छोटे पिंजड़ों में रखकर समुद्र में लटका दिए जाते है। कुछ वर्षो में ये टुकड़े बड़े-बड़े स्पंजों का रूप धारण कर लेते हैं। चित्र 30.4 में आमतौर पर पाए जाने वाले स्पंज दिखाए गए है। स्पंजों का रेशेदार कंकाल नहाने-धोने के काम आता है, शल्य चिकित्सा में अवशोषक के रूप में उपयोगी है और भराई या बिछाई (पैकिंग) की सामग्री के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है।
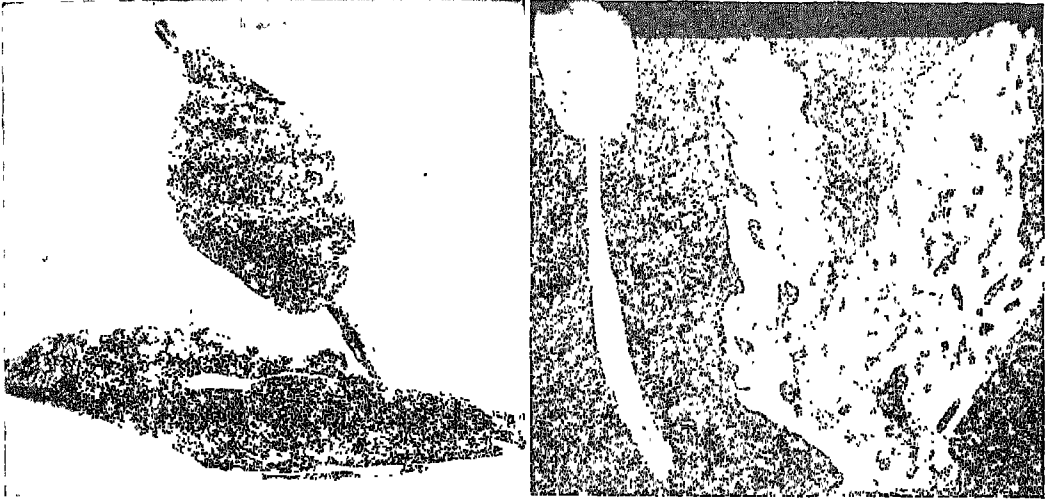
चित्र 30.4 तीन तरह के स्पंज। ताल-तलैयों के अलवणजलीय स्पंज जो जलीय पौधों से चिपके रह कर उगते हैं सौजन्य: अमेरिकन म्यूजियम ऑफ नेचुरल हिस्ट्री, न्यूयार्क। ग्लास रोप स्पंज प्यालेनुमा होता है और छ: अर वाली सिलिकामय कंटिकाओं से बुना हुआ इसका सुंदर ढाँचा लंबे काचाभ तंतुओं द्वारा चट्टान से चिपका रहता है। यह स्पंज प्रशांत महासागर के गहरे जल में पाया जाता है। नहाने का स्पंज बड़े-बड़े झुंडों में समुद्री शिलाओं से लगा हुआ पाया जाता है। बाजार में बिकने वाला स्पंज वस्तुतः इस प्राणी की सुखाई हुई ठठरी होती है। तुर्की के बाथ-स्पंज बड़े मशहूर हैं। ये गोताखोरों द्वारा लंबे बाँसों में हुक लगाकर इकट्ठे किए जाते हैं। ताजे होने पर ये चिपचिपे और जेलीनुमा होते हैं।

सारांश

स्पंज सबसे सरल बहुकोशिक प्राणी है। एक जगह स्थिर रहने और रंग-बिरंगे होने के कारण अक्सर गलती से इन्हें पौधा समझ लिया जाता है। सभी स्पंजों की देह में असंख्य छिद्र होते हैं। अधिकतर स्पंज समुद्र में मिलते हैं, परंतु कुछ अलवणजल में भी पाए जाते हैं।

स्पंजों में कंटिकाओं (spicules) या स्पंजिन तंतुओं अथवा दोनों से बना हुआ कोमल ढाँचा होता है। ये खंड तथा शुक्राणु द्वारा लैंगिक जनन और मुकुल (bud) पैदा करके अलैंगिक जनन करते हैं। इनमें पुनरुद्भवन की क्षमता होती है।

सरल स्पंज थैलीनुमा और सिलिंडराकार रचना के रूप में होता है जिसकी सतह छोटे-छोटे बेशुमार छेदों से भिदी रहती है। इन्हीं छिद्रों में से जल प्रवेश करता है और शीर्ष भाग में स्थित द्वार से बाहर निकलता है। कालर कोशिकाओं की कशाभिकाओं के नियमित लहराने से ही जल का अंदर को प्रवाह होता है। स्पंजों का कंकाल नहाने-धोने और भराई वगैरह के कामों में इस्तेमाल किया जाता है।

प्रश्न

1. किसी सरल स्पंज की संरचना का वर्णन करो। यह भोजन और ऑक्सीजन कैसे प्राप्त करता है।
2. स्पंजों की विशाल पुनरुद्भवन-क्षमता का क्या महत्त्व है?
3. किन बातों में स्पंज पौधों से मिलते है? फिर उन्हें जंतु मानने के लिए आपके पास क्या तर्क है?
4. स्पंजों को प्रोटोजोआ से उच्चतर क्यों माना जाता है।

अन्य पठनीय सामग्री

बक्सबॉम, आर० 1948, ऐनीमल्स विदाउट बेक-बोन्स। यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

हैन्सन, ई० डी० 1961, ऐनीमल डाइवर्सिटी : फाउंडेशन्स ऑफ मोडर्न बायोलोजी सीरीज। प्रेंटिस-हाल, इंको० एंजिलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी।
(इसका हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है : जंतु विविधता, अनु० : डॉ० हरसरन सिंह विश्नोई, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, रामनगर, नई दिल्ली—अनुवादक)।

31

सीलेन्टेरेटा—खोखली थैलीवाले प्राणी

सीलेन्टेरेट्स भी स्पंजों की भाँति बहु-कोशिक प्राणी हैं, पर वे स्पंजों की अपेक्षा कहीं अधिक सुसंगठित होते हैं। ये अधिकतर समुद्रों में पाए जाते है, लेकिन कुछेक अलवण-जल मे भी मिलते है। यदि आप किसी ताल से **हाइड्रिला** नामक जलपौधा निकाल लाएँ और थोड़े-से सरोवर-जल के साथ काँच के जार में कुछ देर यों ही बिना छेड़े रखा रहने दें, तो आपको पौधे के आधार के पास सफेद-धागे जैसे कुछ सजीव-पिण्डल टके दिखाई दे सकते है (चित्र 31.1)। हर धागे के मुक्त सिरे पर 5 से लेकर 6 तक स्पर्शक (tentacles) लगे होते हैं। इस प्राणी को **हाइड्रा** कहते है। अन्य सीलेन्टेरेट्स—जेलीफिश, समुद्री एनीमोन (चित्र 31.2 और 31.3) और प्रवाल या मूँगे समुद्र में पाए जाते हैं। इन सभी प्राणियो की देह अरतः समसित (radially symmetrical) होती है। ये
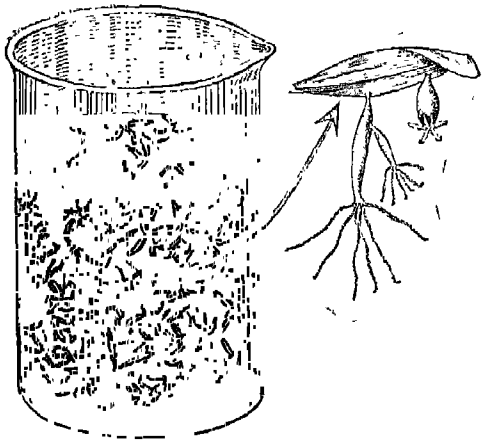
चित्र 31.1 तालाब की वनस्पति-हाइड्रिला को काँच के जार में इकट्ठा किया गया, जिससे कि पत्तियों पर चिपके हाइड्रा दिखाए जा सकें।
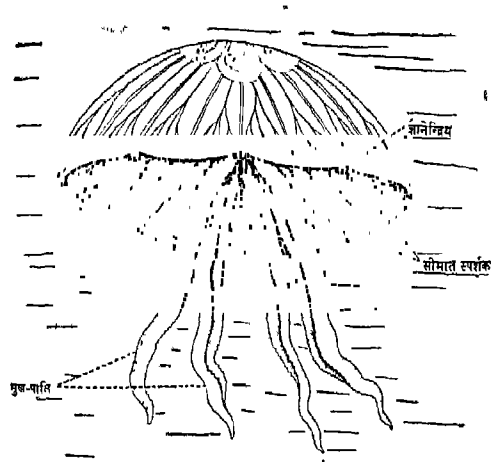
चित्र 31.2 समुद्र में मुक्त रूप से तैरने वाला सीलेन्टेरेट-जेलीफिश। उसकी देह उल्टी तश्तरी-सी होती है, जिसके किनारों पर अनेक स्पर्शक और आठ ज्ञानेन्द्रियाँ लगी होती हैं। मुख निचली सतह के केन्द्र में और चार मुख-पालियों (oral lobes) के बीच में होता है। पालियों में बनी खातों से होकर आहार मुख तक पहुँचता है।

द्विकोरकी या डिप्लोब्लास्टिक होते है यानी इनकी देह भित्ति दो परतों से बनी होती है—ऊपरी परत—**एपिडर्मिस** है और भीतरी परत **गैस्ट्रोडर्मिस** या **एंडोडर्मिस** है। इन दोनो परतों के बीच में अकोशिक पदार्थ (**मध्यश्लेषस्तर या मेसोग्लिआ**) भरा होता है। एपिडर्मिस पर कहीं-कहीं **दंश-कोशिकाएँ** होती हैं। गैस्ट्रोडर्मिस एक गुहा को घेरे होता है। इस गुहा को **एंटेरॉन** (enteron) कहते हैं जो कि पोषक पदार्थ के पाचन का
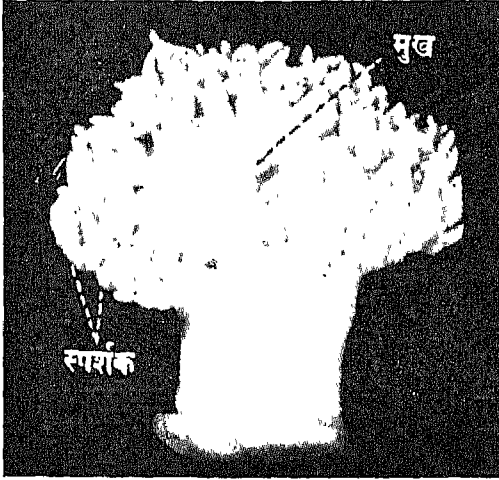
चित्र 31.3 समुद्री एनीमोन या "समुद्र का फूल"। इसकी सिलिंडराकार देह एक सिरे से चट्टान पर लगी रहती है और दूसरे सिरे पर मुख के चारों ओर स्पर्शक लगे होते हैं। जब स्पर्शक पूरे खुले हों तो यह प्राणी एक बड़े फूल-सा लगता है।
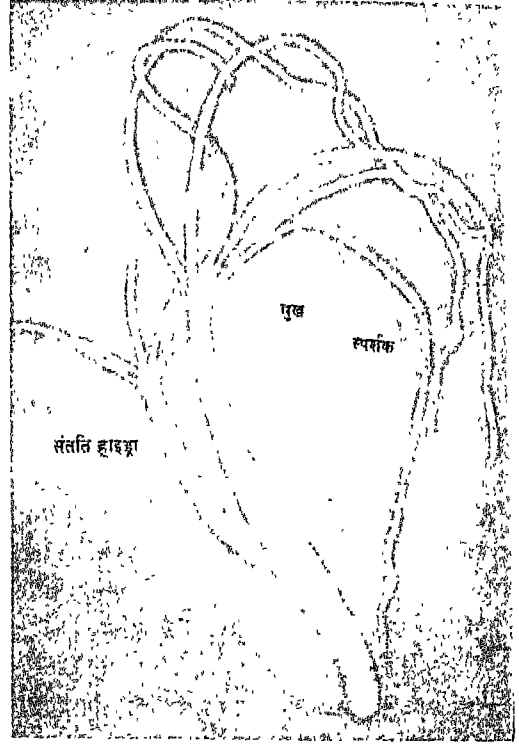
चित्र 31.4 अलवणजल का सीलेन्टेरेट-हाइड्रा। जनक हाइड्रा और संतति-हाइड्रा पर ध्यान दें। आधार: आर० बुक्सबाम, ऐनीमल्स विदाउट बैक बोन्स, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, 1948।

भी काम करती है और पचे हुए अंश को देह के सभी भागों में पहुँचाने (परिसंचरण) का भी।

हाइड्रा

हाइड्रा अलवणजल में निमग्न पत्थरों और पौधों पर लगा हुआ पाया जाता है। इसकी सिलिंडराकार देह लंबाई में 2 मि० मी० से 12 मि० मी० तक हो सकती है। चट्टान या पौधे से चिपके वाले सिरे के विपरीत दिशा में झूलते हुए मुक्त सिरे पर 5 या 6 पतले स्पर्शक एक गोल घेरे में लगे होते हैं (चित्र 31.4)। इस गोल घेरे के मध्य शंकु-जैसा तिकोना भाग होता है। जिसके अग्रभाग में एक द्वार होता है—'मुख'। हाइड्रा की देह में बहुत ज्यादा प्रसार हो सकता है, कभी-कभी तो सामान्य आकार से दुगनी तक लंबी हो जाती है। पानी में जरा-सा भी हिला देने पर ये फौरन अपनी देह को सिकोड़कर छोटा गुमड़-सा बन जाते हैं।

हाइड्रा की देह का अनुदैर्ध्य सेक्शन काटकर देखें तो उसमें एपिडर्मिस और गैस्ट्रोडर्मिस तथा दोनों के बीच में मेसोग्लिआ नजर आता है (चित्र 31.5)। दोनों परतों की अधिकतर कोशिकाओं में मेसोग्लिआ के किनारे-किनारे लचीले प्रवर्ध निकले रहते हैं। इन प्रवर्धों की क्रिया के फलस्वरूप हाइड्रा अपनी देह को इच्छानुसार सिकोड़ या खींच सकता है। स्पर्शक भी खोखले होते हैं और उनमें भी कोशिकाओं की वही दो परतें होती हैं। एपिडर्मिस की कुछ कोशिकाएँ विशिष्टता प्राप्त करके दंश-कोशिकाएँ बनाती हैं। दंश-कोशिकाएँ स्पर्शकों में बहुतायत से होती हैं, क्योंकि पोषण के लिए छोटे-छोटे जीव पकड़ना स्पर्शकों का
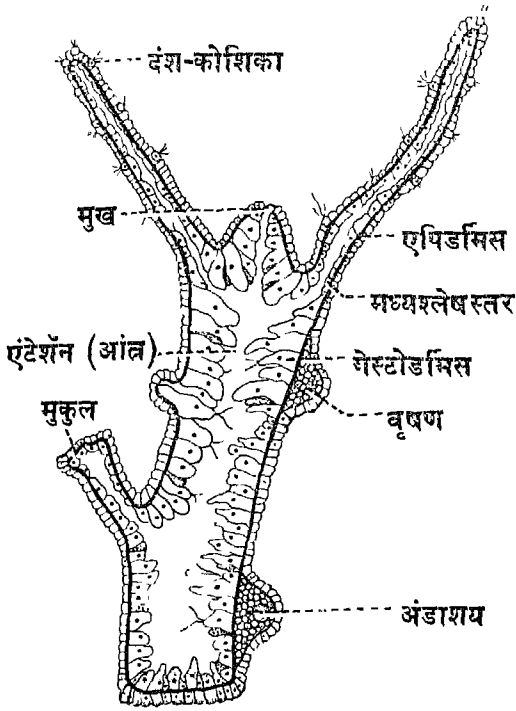
चित्र 31.5 हाइड्रा की आंतरिक रचना, जैसी कि अनुदैर्ध्य सेक्शन में दिखाई देती है। इसकी देह केवल दो भ्रूणीय परतों से बनी होती है।

मुख्य कार्य है। दंश-कोशिकाएँ छोटी-छोटी थैलियों-जैसी होती हैं, जिनमे विषैला तरल भरा रहता है। प्रत्येक दंश-कोशिका का एक सिरा लंबा होकर खोखले धागे के रूप में कुंडलित होकर कोशिका के भीतर पड़ा रहता है। एक संवेदी रोम दंश-कोशिका से बाहर निकला रहता है। जब कोई जीव इस संवेदी रोम से छू जाता है तो गुड़ीमुड़ी बना हुआ धागा तेज़ी से बाहर फूट पड़ता है। कुछ धागे तो उस जीव को फँसा लेते हैं और कुछ उसकी देह मे जहरीले द्रव का इंजेक्शन दे देते हैं। जहर के असर से अशक्त हुआ जीव अब स्पर्शकों द्वारा 'मुख' में पहुँचा दिया जाता है।

गैस्ट्रोडर्मिस में बड़ी-बड़ी कोशिकाएँ होती हैं इनमें से कुछ कोशिकाओं के मुक्त सिरे या तो बढ़कर पादाभ (pseudopods) बनाते हैं या उन पर दो चाबुक सरीखी कशाभिकाएँ लगी होती हैं। स्पर्शकों द्वारा पकड़ा गया 'आहार' मुख में होकर एंटेरोन में पहुँचता है, जहाँ गैस्ट्रोडर्मिस की कोशिकाओं से निकले पाचक-रस उससे मिलते है। पादाभयुक्त कोशिकाएँ भी एंटेरोन में आए आहार का कुछ अंश अपने घेरे में लेकर निगल लेती हैं और वहीं कोशिका के भीतर उसका पाचन होने लगता है। अनपचा भाग एंटेरोन से 'मुख' के द्वारा ही बाहर ढकेल दिया जाता है; अब 'मुख' ही 'गुदा' का काम करने लगता है।

एपिडर्मिस की कोशिकाओं के आधार में मेसोग्लिआ के निकट असंख्य तंत्रिका-कोशिकाएँ होती हैं, जो कि परस्पर जुड़कर सारी देह और स्पर्शकों में एक महीन जाल-सा बुन देती हैं। यह तंत्रिका-जाल सारी एपिडर्मिस और गैस्ट्रोडर्मिस में फैली हुई अनेक संवेदी कोशिकाओं से जुड़ा होता है।

हाइड्रा अधिक समय तो एक ही जगह पर जमा हुआ बिताता है पर कभी-कभी यह अधिक अनुकूल स्थानों की ओर चलने लगता है। यह चलन (locomotion) या तो पाश-पद्धति से होता है या कलामुंडी खाकर (चित्र 31.6)।
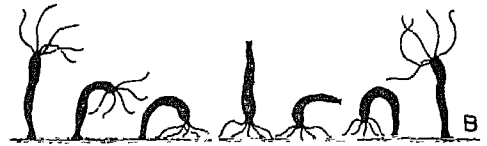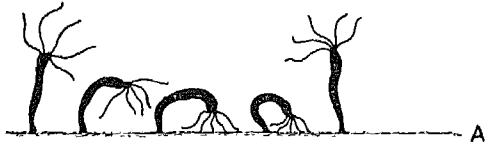
चित्र 31.6 हाइड्रा में चलन (locomotion) A. पाश-पद्धति से B कलामुंडी खाकर।

पहले तरीके में हाइड्रा अपनी देह को इतना झुकाता है कि स्पर्शक उस वस्तु की सतह को छूने लगते हैं, जिस पर वह चिपका हुआ है। इस स्थिति में यह प्राणी पाश या फंदे की शक्ल का हो जाता है। अब इसका आधारी भाग सतह से छूटकर स्पर्शकों के पास खिसक आता है और वहाँ फिर से चिपक जाता है। इस तरह थोड़ी दूरी तय कर ली जाती है। अब स्पर्शक छूट जाते हैं और हाइड्रा सीधा खड़ा हो जाता

है। इस तरह बार-बार यह क्रिया दुहराते हुए हाइड्रा अपने वांछित स्थान तक पहुँच जाता है। कलामुंडी खाकर चलने में देह का सतह से चिपका भाग ऊपर फेंककर हाइड्रा 'शीर्षासन' की मुद्रा में स्पर्शकों के बल पर खड़ा हो जाता है और तब आधार-भाग को स्पर्शकों से आगे की ओर झुकाकर फिर से सीधा खड़ा हो जाता है। इस तरह सर्कस के खिलाड़ियों की तरह कलामुंडी खाते हुए हाइड्रा अपनी दूरी तय कर लेता है। कभी-कभी पानी की तेज धारा इसको अपने मूल स्थान से उखाड़ कर कहीं दूर बहा ले जाती है।

हाइड्रा में श्वसन और उत्सर्जन के कोई निश्चित अंग नहीं होते। एपिडर्मिस और गैस्ट्रोडर्मिस की सभी कोशिकाएँ पानी में घुले ऑक्सीजन का प्रयोग करती है और विसरण की क्रिया के द्वारा कार्बन-डाइऑक्साइड तथा दूसरे वर्ज्य पदार्थ बाहर निकालती हैं।

हाइड्रा अलैंगिक और लैंगिक दोनों तरह से जनन करता है। अलैंगिक जनन में देह-भित्ति से एक खोखले उभार या उद्वर्ध के रूप मे एक छोटा-सा मुकुल निकलता है (चित्र 31.4 और 31.7 A)। कुछ ही दिनों में यह लंबा होकर अपने मुक्त सिरे पर स्पर्शक विकसित कर लेता है और 'मुख' बना लेता है। यह नव-हाइड्रा कालांतर में अपने जनक की देह से अलग होकर एक स्वतंत्र जीव के रूप में स्थापित हो जाता है (चित्र 31.7B)।

लैंगिक जनन में प्रत्येक प्राणी नर और मादा जननांग (क्रमशः वृषण और अंडाशय) बनाता है अतः वह उभयलिंगी (hermaphrodite) होता है। वृषण तिकोने उद्वर्धों के रूप में उभरते हैं और आम तौर पर देह के ऊपरी अर्द्धांश में बनते हैं। पूर्ण परिवर्धित होने पर ये फट जाते हैं और शुक्राणु पानी में बिखर जाते है। अंडाशय गोल पिंडों के रूप मे देह के आधार भाग के निकट लगते हैं। प्रत्येक अंडाशय में एक बड़ा-सा अंडाणु होता है, जो कि पोषक-कोशिकाओं से घिरा होता है। परिपक्व अंडाशय के बाहर का खोल फट जाता है और उसमें होकर शुक्राणु भीतर तैर आते हैं। इनमें से कोई एक परिपक्व अंडाणु को निषेचित करता है। निषेचित अंडाणु परिवर्धित होकर दो परतवाला भ्रूण बनाता है, जो बाद में अपने जनक की देह से अलग हो जाता है। फिर इस भ्रूण का एक सिरा अपने अधिष्ठान (substratum) से चिपक जाता है और दूसरे खुले सिरे पर 'मुख' और स्पर्शक बन जाते हैं। सामान्यतया एक ही प्राणी की देह में वृषण और अंडाशय एक ही समय
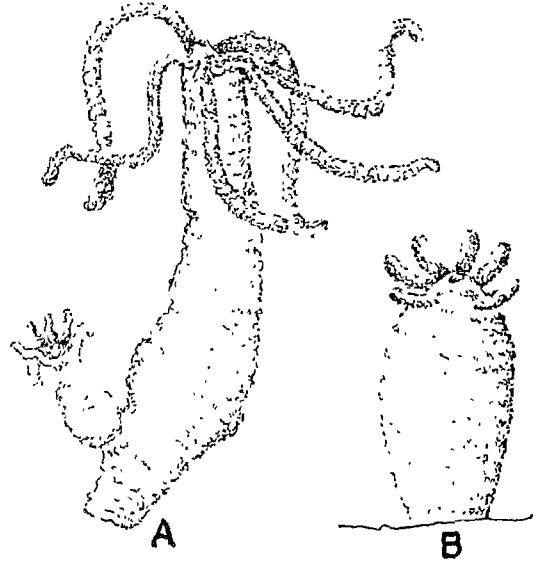
चित्र 31.7 हाइड्रा में अलैंगिक जनन : A जनक-हाइड्रा और उस पर लगा एक छोटा मुकुल B. मुकुल से बढ़कर बना एक नन्हा हाइड्रा।

परिपक्व नहीं होते; इस प्रकार स्व-निषेचन से बचने का प्रयत्न रहता है।

हाइड्रा में पुनरुद्भवन (regeneration) की अद्भुत क्षमता होती है। अगर इसके दो टुकड़े हो जाएँ (ऊपरी और निचला) तो दोनों में बाकी हिस्से बन जाएँगे—ऊपरी हिस्से में निचला हिस्सा बन आएगा और निचले मे मुख और स्पर्शक बन जाएँगे।

प्रवाल (मूँगे)

यहाँ कुछ एनीमोन-सरीखे सीलेन्टेरेट्स विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्हे **प्रवाल** कहते हैं (चित्र 31.8)। ये आमतौर पर बड़ी-बड़ी कालोनियाँ बनाते हैं और अपने चारों ओर चूनेदार कंकाल स्रवित कर लेते हैं। जब ये बड़ी-बड़ी कालोनियाँ खूब फैल जाती है तो भारी मात्रा में चूना जमा होकर प्रवाल-भित्ति या कोरल-रीफ बना देता है। आस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वी समुद्रतट के परे स्थित ग्रेट बैरियर रीफ लगभग 1800 किलोमीटर लंबी और 90 किलोमीटर चौड़ी है। सारी दुनिया में प्रवाल-भित्तियों या मूँगे की चट्टानों से आभूषण तथा अन्य कलात्मक वस्तुएँ बनाई जाती हैं।
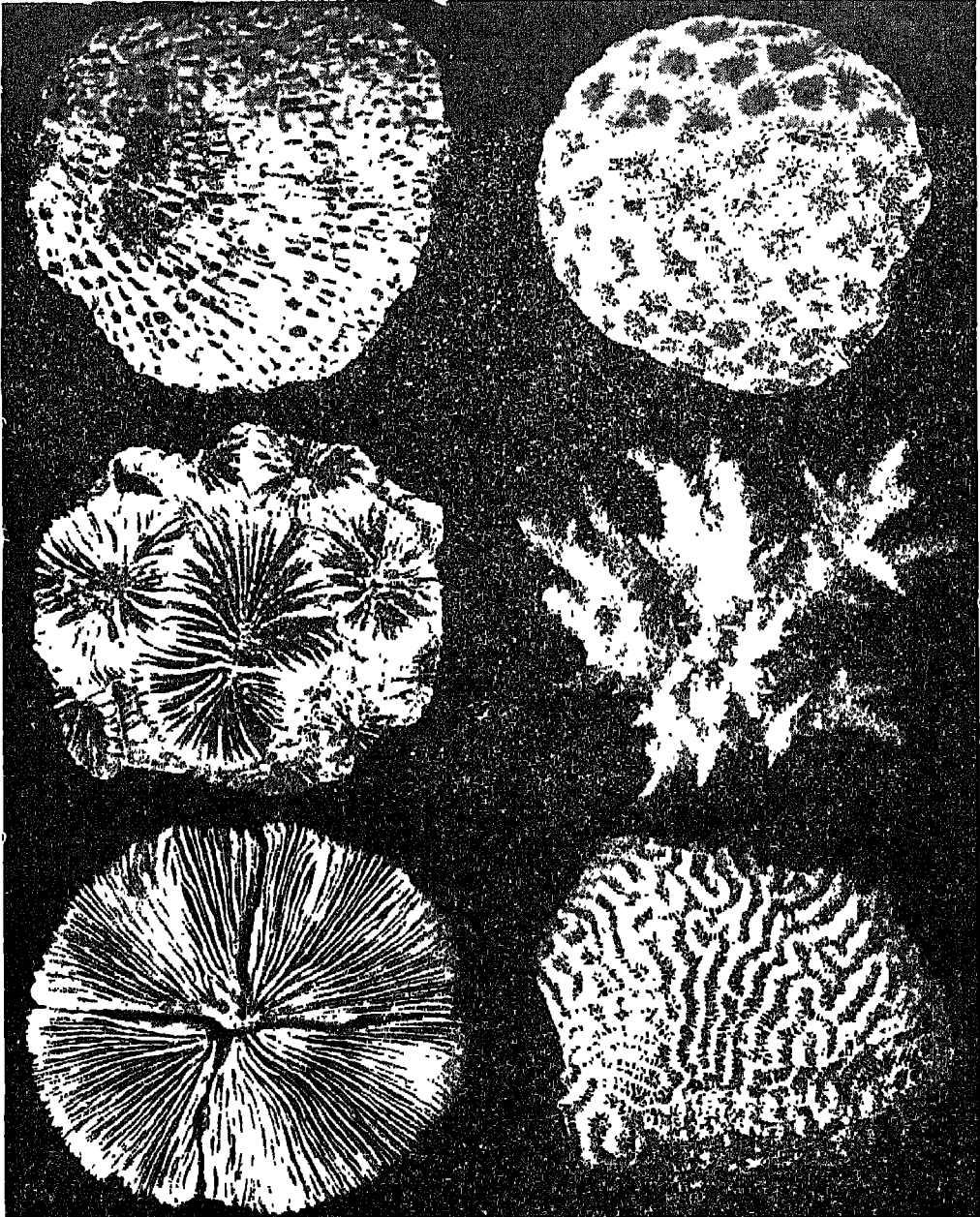
चित्र 31.8 कुछ चुने हुए मूँगे (प्रवाल) ये कुछ सीलेन्टेरेटों से स्रवित चूने के सख्त कंकाल हैं। कंकाल या ढाँचे के छोटे-छोटे छेदों में से प्रवाल प्राणी की हाइड्रा-जैसी शाखाएँ पानी में लटकी रहती हैं।

सारांश

सीलेन्टेरेट्स बड़े सरल प्राणी हैं। उनकी देह खोखली थैली-सी होती है जिस पर 'मुख' के निकट स्पर्शक लगे होते है। इस 'थैली' की भित्ति में दो कोशिकीय परतें होती हैं—एपिडर्मिस और गैस्ट्रोडर्मिस (एंडोडर्मिस)। इन दोनों परतों के बीच में सीमेन्ट की तरह कोशिका-विहीन मेसोग्लिआ लगा रहता है। सीलेन्टेरेटों की सारी देह पर जहाँ-तहाँ दंश-कोशिकाएँ लगी होती है, जो कि स्पर्शकों में बहुतायत-से पाई जाती है।

हाइड्रा एक अलवणजलीय सीलेन्टरेट है, जो कि निमग्न पौधों और चट्टानो पर उगता है। यह देखने में एक ऐसे सफेद डोरे-सा लगता है जिसके खुले सिरे पर कई स्पर्शक लगे होते हैं। स्पंज की बनावट से तुलना करें तो हम देखते हैं कि हाइड्रा की देह बनाने वाली कोशिकाओं मे अपेक्षाकृत अधिक विभेदन होता है जैसे कि यहाँ कई तरह की कोशिकाएँ होती हैं—संकोची कोशिकाएँ, दंश-कोशिकाएँ, ग्रंथिल-कोशिकाएँ और तंत्रिका-कोशिकाएँ। हालाँकि मूलतः हाइड्रा अचल जीव है पर पाश-पद्धति के द्वारा या कलामुंडी खाकर हाइड्रा एक स्थान से दूसरे तक चलन कर सकता है। हाइड्रा मे अलैंगिक जनन मुकुलो (buds) द्वारा होता है, जो कि खोखले उद्वर्धों के रूप मे देह-भित्ति से निकले रहते हैं। लैंगिक जनन मे वृषणों से निकले हुए शुक्राणु अंडाशयों में वर्तमान अंडाणुओं को निषेचित करते हैं। प्रत्येक अंडाशय में का निषेचित अडाणु बढ़कर भ्रूण बन जाता है। भ्रूण जनक की देह से अलग होकर एक स्वतंत्र जीव बन जाता है।

सीलेन्टेरेटों के अन्य सामान्य उदाहरण ये हैं : जैली-फिश, समुद्री एनीमोन और प्रवाल। प्रवाल या मूँगे अपने चारो ओर चूनेदार कंकाल स्रवित कर लेते हैं। ये कंकाल कई बार भारी-भारी संहतियो के रूप में इकट्ठे हो जाते हैं।

प्रश्न

1. किसी प्राणी को सीलेन्टेरेट में रखने के लिए आप उसमें कौन-कौन-से लक्षण खोजेंगे ?
2. हाइड्राओं की आप कहाँ तलाश करेंगे ?
3. हाइड्रा की देह इतनी क्यों तन सकती है ?
4. हाइड्रा अपने आहार को कैसे पकड़ता है ?
5. हाइड्रा के 'मुख' में और किसी उच्च-श्रेणी के जंतु के मुख में क्या अंतर है ?

अन्य पठनीय सामग्री

बक्सबॉम, आर० 1948; **ऐनीमल्स विदाउट बेकबोन्स**। यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

हैन्सन, ई० डी० 1961; **ऐनीमल डाइवर्सिटी**। फाउन्डेशन्स ऑफ मॉडर्न बायोलोजी सीरीज़। प्रेन्टिस-हाल, इंको०; इंगैलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी। (जंतु-विविधता, अनु० डा० हरसरन सिंह विश्नोई, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, रामनगर, नई दिल्ली)।

32

प्लेटीहेलिमन्थीज—चपटे कृमि

चपटे कृमि या पट्ट कृमि (flatworms) परजीवी होने के कारण प्राय: अनदेखे रह जाते हैं, हालाँकि इनमें से कुछ स्वतंत्र जीवन भी बिताते हैं। जीव-विज्ञान के अध्येता के लिए ये प्राणी बड़े महत्त्व के है ; एक तो इसलिए कि इनके कारण मनुष्य और पशुओ में अनेक रोग हो जाते हैं और दूसरे, इसलिए कि इनसे उस जटिल अंग-विन्यास का प्रारंभ होता है, जो कि उच्च श्रेणी के जीवों में जाकर और भी स्पष्ट होता जाता है। जहाँ सीलेन्टेरेटों के ऊतक दो भ्रूणीय परतो से बनते हैं, वहाँ इन चपटे कृमियों के ऊतक तीन भ्रूणीय परतों (embryonic layers) से बनते हैं। तीसरी परत मेसोडर्म है जो देह की पेशियों को जन्म देती है, जननांग बनाती है और स्पंजी मृदूतक बनाती है। परंतु इन कृमियों में सीलोम या देह-गुहा नहीं होती। पृष्ठाधरी तल (dorsoventral plane) में चिपके होने के कारण चपटे कृमियों में द्विपार्श्व सममिति (bilateral symmetry) होती है। आहार-नाल हो भी तो गुदा नहीं होती। इनके उत्सर्जन-तंत्र में अनेक शाखित नलिकाएँ होती हैं, जिनके अंतिम सिरों पर ज्वाला-कोशिका या फ्लेम-सेल्स नामक विशिष्ट रचनाएँ बनी होती हैं। आम तौर पर ये कृमि उभयलिंगी होते है।

फेसियोला (लिवर फ्लूक)

अधिकतर देशों में लिवर फ्लूक भेड़ तथा अन्य पशुओं के यकृत का सामान्य परजीवी है। इसके कारण यकृत या जिगर को बड़ी हानि पहुँचती है और **'यकृत-गलन'** (liver rot) हो जाता है। लिवर फ्लूक की देह पत्ती की तरह चिपटी होती है (चित्र 32.1)। इसमें दो आसंजनशील रचनाएँ होती हैं, जिन्हें **चूषक** (suckers) कहते हैं—अगले सिरे पर मुख-चूषक (oral sucker) होता है इससे कुछ पीछे हटकर पश्च-चूषक (ventral sucker) होता है। मुख-चूषक में स्थित मुख एक बहु-शाखित आहार नलिका से जुड़ता है जो सारी देह को घेरे रहती है (चित्र 32.1)। इसमें गुदा नहीं होती। उत्सर्जन-तंत्र और जनन-तंत्र भी अतिशाखित और जटिल होते हैं।

जब लिवर फ्लूक अंडे देते है तो उनके अंडे भेड़ के जिगर से चलकर उसकी पित्त-नलिका मे होते हुए अंत में विष्ठा के साथ-साथ बाहर आ जाते हैं (चित्र 32.2)। पानी के पास दिए गए अंडों से नन्हें-नन्हे मुक्त विचरण करने वाले लार्वा निकलते हैं जो कि एक घोंघे की देह मे प्रवेश कर जाते है। इसके बाद घोंघे की देह में अनेक लार्वीय अवस्थाओ में से गुजरते हुए, लिवर फ्लूक हर अवस्था में अपनी वंशवृद्धि करते रहते है। लार्वा की अंतिम अवस्था में दो चूषक और एक छोटी-सी दुम होती है। दुम की सहायता से यह लपकता हुआ घोंघे में से बाहर आता है और उस समय तक पानी में तैरता रहता है जब तक तालाब के किनारे के किसी छोटे पौधे तक नहीं पहुँच जाता। इस अवस्था में पहुँचकर दुम खत्म हो जाती है। लार्वा घास की पत्ती पर चिपक जाता है और अपने चारों ओर एक खोल-सा बना लेते हैं, जिसे पुटी (सिस्ट) कहते है। जब चराई के समय संक्रमित घास की ये पत्तियाँ भेड़ो के पेट में पहुँचती है, तो पुन: चपटा कृमि अपने प्रमुख परपोषी (भेड़) में पहुँच जाता है। भेड़ के पेट में पहुँचकर पुटी घुल जाती है और नन्हा कृमि मुक्त हो जाता है। अब यह कृमि आमाशय की भित्ति में प्रवेश करके खून में जा **मिलता है और फिर**
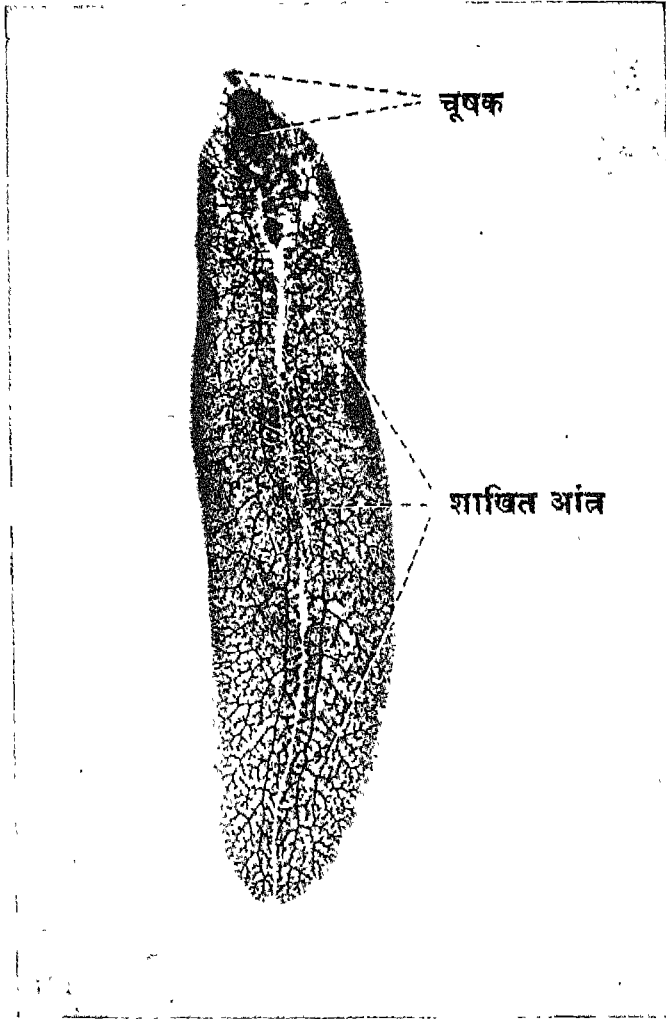
चित्र 32.1 भेड़ का लिवर फ्लूक (फेसियोला)। आंतरिक अंगों को स्पष्ट करने के लिए फ्लूक को अभिरंजित (स्टेन) कर दिया गया है। सारी देह में फैला हुआ जाल आहार-नाल का और शाखित जनन-ग्रंथि (gonad) का है।

रुधिर-वाहिका के द्वारा जिगर में भी पहुँच जाता है। नन्हा फ्लूक तीन-चार महीने में बढ़कर परिपक्व हो जाता है और फिर अपने परपोषी के जिगर पर निर्वाह करता हुआ बेखटके कई साल तक जीवित रहता है।

टीनिया सोलियम (फीता कृमि)

फीता कृमि मनुष्य की आँतों का परजीवी है। इसमें न तो मुख होता है और न आहार-नाल। सफेद या हल्की पीली फीते-जैसी देह तीन से लेकर छः मीटर तक लंबी हो सकती है। अगले सिरे पर छोटा-सा सिर होता है, जिसके पीछे देह अनेक बड़े-बड़े खंडों में बँटी होती है (चित्र 32.3)। ये तीन किस्मों के होते हैं; (1) छोटे अपक्व खंड जो सिर के ठीक पीछे स्थित होते हैं और जिनमें अभी अंग नहीं बने; (2) पक्व खंड, जिनमें नर और
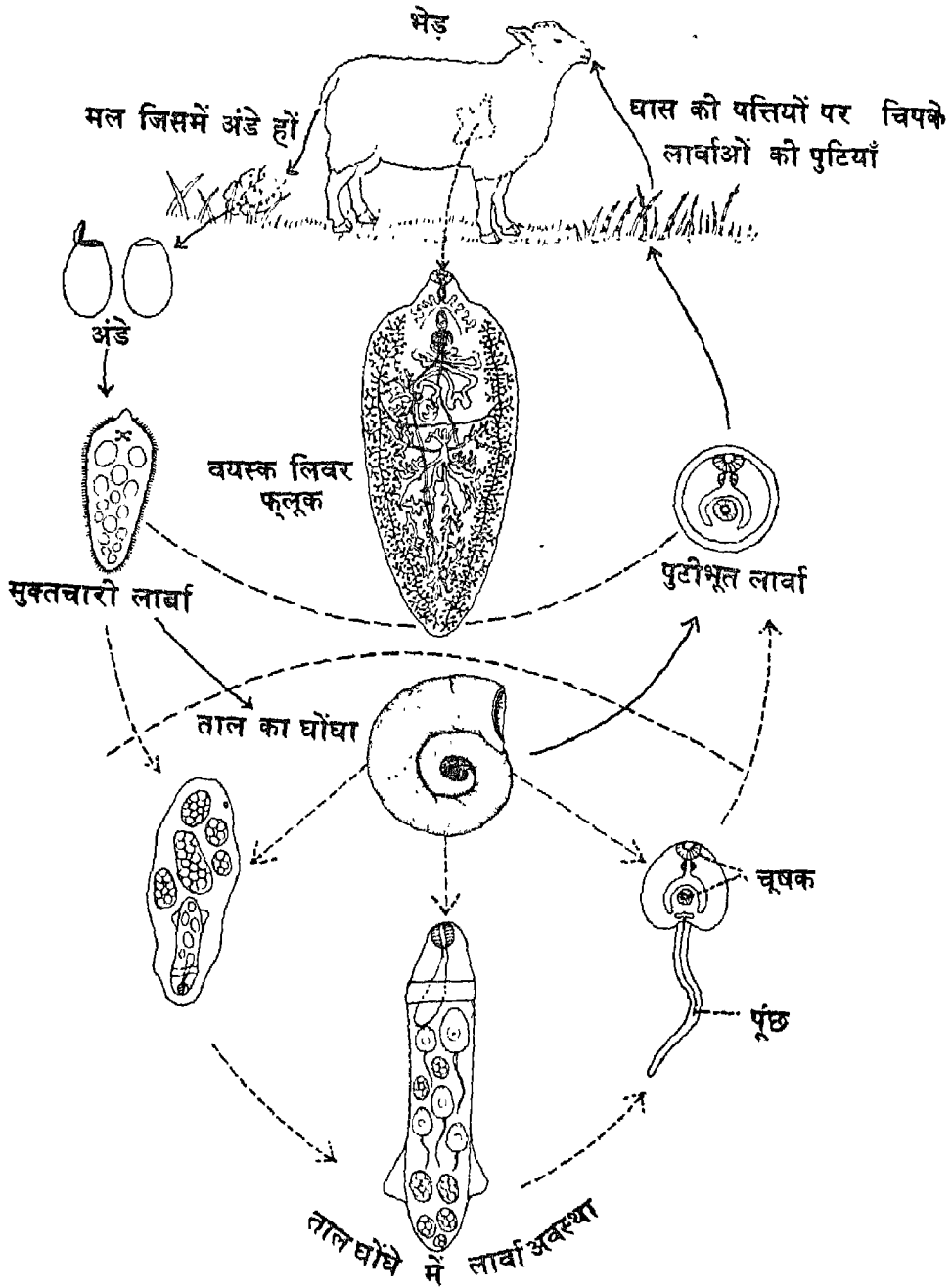
चित्र 32.2 लिवर फ्लूक का जीवन-चक्र ।
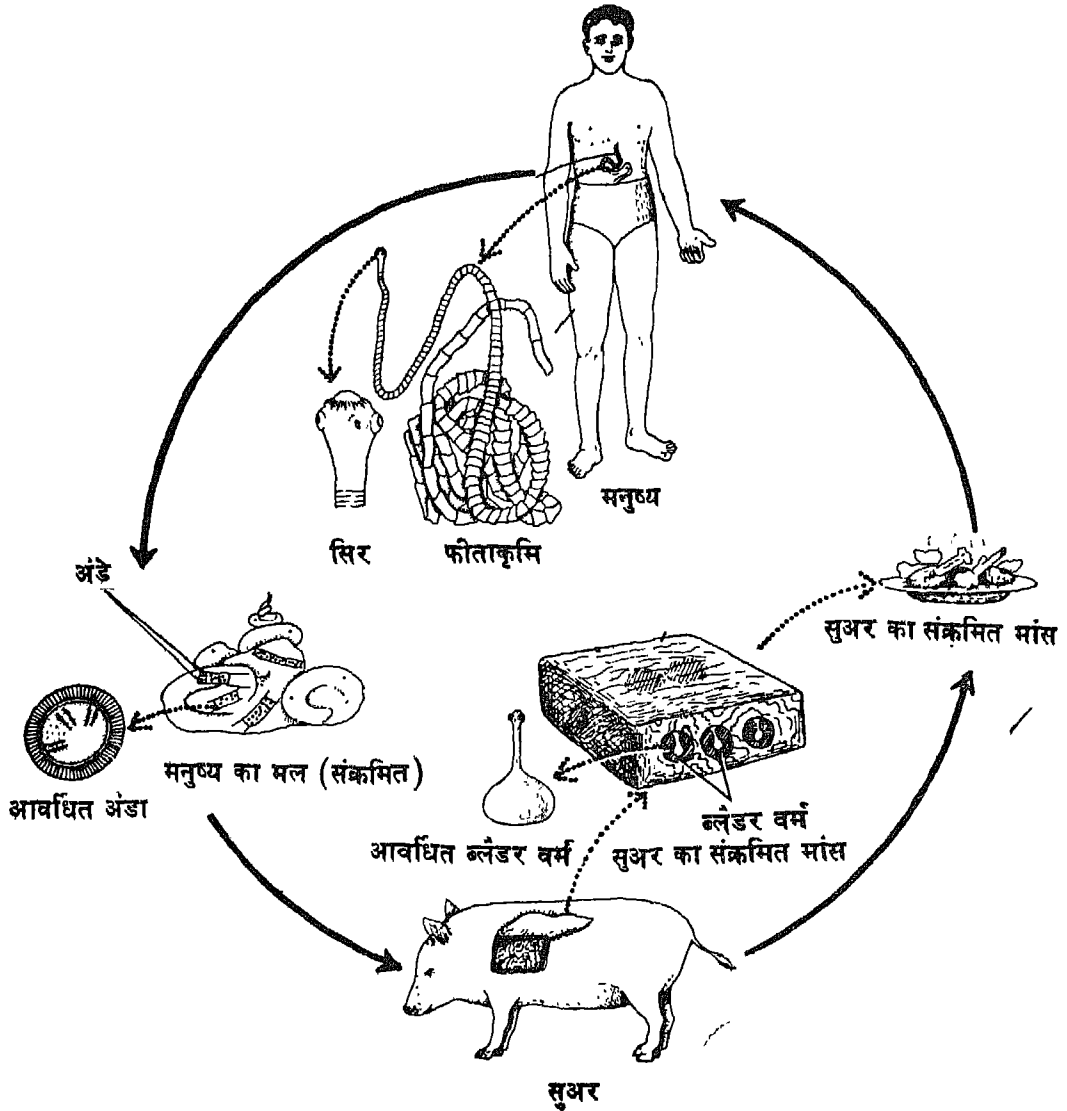
चित्र 32.3 मनुष्य में फीता कृमि (टीनिया सोलियम) का जीवन-चक्र ।

मादा जननांग होते है; और (3) ग्रैविड खंड जो देह का पिछला हिस्सा बनाते है और जिसमें निषेचित अडे ही अंडे भरे होते है। सिर आसंजन या चिपकने का अंग होता है। इस पर 28 हुक लगे होते हैं और चार प्यालेनुमा चूषक होते हैं। सिर के सिवा फीता कृमि की देह का बाकी हिस्सा आँत में यों ही लटका रहता है।

पक्व अंडों वाले पिछले खंड मनुष्य के मल के साथ बाहर निकल जाते है। आगे परिवर्धन तभी होता है, जब ये अंडे किसी सूअर के पेट मे पहुँच जाएँ (चित्र 32.3)। सूअर के पेट के भीतर हरेक अंडा परिवर्धित होकर छः अंकुशिका (hooklets) वाला भ्रूण पैदा करता है। इन अंकुशिकाओं की सहायता से भ्रूण सूअर के आमाशय
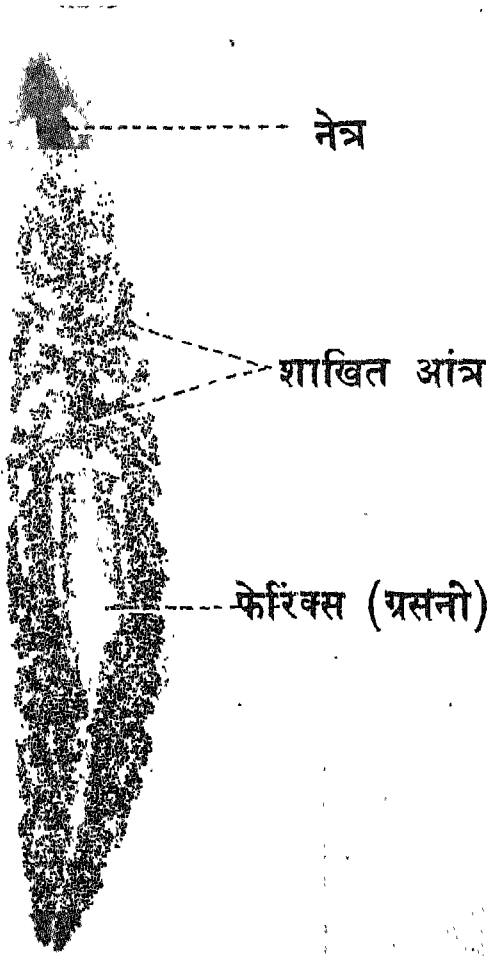
चित्र 32.4 प्लेनेरिया—अलवणजल का चपटा कृमि । आंतरिक रचना स्पष्ट करने के लिए प्लेनेरिया को अभिरंजित कर दिया गया है। देह के मध्य में स्थित फेरिंक्स द्वारा आहार ग्रहण किया जाता है ।

की भित्ति में छेद करके कुछ रुधिर-वाहिकाओं में घुस जाता है और अंत में पेशियों में जा पहुँचता है। यहाँ यह बढ़कर एक गोल रचना का रूप धारण कर लेता है जिसे **ब्लैडर वर्म** कहते हैं। यह एक पतली झिल्ली में लिपटा होता है और उस पर एक छोटा-सा सिर लगा होता है। जिस पर हुक और चूषक लगे होते हैं। जब ब्लैडर वर्म से संक्रमित सूअर का मांस किसी मनुष्य द्वारा खा लिया जाता है तो ये कृमि उसकी आँतों में पहुँचकर आँत्र-भित्ति से चिपक जाते हैं और फिर उससे खंड निकल आते हैं और वह वयस्क में परिवर्धित हो जाता है।

आपने देखा कि लिवर फ्लूक और फीता कृमि दोनों ही अपना जीवन-चक्र दो भिन्न परपोषियों में पूरा करते हैं। जिस परपोषी से वयस्क अवस्था (अर्थात पूर्ण परिवर्धित जनन-तंत्र वाली अवस्था) पोषण ग्रहण करती है वही प्रमुख या अंतिम परपोषी कहा जाता है (लिवर फ्लूक के लिए भेड़, फीता कृमि के लिए मनुष्य)। अन्य परपोषी (लिवर फ्लूक का घोंघा और फीता कृमि का सूअर) लार्वा-अवस्था का पोषण करते हैं, अतः मध्यवर्ती परपोषी कहे जाते हैं। जीवन-चक्र पूरा करने के लिए दोनों परपोषियों का सुलभ होना आवश्यक है।

प्लेनेरिया आदि

(मुक्तजीवी चपटे कृमि)

समुद्र हो या अलवणजल या केवल स्थल, प्लेनेरिया आदि मुक्तजीवी चपटे कृमि संसार में सभी जगह पाए जाते हैं। इनमें से कुछ तो बड़े चटकीले रंग वाले होते हैं। अलवणजल के चपटे कृमि तालों की तली में पाए जाते हैं। ये छोटे और चपटे कृमि लंबाई में कुछ मिलीमीटर ही होते हैं। इनका अगला सिरा चौड़ा होता है जब कि दूसरा सिरा बहुत कुछ नुकीला होता है (चित्र 32.4)। पृष्ठ-तल पर अगले सिरे के निकट दो गोल और काले बिन्दु होते हैं—ये 'नेत्र' हैं। इनके नेत्र केवल प्रकाश-संवेदी बिन्दु हैं और उनमें लैंस, रेटिना जैसी कोई रचना नहीं होती। इसीलिए इनमें वह कैमरा-दृष्टि नहीं होती, जो कि मनुष्य और अन्य प्राणियों में पाई जाती है। मुख अधर-तल में होता है और उसमें से फेरिंक्स को बाहर की ओर उगलकर निकाला जा सकता है। पक्ष्माभिका युक्त एपिडर्मिस की सहायता से इन कृमियों की देह अपने आश्रय-स्थल पर फिसल सकती है। आहार-नाल सुपरिवर्धित होती है। इसमें अनेक शाखाएँ होती हैं और गुदा-द्वार नहीं होता। **प्लेनेरिया** में पुनरुद्भवन की अद्भुत क्षमता होती है। इसको लेकर इतने प्रयोग किए गए हैं कि यह जीव-विज्ञान में विख्यात हो चुका है।

सारांश

प्लैटीहैल्मिन्थ या चपटे कृमियों में अधिकतर परजीवी प्राणी हैं, हालाँकि उनमे से कुछ मुक्तजीवी भी हैं। वे त्रिकोरकी (triploblastic) होते है अर्थात् इनमें तीन भ्रूणीय परतें (embryonic layers) होती हैं। परंतु इनमें कोई सुनिश्चित देह-गुहा नही होती। **प्लेनेरिया** (Planaria) एक छोटा अलवणजलीय पट्ट कृमि है और पुनरुद्भवन-संबंधी प्रयोगों में बहुतायत से इस्तेमाल किया जाता है, क्योंकि इसमें टूट जाने पर हर खंड से नया जीव बना देने की अपूर्व क्षमता होती है।

भेड़ों (प्रमुख परपोषी) का परजीवी लिवर फ्लूक अपने जीवन का एक भाग तालों में पाए जाने वाले घोंघे (मध्यवर्ती परपोषी) में बिताता है। फ्लूक ढेर सारे अंडे देता है जो कि भेड़ के जिगर से चलकर उसकी आँतों में पहुँच जाते है और वहाँ से मल के साथ बाहर आ जाते हैं। अंडों से लार्वा निकलते हैं। ये मुक्तजीवी लार्वा घोंघे की देह में पहुँच जाते हैं। घोंघे मे पहुँचने के बाद की लार्वा-अवस्थाएँ परजीवी को वयस्कावस्था की ओर तो अग्रसर करती ही हैं, साथ ही हर अवस्था में उसकी संख्या वृद्धि करती जाती है। दुमदार लार्वा रेंगकर घोंघे की देह से बाहर आ जाते हैं और अपने चारों ओर पुटी (सिस्ट) बना लेते हैं। जब कोई भेड़ घास से चिपकी पुटियों को निगल लेती है, तो उसके आमाशय में नन्हें कृमि पुटी में से निकल आते हैं। आमाशय की भित्ति में छेद करके ये कृमि रुधिर-वाहिकाओं में प्रवेश कर जाते है और यकृत में पहुँच जाते है। यहाँ ये परिवर्धित होकर कुछ ही महीनों मे लिवर फ्लूक बनकर यकृत कोशिकाओं को खाने लगते है।

फीता कृमि मनुष्य की आँतों में रहने वाला परजीवी है। अपने सिर पर लगे हुकों या अंकुशों तथा चूषकों की सहायता से आंत्र मे चिपक जाता है। अनेक खंडों वाली बाकी देह आँत मे यों ही लटकती रहती है। सबसे आखिरी खंड ग्रेविड खंड होते है और इनमें निषेचित अंडे भरे रहते हैं। ये खंड लगातार अलग होकर मल के साथ बाहर आते रहते है। यदि ये अंडे सूअर द्वारा निगल लिए जाएँ तो ये भ्रूणों के रूप में सूअर की मांस पेशियों मे पहुँचकर वहाँ परिवर्धित होकर ब्लैडर वर्म बन जाते हैं। सूअर के अधपके मांस के साथ ये कृमि भी मांसाहारी मनुष्यों की देह में पहुँच सकते है।

प्रश्न

1. इतनी अधिक संख्या में अंडे पैदा करने से फीता कृमि को क्या लाभ है ?
2. लिवर फ्लूक अपने अंडे कहाँ देता है ?
3. निम्नलिखित बातों में प्लैटीहेल्मिन्थ, सीलेन्टरेटो से किस तरह बढ़कर हैं : (1) पाचन, (2) उत्सर्जन और (3) देह-संगठन ?
4. हमारी देह में फीता कृमि कैसे पहुँचते है ? अपने अध्यापक से इनसे छुटकारा पाने के उपायों के बारे में पूछिए।
5. किसके पेट में फीता कृमि पहुँचने की अधिक संभावना है : शाकाहारियों में या मांसाहारियों में ?

अन्य पठनीय सामग्री

जॉनसन, एम० एल० 1949 ; फेमस एनीमल्स-2, दॉ टेपवर्म। **न्यू बायोलोजी**, अंक-7, पृ० 113-123।

लापेज, जी० 1956; दॉ पैरासाइट्स पाइंट ऑफ व्यू। **साईंस न्यूज**, अंक-14, पृ० 87-108।

33

निमेटहेल्मिन्थीज--गोल कृमि

चपटे कृमियों की भाँति गोल कृमियों के भी बहुत-से सदस्य मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में परजीवी होते है। कुछ गोल कृमि अलवणजल में और कुछ नम मिट्टी में निवास करते है। इनके अलावा कुछ ऐसे भी है जो कि पौधों के तनों और जड़ों के निकट संपर्क में रहना पसंद करते है। टमाटर और तंबाकू-जैसे पौधों की जड़ों में रहने वाले गोल कृमि इन फसलों का विनाश करके या उनकी उपज घटाकर भारी नुकसान पहुँचाते है।

गोल कृमियों की देह लंबूतरी, सिलिंडराकार और खंडहीन होती हैं तथा उसके ऊपर एक मोटा आवरण (cuticle) चढ़ा रहता है। इनमें तीन प्रारंभिक या भ्रूणीय परतें होती है, पर चपटे कृमियों के विपरीत एक सुवर्धित देह-गुहा भी वर्त्तमान होती है। आहार-नाल में पीछे की ओर एक गुदा-द्वार होता है। नर और मादा जननांग एक ही प्राणी में नहीं होते, बल्कि अलग-अलग होते हैं और नर गोल कृमि आम तौर पर मादा से छोटे होते हैं।

चित्र 33.1 सामान्य गोल कृमि (ऐस्कारिस लंब्रीकाइडीज़)। ध्यान दें कि नर का पुच्छ सिरा घूमा हुआ है।
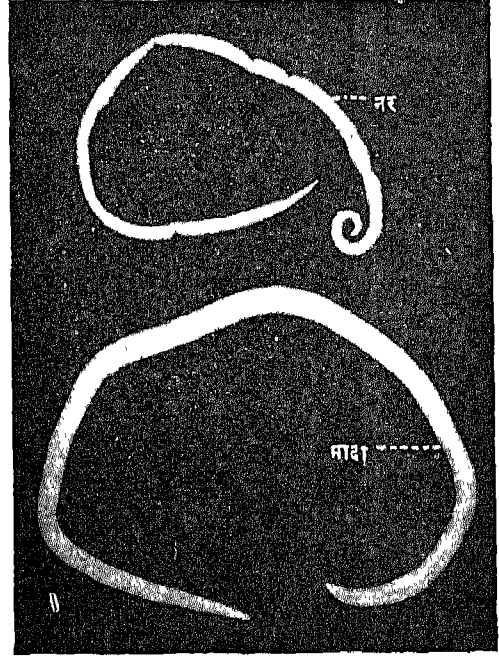
ऐस्कारिस लंब्रीकॉइडीज

ऐस्कारिस लंब्रीकॉइडीज सामान्य गोल कृमि है जो दुनिया के किसी भी छोर पर रहने वाले मनुष्य की आँतों में पाया जा सकता है। यह मनुष्य का बहुत पुराना परिचित प्राणी है। वयस्क मादा लंबाई में कोई 25-30 सें० मी० होती है और इसकी पूँछ का सिरा एकदम सीधा होता है। वयस्क नर अपेक्षाकृत छोटा होता है और इसकी पूँछ का सिरा हुक की तरह मुड़ा हुआ होता है (चित्र 33.1)। पाचन-मार्ग में एक स्पष्ट मुख और गुदा होती है। अपना जीवन-चक्र पूरा करने के लिए इस कृमि को किसी मध्यवर्ती परपोषी की आवश्यकता नहीं होती। एक मादा प्रतिदिन 2,00,000 अंडे पैदा कर सकती है। ये अंडे भारी तादाद में मल के साथ देह से बाहर निकल जाते हैं। दो से लेकर तीन सप्ताह की अवधि में अंडों में भ्रूण परिवर्धित हो जाते हैं। ये अंडे यदि किसी मनुष्य द्वारा निगल लिए जाएँ तो संक्रमण पैदा कर सकते है। दूषित पेय और खाद्य पदार्थों के साथ ऐस्कारिस

लंब्रीकॉइडीज के अंडे भी आदमी के पेट में पहुँच सकते हैं। ग्रहणी (duodenum) में पहुँचकर ये अंडे परिपक्व होते हैं और इनमें से निकलने वाले नन्हें जीव रुधिर-वाहिकाओं में प्रवेश करके फेफड़ों में पहुँच जाते हैं। नन्हें कृमि शीघ्र ही फेफड़ों से ग्रसनी (फेरिक्स) में आ जाते हैं और वहाँ से पुनः आहार-नाल में आ धमकते हैं आंत्र में पहुँचकर उन्हें भरपूर आहार मिलता है और वे बढ़कर वयस्क हो जाते हैं।

हेल्मिन्थ और रोग

प्लैटीहेल्मिन्थीज और निमेटहेल्मिन्थीज दोनों ही वर्गों के परजीवियों को प्रायः 'हेल्मिन्थ' कह दिया जाता है। ये मनुष्य और अन्य प्राणियों में अनेक रोग पैदा करते हैं। इनमें से कुछ रोगों का विवरण हम यहाँ दे रहे हैं।

आप **फेसियोला** द्वारा भेड़ और पशुओं मे पैदा किए जाने वाला 'यकृत-गलन' (चित्र 33.2) के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। संक्रमण के गंभीर मामलों में यकृत का बहुत बड़ा भाग गल जाता है जिससे कि उसके सामान्य कार्य में बाधा पड़ती है और परपोषी की मृत्यु हो सकती है। इस फ्लूक की एक अन्य संबंधित किस्म (**फेसीयोलोप्सिस बस्काई**—(Fasciolopsis buski) मनुष्य के यकृत पर आक्रमण करती है। इसके पुटीभूत लार्वा सिंघाड़े के छिलके पर चिपके हुए पाए जाते हैं। जब सिंघाड़े का छिलका दाँतों से छीलकर अलग किया जाता है तो ये परजीवी मुख के द्वारा मनुष्य की देह में प्रवेश कर जाता है। सामान्य फीता कृमि **टीनिया सोलियम** रोगी द्वारा ग्रहण किए आहार का अधिकांश भाग खुद हजम कर जाता है। इस कृमि का सिर आंत्र-भित्ति को क्षति पहुँचाता है और उसके बाद जीवाणु हमला बोल दें तो वहाँ अल्सर बन जाते हैं। एक दूसरा फीता कृमि हाइडेटिड (**इकाइनोकॉकस ग्रेनुलोसस**–Echinococcus granulosus) है, जो कि कुत्ते की आँतों में पाया जाता है (चित्र 33.3)। क्योंकि कुत्ते और आदमी का बड़ा साथ रहता है इसलिए यह परजीवी आदमी (खासकर बच्चों) की आँतों में भी पहुँच सकता है, जहाँ से फिर यकृत और फुप्फुसों में भी पहुँच सकता है। इन अंगों में ये गोल-सा पिंड बना लेते हैं जिन्हें **हाइडेटिड सिस्ट** कहते है जो कि कभी-कभी नारंगी के बराबर हो
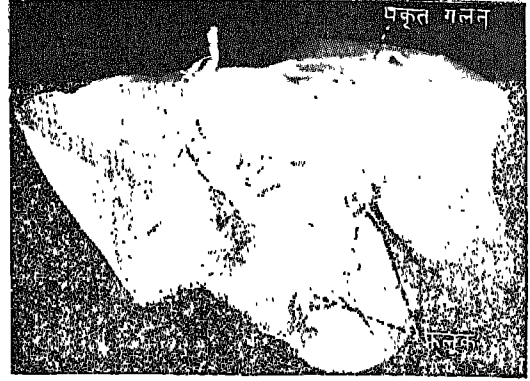
चित्र 33.2 भेड़ का जिगर जो लिवर फ्लूक से संक्रमित है। सौजन्यः ऐल. ऐन. जौहरी प्राणि विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

जाते है। ये संक्रमित अंग को उचित ढंग से कार्य नही करने देते और अक्सर रोगी के लिए घातक सिद्ध होते है। एक और खतरनाक रोग होता है **शिस्टोसोम-रुग्णता** (Schistosomiasis) जो कि छोटे-छोटे रुधिर-पलूक शिस्टोसोम के कारण पैदा होता है (चित्र 33.3)। ये मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के खून में रहते हैं और रुधिर-वाहिकाओं को क्षति पहुँचाकर रक्तस्राव कर देते है। **एंटेरोबियस** (Enterobius) या **पिन कृमि** (चित्र 33.3) नामक एक बहुत छोटा गोल कृमि मनुष्य के मलाशय (rectum) में रहता है। इसकी मादाएँ नीचे गुदा भाग में पहुँचकर अंडे देती हैं और वह. कुलबुलाने की क्रिया से खुजलाहट पैदा कर देती हैं। **ऐंकाइलोस्टोमा** (Ancylostoma) या **हुक वर्म** (चित्र 33.3) मनुष्य की आँतों में रहता है। यह आंत्र-भित्ति की रुधिर-केशिकाओ को फाड़ देता है और उनमें से रक्तस्राव शुरू कर देता है। सामान्य बड़े गोल कृमि **ऐस्कारिस** के कारण बदहजमी, पेट में दर्द और बेचैनी, प्रवाहिका (diarrhoea) और आँतों में सूजन (आंत्र-शोथ) की शिकायतें पैदा हो जाती हैं। यदि कृमियों की संख्या बहुत अधिक हो जाए (चित्र 33.3) तो ये सभी विकार और भी तीव्र हो जाते हैं। फाइलेरिया कृमि (चित्र 33.5A) **श्लीपद या फीलपाँव** (elephantiasis) नामक वह खौफनाक बीमारी पैदा करता हैं,
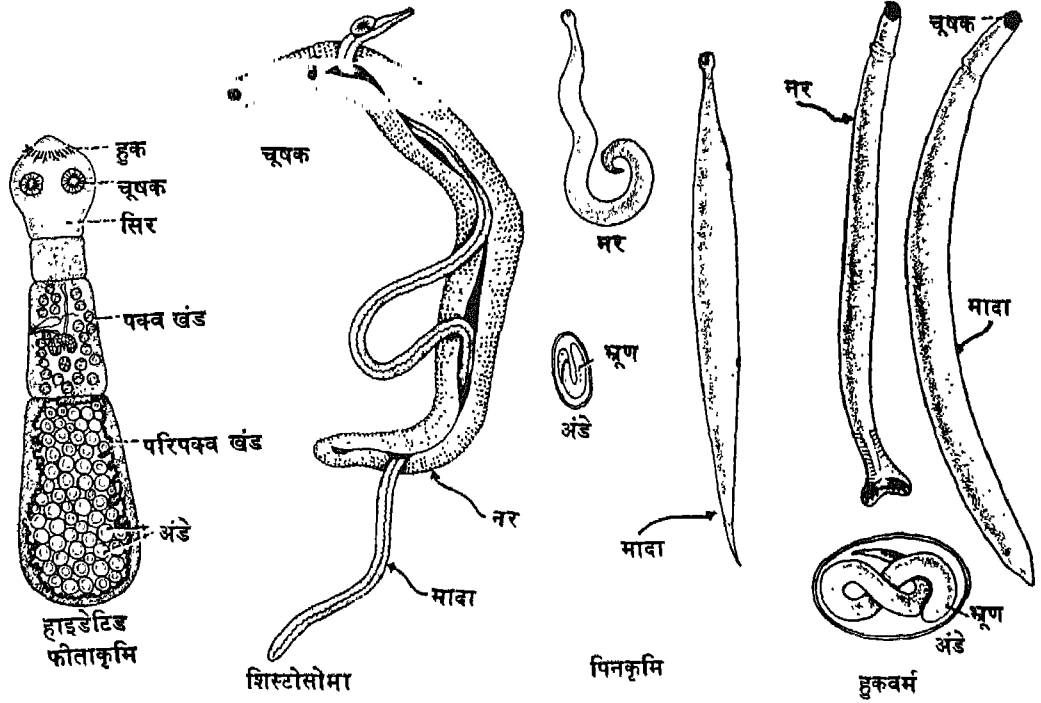
चित्र 33.3 कुछ परजीवी हेल्मिन्थ। हाइडेटिड फीता कृमि (इकाइनोकाकस ग्रेनुलोसस) कुत्ते की आँतों में परजीवी है। इसकी वयस्क देह काफी छोटी होती है, जिसमें सिर के अलावा कुल तीन खंड होते हैं। भेड़ (और कभी-कभी आदमी भी) इसके अंडे निगल लेने पर संक्रमित हो जाता है। अंडों से लार्वा निकलते हैं, जिन्हें हाइडेटिड सिस्ट कहते हैं। शिस्टोसोमा एक चपटा कृमि है जो कि शिस्टोसोमा-रुग्णता पैदा करता है। मादा कृमि पतली होती है और नर के अधर तल पर स्थित दरार में रहती है। पिन कृमि (एंटेरोबियस) छोटा-सा सिलिंडराकार कमि है जो मनुष्य के मलाशय में रहता है। हुकवर्म (ऐन्कीइलोस्टोमा) मनुष्य की आँतों का सामान्य परजीवी निमेटोड है। इन हुकों पर ध्यान दें, जिनकी सहायता से यह आंत्र-भित्ति की रुधिर केशिकाओं को फाड़ देता है।

जिसमें देह का रोगग्रस्त भाग (आमतौर पर टाँगें) बुरी तरह फूल जाती हैं (चित्र 33.5B)। ये कृमि कुछ किस्म के मच्छरों द्वारा फैलाए जाते हैं।

आपने यह तो देखा ही है कि अधिकतर परजीवी हेल्मिन्थ मनुष्य की देह में दूषित आहार के साथ प्रवेश करते हैं। अतः यह बड़ा जरूरी है कि ग्रहण करने से पहले भोजन भली-भाँति पका लिया जाए। जो चीजें कच्ची ही खाई जाएँ, उन्हें अच्छी तरह धो लेना चाहिए और ऐसी होनी चाहिए कि उनमें संक्रमण की कोई संभावना न हो। सौ बात की एक बात यह है कि हमें व्यक्तिगत स्वच्छता और अपने रहने और काम करने की जगह की सफाई का पूरा ध्यान रखना चाहिए।
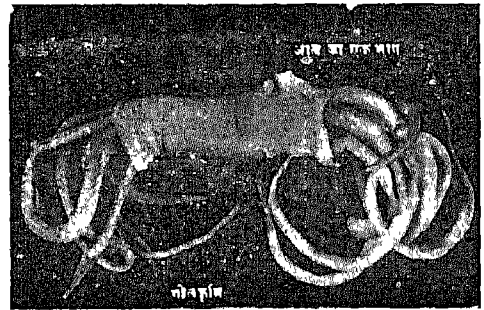
चित्र 33.4 गोल कृमियों से ग्रस्त मानव-आंत्र का एक भाग।
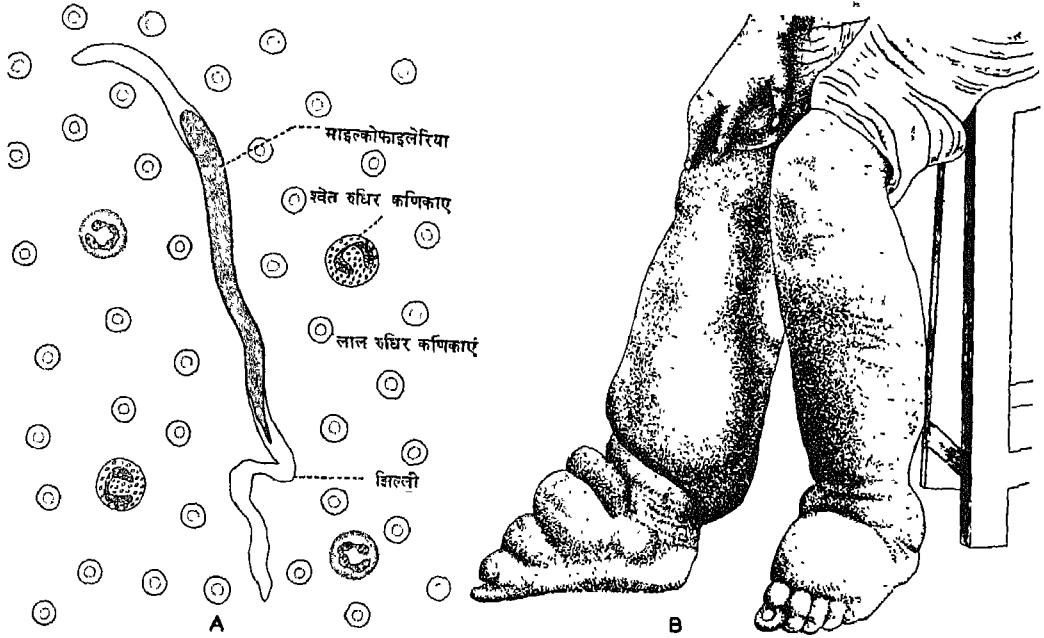
चित्र 33.5 A. मनुष्य के रुधिर में माइक्रोफाइलेरिया (Microfilaria) यह उस परजीवी का लार्वा है जो श्लीपद या फीलपाँव नामक रोग पैदा करता है। ये लार्वा खास तौर से रात में रोगी की त्वचा के ठीक नीचे की रुधिर वाहिकाओं मे रेंगते हैं और कुछ विशेष मच्छरों द्वारा फैलाए जाते हैं।

B. टाँगों में श्लीपद से पीड़ित एक व्यक्ति।

हेल्मिन्थों के परजीवीय अनुकूलन

परजीवी कृमि अन्य जंतुओं के ऊपर या उनकी देह में रहते हैं और इस तरह की जिन्दगी बिताने के लिए उनमें तरह-तरह की विशिष्टताएँ आ जाती है। आमाशय और आँतों के भीतर अनेक पाचक-रस इन्हें पचा न जाएँ इसके लिए इनकी देह पर एक आवरण-क्यूटिकल चढ़ा रहता है। परपोषी की देह में स्वयं को भली-भाँति जमाने के लिए इनमें चिपकने का विशेष अंग होता है, जैसे कि चूषक (लिवर फ्लूक में) या हुक और चूषक (फीता कृमि में)। हमले या बचाव के लिए, चलने-फिरने के लिए इनमें कोई अंग नहीं होता और न ही विशेष ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। पाचन-तंत्र भी बड़ा सरल होता है (फीता कृमि में तो होता ही नहीं), शाखाओं में बँटी हुई आँत्र जिसमें गुदा नहीं होती (लिवर फ्लूक में)। आक्सीजन न मिले तो भी ये श्वसन कर सकते है। जिन कृमियों को अपना जीवन-चक्र पूरा करने के लिए दो परपोषियो की जरूरत होती है, उनकी लार्वा-अवस्थाओं को एक परपोषी से दूसरे में स्थानांतर के समय अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसी-लिए ये कृमि इतने ज्यादा अंडे पैदा करते है कि क्षति की पूर्ति हो जाए।

सारांश

गोल कृमि परजीवी हो सकते है या मुक्तजीवी। इनमें से कुछ पौधो के भूमिगत भागों से जुड़े रहते हैं। गोल कृमि की सिलिंडराकार देह मोटे क्यूटिकल से ढकी रहती है। नर और मादा सेक्स अलग-अलग होते हैं और नर गोल कृमि, मादा से छोटे होते हैं।

इस समूह का सबसे सामान्य सदस्य **ऐस्कारिस लंब्रीकॉइडीज़** मनुष्य की आँतों में होता है। मादा बड़ी तादाद में अंडे देती है जो कि मनुष्य के मल के साथ बाहर निकल आते हैं। तीन सप्ताह के अंदर अंडो से नन्हें कृमि बन जाते हैं। गंदगी में रहने वाले लोग दूषित अन्न-जल ग्रहण करने के कारण ऐस्कारिस के अंडों से संक्रमित हो जाते हैं।

कृमियों की देह मे परजीवी जीवन-यापन योग्य अनेक अनुकूलन दिखाई पड़ते हैं। सारी देह पर मोटे क्यूटिकल का आवरण चिपकने के लिए चूषक और हुक होना, चलने के अंग और ज्ञानेन्द्रियाँ न होना और पाचन-तंत्र की सरलता तथा असंख्य अंडे पैदा करना, ये सभी अनुकूलन है।

मनुष्य समेत सभी घरेलू जंतुओं में हेल्मिन्थ अनेक रोग पैदा करते हैं, ज्यादातर क्षति जिगर या रुधिर-वाहिकाओं को होती है। **ऐस्कारिस** अपच और आंत्र-शोथ पैदा करता है, जबकि **फाइलेरिया** कृमि फीलपाँव पैदा करता है।

प्रश्न

1. निम्नलिखित परजीवी हमारी देह में कैसे प्रवेश करते है—
   फाइलेरिया, फीता कृमि, गोल कृमि, हुक वर्म और लिवर फ्लूक।
2. क्या सर्प और कृमि एक ही फाइलम में वर्गीकृत किए जा सकते है ? स्पष्ट कीजिए।
3. मनुष्य की देह के उन अंगों के नाम बताइए, जिनमे से ऐस्कारिस लार्वा गुजरता है।

अन्य पठनीय सामग्री

बक्सबॉम, आर० 1948, **ऐनीमल्स विदाउट बेकबोन्स**। यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

हैन्सन ई० डी० 1961, **ऐनिमल डाइवर्सिटी**, फाउन्डेशन्स ऑफ मॉडर्न बायोलोजी सीरीज। प्रेन्टिस-हाल, इंको०, इंगेलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी। (जंतु-विविधता—अनु० डा० हरसरनसिह विश्नोई, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, रामनगर, नई दिल्ली)।

हैरिस जे० ई० एंड क्रॉम्पटन, एच० डी० 1958, फेमस ऐनीमल्स-9, दी राउन्डवर्म, **एस्कारिस**। **न्यू बायोलोजी** अंक-27, पृ० 109-127।

34

मोलस्का—कवचधारी प्राणी

मोलस्क कोमल देह वाले, खंडहीन प्राणी हैं, जो प्राय: एक सख्त खोल से ढके रहते हैं। इस कवच के नीचे कोमल त्वचा होती है जिसे **प्रावार** (mantle) कहते हैं। इनकी देह में सिर, आंतरांग और पश्चपाद पहचाने जा सकते हैं। पाचन-तंत्र सुवर्धित होता है, हृदय में तीन कोष्ठ होते हैं और तंत्रिका-तंत्र सुव्यवस्थित होता है। ये समुद्र, अलवणजल और स्थल में रह सकते हैं। एक ही फाइलम आर्थ्रोपोडा ऐसा है जिसमें मोलस्का से अधिक प्राणी होते हैं। जलीय मोलस्क गिलों की सहायता से श्वसन करते हैं, जबकि स्थलीय मोलस्क प्रावार में स्थित फेफड़ेनुमा अंगों से श्वसन करते हैं। हिन्द महासागर में भाँति-भाँति के विलक्षण मोलस्क भरे पड़े हैं। अब हम कुछ दिलचस्प किस्मों से आपका परिचय कराते हैं।

द्विपाटी मोलस्क

कुछ मोलस्क जैसे कि क्लैम, सीपी, मस्ल, शुक्ति और स्कालप (चित्र 34.1) की देह अगल-बगल से दबी हुई होती है, जिसमें आंतरांग-पिंड और एक फाल जैसा पाद होता है। सारी देह दो पाट वाले कवच से ढकी रहती है और कभी-कभी दोनों पाटों के पृष्ठीय किनारे किवाड़ों पर लगे कब्जों की तरह जुड़े होते हैं। पाटों का खुलना और बंद होना एक या दो शक्तिशाली पेशियों द्वारा नियंत्रित होता है। इन प्राणियों में पानी छानने की एक सुदक्ष प्रणाली होती है। एक नली (अंतर्वाही नाल—inhalant siphon) द्वारा जल प्रवेश करता है और मुख की ओर धकेला जाता है जहाँ उसमें मौजूद आहार-कण ग्रहण कर लिए जाते हैं। इसके साथ ही गिलों में पहुँचने पर जल में घुली ऑक्सीजन श्वसन के लिए अवशोषित कर ली जाती है। अंत में यह पानी एक दूसरी नली (अपवाही नाल—exhalant siphon) के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। दोनों नालों (siphons) के द्वार पीछे की ओर पास-पास स्थित होते हैं (चित्र 34.2)। मोलस्क प्राणी अपने आपकी सहायता से कीचड़ पर रेंगते हैं। अलवणजल की सीपी (**लैमेलीडेन्स**—Lamellidens) सबसे अधिक जाना पहचाना द्विपाटी मोलस्क है जो कि हमारी झीलों और नदियों में पाया जाता है।

मुक्ताशुक्ति (**पिंक्टेडा वल्गैरिस**—Pinctada Vulgaris) या इंडियन पर्ल ओयस्टर एक और दिलचस्प द्विपाटी है। यह हमारे यहाँ मनार की खाड़ी और पाक की खाड़ी (Palk Bay) में पाया जाता है। मुक्ताशुक्ति का महत्त्व इसलिए भी है कि उनमें बेशकीमती मोती बनता है। सीप के कवच में अंदर की तरफ चिकनी और रुपहली परत होती है जो कि मुक्ता-सीप (mother-of-pearl) कहलाती है जो यह प्रावार की एपिथीलियमी कोशिकाओं से बनती है। जब कोई छोटा-सा जीव, आम तौर पर कोई परजीवी कवच और प्रावार के बीच में प्रवेश पा जाता है तो प्रावार की एपिथीलियमी कोशिकाएँ उसके चारों ओर मोती बनाने वाले पदार्थ की परत-दर-परत बिठाती चली जाती हैं। धीरे-धीरे ये स्राव गोल मनके की सी शक्ल ले लेता है और मोती कहलाता है (चित्र 34.3)। यह तो हुआ मोती बनने का कुदरती तरीका, पर मोती कृत्रिम रूप से भी बनाए जाते हैं। जापान में
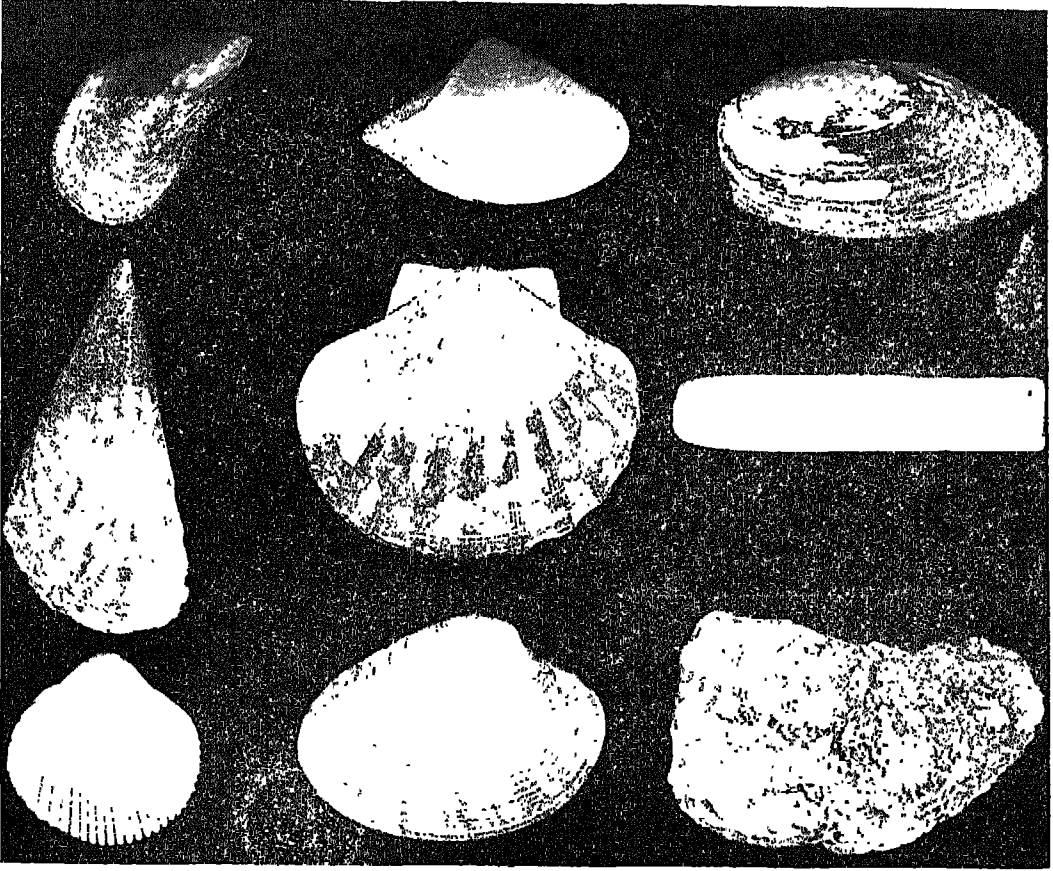
चित्र 34.1 कुछ सामान्य भारतीय द्विपाटी मोलस्कों के कवच।
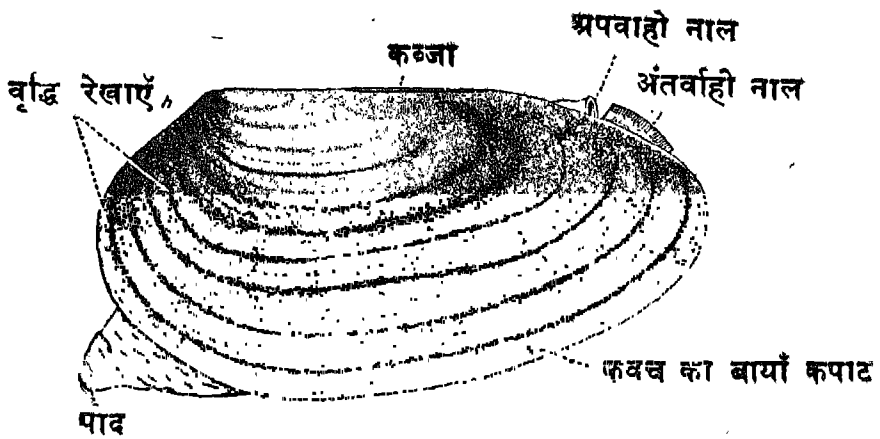
चित्र 34.2 अलवणजल की सीपी (lamellidens) जैसा कि बाईं ओर से दिखाई देता है।

सीप-कवच के बारीक कण सीपियों के अंदर डाल दिए जाते हैं और फिर इन सीपियों को तार के बने पिंजरों में कई सालों तक समुद्र में रखते हैं। इस तरह जो मोती बनते हैं उन्हें "कल्चर-पर्ल" या 'संवर्धित मोती' कहते हैं।

पोतकृमि (टेरेडो-teredo) विनाशकारी द्वि-पाटी मोलस्क है जो कि जहाजों के काष्ठनिर्मित ढाँचे में छेद करके काफी नुकसान पहुँचाता है।

चित्र 34.3 मुक्ताशुक्ति और मोती। सौजन्यः अमेरिक म्यूजियम ऑफ नेचुरल हिस्ट्री, न्यूयार्क।

एक-पाटी मोलस्क

इनमें से अधिकतर मोलस्कों में एक टोपीनुमा कवच होता है जो कि आमतौर पर कुंडलित होता है (चित्र 34.4)। इनके सामान्य उदाहरण घोंघा, स्लग और कौड़ी हैं। अपने चपटे पेशीमय पाद से खिसकते हुए अधिकतर ये प्राणी वनस्पति खाकर निर्वाह करते हैं। एक बड़ा घोंघा—पाइला (pila) तालाबों, झीलों और
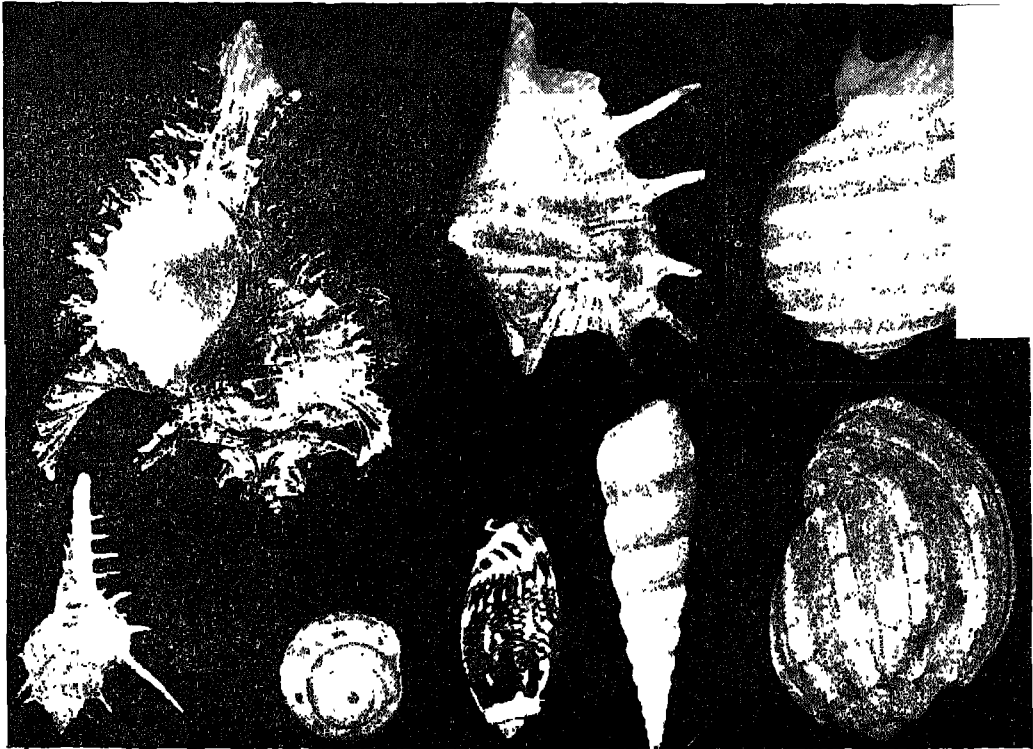
चित्र 34.4 कुछ सामान्य भारतीय एक-पाटी मोलस्क।

खेतों में खूब मिलता है (चित्र 34.5)। इसके सिर में एक मुख होता है, दो जोड़े स्पर्शक होते हैं और एक जोड़ी आँख होती है। यह चपटे पाद से चलता है और (जल में) गिलों तथा (स्थल पर) फेफड़ेनुमा कोश दोनों से ही श्वसन करता है।

अन्य परिचित मोलस्कों में कौड़ियों का नाम उल्लेखनीय है जो कि पहाड़ों और पत्थरों के नीचे छिपे रहते हैं। इनके कवच खूबसूरत और चमकदार होते हैं। छोटी पीली कौड़ी किसी जमाने में सिक्के के रूप में चलती थी (चित्र 34.7)।
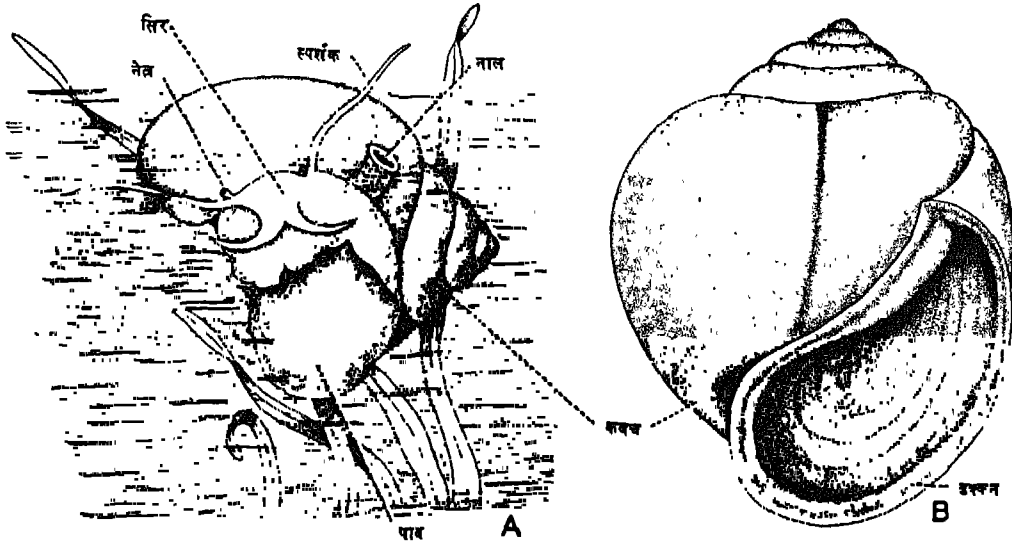
चित्र 34.5 सेबाभ घोंघा (पाइला ग्लोबोसा-Pila globosa) A. अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों में पाद, सिर और फैले हुए स्पर्शक। B. वही घोंघा, अपर तल से देह कवच के भीतर सिकोड़ ली गई है। कवच के द्वार पर ढक्कन लगा रहता है।

स्लग (चित्र 34.6) घोंघे जैसे मोलस्क हैं। ये बागों में खूब मिलते हैं, और पौधों के मुलायम हिस्से खाते रहते हैं। वयस्क स्लग में कवच नहीं होता।

आप में से बहुतों ने मंदिरों में शंख बजते देखा होगा। यह शंख **टर्बीनेला** (turbinella) नामक मोलस्क से प्राप्त होता है। हिन्दू इस प्राणी के कवच को पवित्र मानते हैं क्योंकि भगवान विष्णु के एक हाथ में शंख धारण किए हुए दिखाया गया है। टर्बीनेला आकार में बहुत बड़े होते हैं और हमारे समुद्र तटों के पास के उथले जल में बहुतायत से मिलते हैं। मद्रास राज्य के तिरुनलवेलि, रामनाड, दक्षिण आरकॉट और तंजौर जिलों के पूर्वी समुद्र तटों पर तथा केरल और काठियावाड़ में पश्चिमी समुद्र तटों पर गोताखोर लोग शंख इकट्ठे करते हैं।

सिर-पाद मोलस्क

ये बड़े सक्रिय प्राणी हैं और देखने में दूसरे मोलस्कों से भिन्न होते हैं। सिर बड़ा स्पष्ट होता है, जिसमें सुवर्धित मस्तिष्क और आँखें होती हैं। अनेक चूषकधारी भुजाएँ मुख के चारों ओर सिर के अगले सिरे पर लगी होती हैं। ये भुजाएँ वस्तुतः उस रचना से पैदा हुई जिसकी तुलना अन्य मोलस्कों के पाद से की जा सकती है।

कटलफिश (सीपीया—Sepia) में दस 'भुजाएँ' होती हैं। इनमें से आठ छोटी होती हैं और उनकी सारी लंबाई पर चूषक लगे होते हैं। शेष दो लंबी होती हैं। उनमें सिर्फ़ सिरों पर ही चूषक होते हैं (चित्र 34.8)। कवच आंतरिक होता है जिसे आम बोलचाल में 'समंदर झाग' भी कह देते हैं।

चित्र 34.6 स्थलीय स्लग, वयस्क की कमिवत देह में कवच नहीं होता।

चित्र 34.7 मुद्रा कौड़ी (सिप्रिया-Cypraea)। यह कवच पुराने जमाने में छोटे सिक्के के रूप में चलता था।
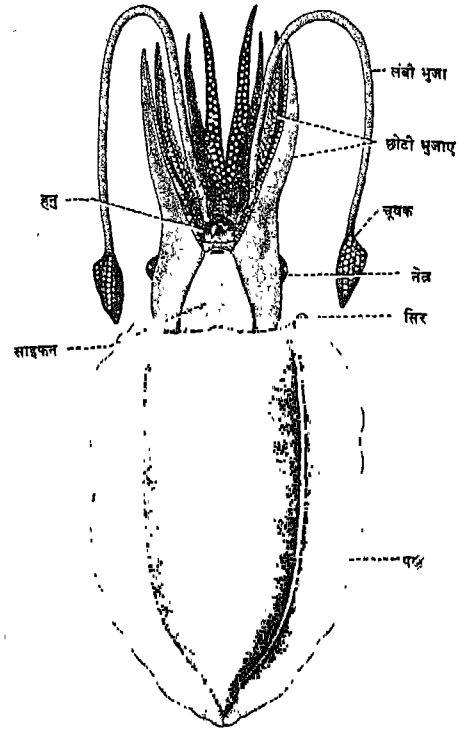
चित्र 34.8 कटलफिश (सीपिया-Sepia)। इसका कवच एक कठोर पट्टी के रूप में प्रावार में धँसा रहता है। प्रावार मोटा और पेशीमय होता है तथा यहाँ कवच की जगह इसीने रक्षा का काम ले लिया है।

अष्टपाद (Octopus) कटलफिश का बुद्धिमान संबंधी है, जिसमें कवच कतई नहीं होता। इसमें आठ समान लंबाई वाली भुजाएँ होती है और दो बड़ी-बड़ी आँखें होती है (चित्र 34.9)। यह रेंग सकता है और तैर भी सकता है, पर ज्यादातर समय समुद्रतल मे शिकार की ताक में तैयार पड़े हुए बिताता है।

आर्थिक महत्त्व

अधिकतर मोलस्क बड़े उपयोगी प्राणी होते हैं, हालाँकि पोतकृमि जैसे कुछ मोलस्क हानिकर भी हैं। कुछ
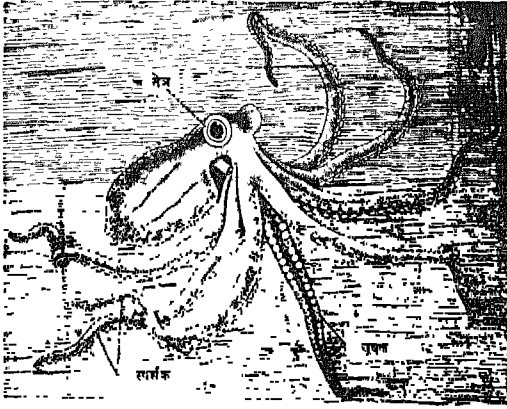
चित्र 34.9 अष्टपाद (ओक्टोपस)। वयस्क प्राणी में कवच नहीं होता। आठ लहराते हुए स्पर्शकों पर स्थित चूषकों की सहायता से यह वस्तुओं को मजबूती से पकड़ सकता है।

द्वि-पाटी तो सारी दुनियाँ में खाए जाते हैं। जापान, यूरोप और अमेरिका में मोलस्कों के संवर्धन के बड़े-बड़े उद्योग है। पाक-खाड़ी मे कटलफिश और अष्टपाद बहुत होते हैं, इसलिए मद्रास राज्य के रामनाड जिले मे भी इन्हें खाया जाता है। सजावट की सामग्री के रूप मे अनेक सुंदर सीपियाँ अच्छे दामों पर बिक जाती है। ये सीपियाँ नेकलेस, ब्रासलेट, कर्णफूल और चूड़ियाँ बनाने में इस्तेमाल की जाती है। मोतिया परत बटन, चाकुओं के हत्थे, ब्रूच, खिलौने और कई तरह की मीनाकारी के काम आती है। कवच चूने के बने होते है, इसलिए कुक्कुटशालाओ में अंडो की पैदावार बढ़ाने के लिए मुर्गियों को दाने में पिसी हुई सीप मिलाकर खिलाई जाती है। मोलस्कों पर आधारित सबसे बड़ा उद्योग मोती बनाने का है।

सारांश

मोलस्क बड़े रोचक प्राणी है। बड़ी विविधता दर्शानेवाले ये प्राणी समुद्र और अलवणजल दोनों में ही पाए जाते है। कुछ किस्में स्थलवासी भी है। इनकी देह कोमल होती है जिसके ऊपर प्रायः चूनामय खोल यानी कवच चढ़ा रहता है। यह कवच या तो एक पल्ले वाला (एक-पाटी) या दो पल्ले वाला (द्वि-पाटी) हो सकता है। कुछ मोलस्क ऐसे भी है जिनमें कवच होता ही नहीं, जैसे कि अष्टपाद और स्लग। सीपियों और मुक्ताशुक्तियों तथा कौड़ियों जैसे अनेक मोलस्क सजावट में और आभूषण बनाने के काम आते हैं। पोतकृमि और स्लग-जैसी किस्में हानिकर हैं।

प्रश्न

1. मोती कैसे बनता है? प्राकृतिक और कृत्रिम मोती क्या है?
2. मोलस्कों के निम्नलिखित भेदों के दो-दो उदाहरण दीजिए: द्वि-पाटी, एक-पाटी, सिर-पाद मोलस्क और वे मोलस्क जिनमें कवच दिखाई नहीं देता।

अन्य पठनीय सामग्री

अज्ञात, 1963, ओयस्टर फार्मिंग। **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग—7, अंक—76, पृ० 1206-1207।

बक्सबाम, आर० 1948, **ऐनीमल्स विदाउट बेकबोन्स**। यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

हैन्सन, ई० डी० 1961, **ऐनीमल डाइवर्सिटी**: फाउन्डेशन्स ऑफ मोडर्न बायोलोजी सीरीज़। प्रेन्टिस-हाल, इको० इंगेलवुड, क्लिफ्स, न्यू जर्सी। (जंतु-विविधता—अनु० डॉ० हरसरन सिंह बिश्नोई, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, रामनगर, नई दिल्ली)।

35

ऐनेलिडा—सखंड कृमि

ऐनेलिड प्राणियों की द्वि-पार्श्व सममित देह अनेक खंडों मे बँटी हुई होती है। इसमें से अधिकतर प्राणियों में सुवर्धित देह-गुहा होती है। आहार-नाल एक सीधी नली के रूप में होती है, जिसके एक सिरे पर मुख और दूसरे सिरे पर गुदा होता है। उत्सर्जन का कार्य कुछ विशेष कुंडलित नलिकाकार अंगों द्वारा किया जाता है जिन्हें **वृक्कक** (nephridium) कहते हैं। रुधिर वाहिकाएँ और सुवर्धित शिराएँ होती हैं। स्वयं देह-भित्ति ही गैस-विनिमय का कार्य करती है। ये प्राणी उभयलिंगी होते हैं। सुपरिचित केंचुए और जोंक इसी वर्ग में आते हैं। इनके अलावा दूसरे अनेक प्राणी समुद्र में निवास करते हैं।

फेरेटिमा–सामान्य केंचुआ

केंचुए यों तो नम मिट्टी में छिपे रहते है पर वर्षा ऋतु में जब कभी भी नमी होती है तो वे बाहर आकर विचरने लगते हैं। इसकी देह लंबी (10-20 सेंटीमीटर) और सिलिंडराकार होती है जिसमें 80 से ले कर 100 तक खंड होते हैं (चित्र 35.1)। पूर्णवर्धित केंचुए में तीन खंडों (14 से 16) की जगह घेरे हुए एक वृत्ताकार पट्टी होती है जिसे **पर्याणिका** (Clitellum) कहते हैं। पहले और आखिरी खंड को छोड़ कर सभी खंडों में छोटी और मुड़े हुए काइटिनी शूक (setae) होते हैं, जो कि चलन में सहायता करते हैं।

किसी केंचुए की देह को काट कर देखें तो पता चलता है कि इसमें एक नली के अंदर दूसरी नली वाली व्यवस्था होती है (चित्र 35.2)। बाहरी नली तो देह-भित्ति है और आंतरिक नली पाचन-मार्ग है। दोनों के बीच में काफी खुली देह-गुहा (coelome) है जिसमें एक द्रव भरा होता है और जो अनेक अनुप्रस्थ पटों द्वारा कक्षों में बँटी होती हैं—प्रत्येक पट बाहर के खंडों का प्रतिनिधित्व करता है।

अपनी पेशीमय ग्रसिका (pharynx) की क्रिया से केंचुआ मिट्टी निगल लेता है। यहाँ से चलकर मिट्टी एक पीसने वाले अंग—गिज़र्ड (gizzard) में आती है। मिट्टी के कणों के साथ-साथ पत्तियों के सड़े-गले अंश भी बारीक पिस जाते हैं और फिर यह सारे का सारा पिंड आंत्र में पहुँचता है, जहाँ इसमें वर्तमान खाद्य सामग्री पचाकर सोख ली जाती है। अब पचा अंश गुदा से छोटी-छोटी बीट की शकल में बाहर निकल जाता है।

रुधिर-संवहन तंत्र सुवर्धित होता है। रुधिर में केवल श्वेत कोशिकाएँ होती हैं और लाल वर्णक (pigment) प्लाज्मा में घुला रहता है। त्वचा में गैस-विनिमय के द्वारा श्वसन होता है। केंचुए की त्वचा नम रहती है और उसमें सूक्ष्म रुधिर-कोशिकाओं का जाल बिछा रहता है। उत्सर्जन विशिष्ट कुंडलित नलिकाओं के द्वारा होता है, जिन्हें **वृक्कक** (nephridium) कहते हैं। वृक्कक लगभग सभी खंडों में बहुतायत में होते हैं। तंत्रिका-तंत्र में एक तंत्रिका-वलय होता है जो फेरिंक्स को घेरे रहता है और एक तंत्रिका-रज्जु (nerve cord) होता है जो पाचन-मार्ग के नीचे इस कृमि की पूरी लंबाई में स्थित होती है (चित्र 35.2)। प्रत्येक खंड में तंत्रिका-रज्जु एक गाँठ-सी बनाता है (ganglion या गुच्छिका) जिससे निकट स्थित भागों के लिए

चित्र 35.1 केंचुए का बाह्य रूप।

चित्र 35.2 विच्छेदित केंचुए का रेखाचित्र जिसमें आंतरिक अंग दिखाए गए हैं। इस कृमि को पृष्ठ-तल से चीरा गया है।

तंत्रिकाएँ फूटती हैं। केंचुए में कोई विशेष ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं होतीं, बल्कि देह-भित्ति की कुछ कोशिकाएँ स्पर्श के उद्दीपन के प्रति संवेदनशील हैं। देह के अग्र-भाग में कुछ कोशिकाएँ प्रकाश के प्रति संवेदनशील हैं।

केंचुए उभयलिंगी होते हैं पर उनमें स्व-निषेचन नहीं होता, क्योंकि वृषण और अंडाशय एक ही समय में पक्व नहीं होते। मैथुन के समय (चित्र 35.3) एक कृमि के शुक्राणु दूसरे के अंडाशय में और दूसरे के शुक्राणु पहले के अंडाशय में पहुँचते हैं। अंडे देने के समय पर्याणिका (clitellum) से एक आवरण **कोया** (cocoon) स्रवित होता है जो कि अंडों को अंदर बंद कर लेता है (चित्र 35.4 A)। पूरा का पूरा पिंड (कोया सहित अंडे) देह से

ढीला होकर खिसकते-खिसकते अंत में मिट्टी में आ गिरता है (चित्र 35.4 B से E)।

केंचुओं में पुनरुद्भवन की अद्भुत क्षमता होती है। अगर कोई कृमि टूटकर दो या तीन टुकड़ों में बँट जाए, तो उनमें से प्रत्येक बढ़कर पूर्ण केंचुआ बन सकता है
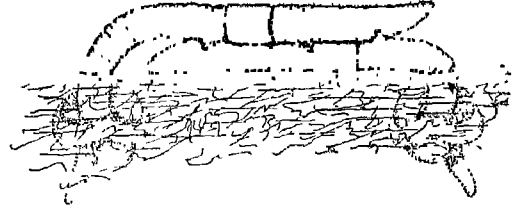
चित्र 35.3 केंचुओं में मैथुन। इस प्रक्रम में दो केंचुओं के अग्रभाग बिल में से बाहर निकलकर एक दूसरे के निकट पहुँचते हैं और अधरतल की ओर से साथ-साथ आ जाते हैं। शुक्राणु का विनिमय जनन-द्वारों में से होता है।
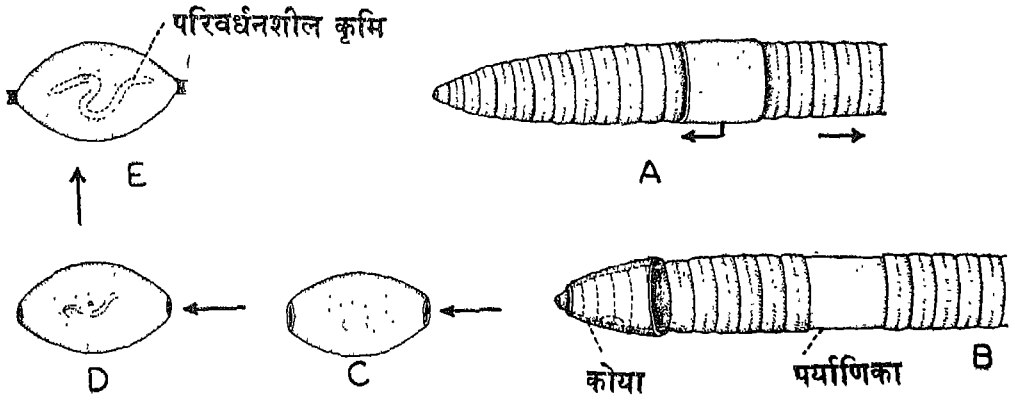
चित्र 35.4 केंचुए में अंडे देने और निषेचन की विधि। पर्याणिका से एक श्लेष्मी पदार्थ निकलता है जो सख्त होकर कोया बनाता है। जब केंचुआ इसमें होकर अपनी देह को पीछे की ओर सिकोड़ता है तो ये आगे खिसकता है। इस क्रिया के दौरान अंडे और शुक्राणु अपने-अपने जनन द्वारों से कोया में आ जाते हैं। प्रत्येक कोया में एक जीव परिवर्धित होता है।

केंचुए का महत्त्व

कम ही लोग महसूस करते होंगे कि कृषि के लिए केंचुओं का कितना भारी योगदान है। अपनी मिट्टी में छेद करने की क्रिया द्वारा वे मिट्टी को ढीली करके इतनी मुलायम बना देते है कि उनमें पौधों की जड़ें बड़ी आसानी से गहरे में बढ़ जाती है। यही नहीं, बल्कि वे मिट्टी को बराबर गडमड करते रहते हैं जिससे कि गहराई की परतें ऊपर सतह पर आ जाती हैं। पाचन के समय वे मोटे कणों को पीसकर बारीक पाउडर बनाकर अपनी बीट की शक्ल में छोड़ देते हैं।

जोंक–परजीवी ऐनेलिड

जोंक अलवण जल, नम मिट्टी और उन तालाबों में पाई जाती है, जिनमें जानवर आकर लोट लगाते हैं। जब किसी जोंक को भूख लगती है तो यह किसी जानवर (आमतौर पर गाय-भैंस आदि पशु) की देह से चिपक कर अपने तेज़ जबड़ों से खाल काट लेती है (चित्र 35.5)।

फिर यह खून चूसना शुरु कर देती है। यह खून उसकी आहारनाल में स्थित संग्रह कोश में भरता जाता है। यही कारण है कि जोंक बाह्य परजीवी मानी जाती है किसी जमाने में गाँवों में ओझा वगैरह अपने मरीजों के घावों से खराब खून निकालने के लिए जोंक का इस्तेमाल करते थे।
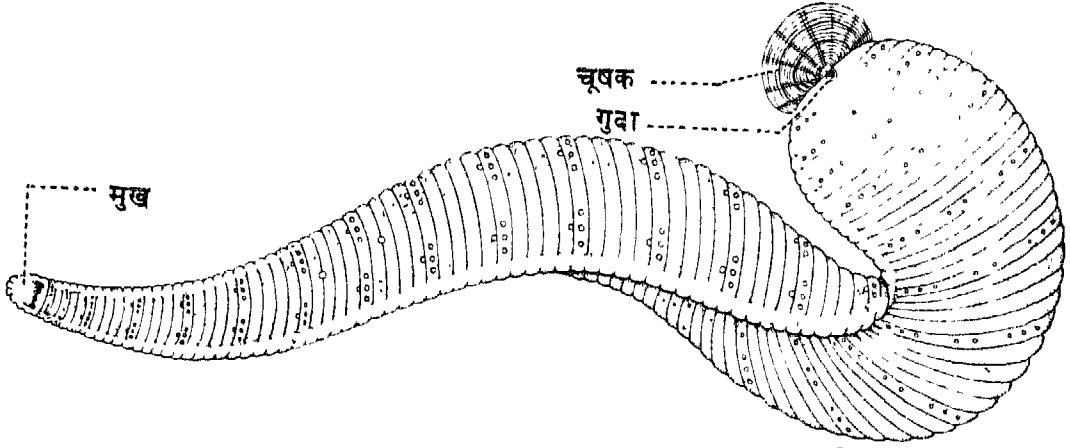
चित्र 35.5 सामान्य जोंक (हीरुडिनेरिया-Hirudinaria) इसकी चपटी, लचीली देह 5-10 से० मी० लंबी और गहरे या भूरे-हरे रंग की होती है। बरसात के दिनों में यह आमतौर पर तालाबों में या गीली मिट्टी पर नजर आती है।

सारांश

ऐनेलिड खंडमय देह वाले कृमि हैं। इनकी देह में एक सरल नलिकाकार आहार-नाल है, जिसकी बनावट कुछ कृमियों में उनकी आहार-विधि के अनुसार बदली होती है। रुधिर विशिष्ट वाहिकाओं की एक श्रृंखला में बहता है। उत्सर्जन वृक्ककों द्वारा होता है।

सामान्य केंचुआ—**फेरेटिमा** नम मिट्टी में रहता है। इसकी सिलिंडराकार देह में 80 से 100 तक खंड होते हैं जिसके अधरतल में शूक (setae) लगे होते हैं। ये शूक या सीटा चलन-क्रिया में सहायता करते हैं। इनकी देह 'नली के भीतर नली' वाले नमूने पर बनी होती है। दोनों नलियों के बीच की जगह देह-गुहा में एक तरल भरा रहता है। केंचुआ मिट्टी में मौजूद जैव सामग्री का आहार करता है। मिट्टी बाद में बीट की शक्ल में बाहर निकल जाती है।

रुधिर-संवाहन-तंत्र भली-भाँति विकसित होता है। रुधिर में केवल श्वेत कोशिकाएँ होती है और लाल वर्णक स्वयं प्लाज्मा में घुला रहता है। गैस विनिमय त्वचा के द्वारा होता है। तंत्रिका-वलय, तंत्रिका-रज्जु और तंत्रिका-गुच्छिका, ये तीनों मिलकर तंत्रिका-तंत्र बनाते हैं। हालाँकि केंचुए उभयलिंगी होते हैं, पर एक कृमि के अंडों का निषेचन हमेशा दूसरे कृमि के शुक्राणु करते हैं।

खेती में केंचुओं का बड़ा महत्त्वपूर्ण योग है, क्योंकि ये मिट्टी को मुलायम बनाकर उसकी गहरी परतों को सतह पर ले आते हैं। जोक बाह्य परजीवी है, जो कि पशु और मनुष्य का खून चूसती है।

प्रश्न

1. केंचुए के पाचन-तंत्र में आपको कौन-कौन-सी विशेषताएँ दिखाई दीं ?
2. किसी केंचुए का खून आपके खून से किस बात में भिन्न है ?
3. जोंक द्वारा बनाए गए घाव में से बहने वाले खून में थक्के जल्दी नहीं जमते। क्यों ?
4. केंचुओं को कभी-कभी 'कुदरती हलवाहा' क्यों कह देते हैं ?

अन्य पठनीय सामग्री

फेरी, आर० एच० 1951, अर्थवर्म एंड दॉ सॉइल। डिस्कवरी, भाग–12, पृ० 128-129।

रूट्स, बी० आई० 1956, फेमस ऐनीमल्स—7, दॉ अर्थवर्म। न्यू बायोलोजी, अंक—21, पृ० 102-118।

36

आर्थ्रोपोडा—संधिपाद प्राणी

यह प्राणियों का बहुत बड़ा और रोचक समूह है, जिसमें तिलचट्टा, मकड़ी, केकड़ा और कनखजूरा जैसे तरह-तरह के जीव शामिल हैं। पहली नजर में तो आपको लगेगा इन प्राणियों में देह-रचना की कोई समान मिलती-जुलती योजना नहीं है, लेकिन ध्यान से देखने पर आप पाएँगे कि हर प्राणी की देह पर एक लचीले पदार्थ **काइटिन** का बना कड़ा आवरण (बाह्य कंकाल) है। अधिकांश प्राणियों की देह खंडों में बँटी होती है और उनके पादों (limbs) में कई स्पष्ट जोड़ होते हैं, इसीलिए इनका नाम संधिपाद या आर्थ्रोपोडा (ग्रीक, **आर्थ्रोन**-संधि, **पोडॉस**-पाद) पड़ा।

जंतुजगत में जितनी भी स्पीशीज़ हैं उनमें से तीन चौथाई से भी ज्यादा संधिपाद हैं। संसार के हर कोने में और हर जलवायु में ये प्राणी पाए जाते हैं। इनमें से कुछ हमारे लिए उपयोगी है, तो कुछ हानिकर भी हैं। संधिपादों को हम चार प्रमुख वर्गों में बाँट सकते हैं: झींगा-समूह (crustacea), कांतर-समूह (myriapoda), मकड़ी-समूह (arachnida) और कीट-समूह (insecta hexapoda)।

क्रस्टेशिया

झींगा, क्रेफिश, लॉब्स्टर, केकड़े और जल-पिस्सू (water fleas) क्रस्टेशिया वर्ग के सामान्य उदाहरण हैं। इन सभी में एक पपड़ीनुमा (crust like) बाहरी कंकाल होता है जो बढ़ती हुई देह को भीतर समाने के लिए समय-समय पर उतरता रहता है और उसकी जगह नया बनता रहता है। इसी को **निर्मोचन** (moulting) कहते हैं। खंडयुक्त देह में तीन भाग होते हैं: सिर, वक्ष और उदर। पहले दोनों भाग आमतौर पर साथ-साथ जुड़कर **शिरोवक्ष** (cephalothorax) बनाते हैं जिस पर दो जोड़े लंबे स्पर्शक लगे है।

आप में से बहुतों ने सामान्य भारतीय झींगा जरूर देखा होगा (चित्र 36.1) जिसे कुछ लोग बड़े चाव से खाते हैं। यह अलवण जल की झीलों में या ज्वारनदमुखों (estuaries) में पाया जाता है। इसकी देह लंबूतरी होती है। शिरोवक्ष एक बड़े से परिरक्षक (shield) से ढका होता है और नेत्र चलायमान वृंतों पर लगे होते हैं प्रत्येक नेत्र असंख्य छोटी-छोटी इकाइयों से बना होता है। इसलिए इन्हें यौगिक कहा जाता है। उदर कुछ-कुछ झुका होता है और उस पर नुकीला पुच्छ-भाग लगा होता है। इसके अलावा उपांगों के कई जोड़े होते हैं जो स्थिति और कार्य में एक दूसरे से भिन्न हैं।

क्रेफिश और लॉब्स्टर (चित्र 36.1) झींगा-जैसे ही हैं। क्रेफिश अलवणजल में रहते हैं जब कि लॉब्स्टर समुद्र-वासी हैं। इनमें से बहुत-सी किस्में खाई जाती हैं।

केकड़ों (चित्र 36.2) की देह चौड़ी है और नखर मजबूत होते हैं। इनकी देह कवच-जैसे आवरण में सुरक्षित रहती है। कुछ केकड़े रंग-बिरंगे भी होते हैं। छोटा-सा उदर शिरोवक्ष के नीचे काफ़ी मुड़ा होता है। एक दिलचस्प बात यह है कि केकड़े सिर के सामने चलने की बजाय अगल-बगल चलते हैं। कुछ केकड़े समुद्री घोंघों के खाली कवचों में
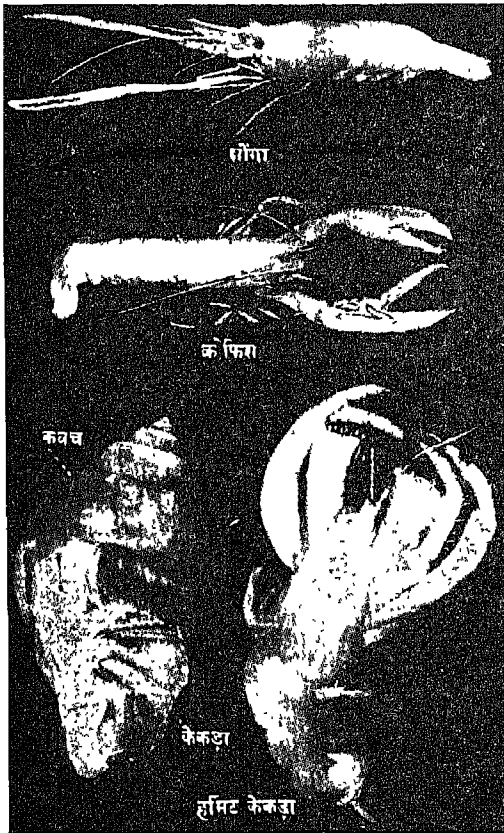
चित्र 36.1 कुछ सामान्य बड़े क्रस्टेशियन।

रहते हैं। इन्हें हर्मिट क्रैब कहते हैं (चित्र 36.1) जो अपना घर अपने साथ उठाए-उठाए फिरते हैं।

कुछ क्रेस्टेशिया प्राणी बहुत छोटे होते हैं। किसी तालाब के रुके हुए पानी की एक बूंद लेकर सूक्ष्मदर्शी में देखें तो अनेक सूक्ष्म क्रस्टेशिया दिखाई देंगे। इनमें सबसे आम हैं जलपिस्सू **डैफ्निया** (Daphnia) और **साइक्लॉप्स** (चित्र 36.3)। यदि आप सूक्ष्मदर्शी में किसी जीवित डैफ्निया को देखें तो इसका धड़कता हुआ हृदय पारदर्शी आवरण में से साफ झलकता है। **साइक्लॉप्स** की देह लंबूतरी है और पूँछ बीच से दो हिस्सों में बँटी होती है चिमटी की तरह। इसकी मादा में देह के पिछले सिरे पर आमतौर पर एक जोड़ी अंडाशय निकले होते हैं। ये जीव मछलियों के चारे की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।
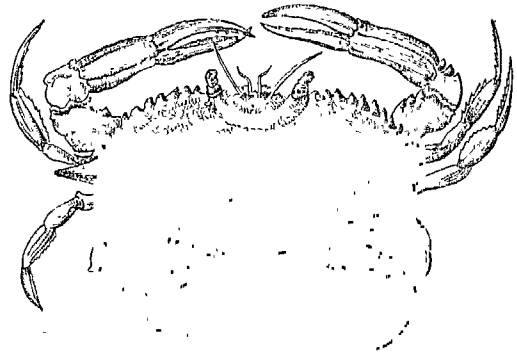
चित्र 36.2 अमली केकड़ा। लंबे वृंतों पर लगी आँखों पर ध्यान दीजिए।

मिरियापोडा (बहुपाद प्राणी)

इस वर्ग में सहस्रपाद (millipedes) और शतपाद (centipedes) आते हैं (चित्र 36.4)। सहस्रपाद खासतौर से वर्षा काल में पाए जाते हैं। गहरे भूरे रंग के 2-3 से० मी० लंबे उन सिलिंडराकार प्राणियों को आपने अवश्य देखा होगा जो कि बागों वगैरह में मजे से विचरते हैं (बोलचाल की भाषा में इन्हें गिजाई कहते हैं)। ये जमीन पर पड़े लट्टों और पत्थरों के नीचे नम मिट्टी मे रहने के आदी होते हैं। किसी सहस्रपाद को छू दो तो वह गुड़ीमुड़ी हो जाता है। क्या कभी आपने इनकी टाँगें गिनने का प्रयत्न किया है? सहस्रपाद या मिलीपीड (लैटिन, **मिले**-सहस्र, **पोडॉस**-पाद) नाम से तो लगता है कि एक हजार होंगी, पर वास्तव में लगभग सौ जोड़ी टाँगें होती है। किसी गिजाई की देह मे दिखाई पड़ने वाले प्रत्येक खंड मे वस्तुतः दो खंड जुड़े होते है, इसलिए ऐसा लगता है जैसे एक खंड के साथ दो जोड़ी टाँगें लगी हैं। इसी कारण से इन प्राणियों को डिप्लोपोडा (diplopoda) यानी 'द्विगुणपादी प्राणी' कहा जाता है। सहस्रपाद प्राणियों की स्पीशीज बहुत है और सारी दुनिया में फैली हुई हैं। कुछ बड़े होते हैं जिनमें टाँगों के लगभग 200 जोड़े होते हैं। सभी सहस्रपाद धीमे-धीमे रेंगने वाले, अहानिकर प्राणी हैं। ये शाकाहारी होते हैं।

शतपादो की देह कुछ-कुछ चपटी होती है, जिसमें 50 से ले कर 100 खंड होते है। आखिरी दो खंडों को छोड़कर
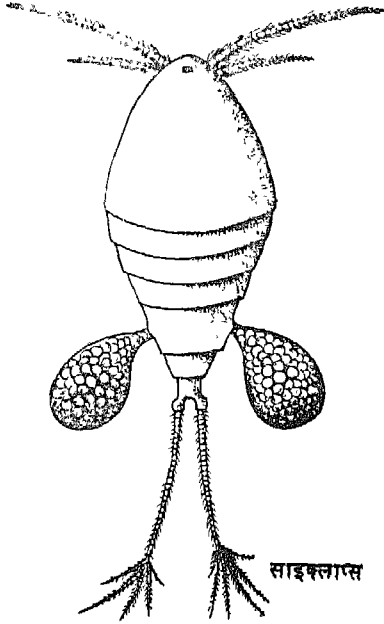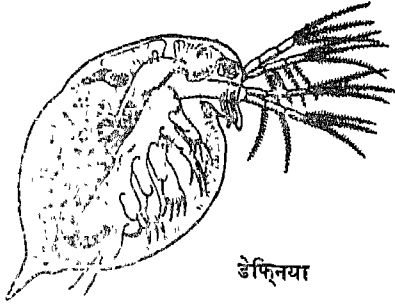
चित्र 36.3 दो छोटे क्रस्टेशियन जिन्हें जल-पिस्सू कहते हैं। ये मछलियों के आहार के महत्वपूर्ण भाग हैं।

प्रत्येक में टाँगों के दो जोड़े होते हैं। सिर पर दो स्पर्शक और एक जोड़ी विष-नखर लगे होते है जिन्हें छोटे प्राणियों को मारने के लिए काम में लाया जाता है। शतपाद तेजी से दौड़ते हैं और आमतौर पर उन्हें पकड़ना कठिन होता है। एक स्पीशीज़ जिसे उत्तर भारत में कनखजूरा बोलते हैं, कोई 15 से० मी० लंबी होती है। इसको यह नाम इसलिए दिया गया है कि लोग सोचते हैं कि ये सोते हुए आदमी के कान में घुस जाते हैं। यह सिर्फ वहम है।
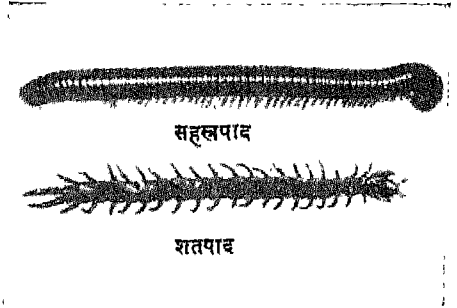
चित्र 36.4 बहुत-सी टाँगों वाले आर्थ्रोपोड। तेज गति के कारण उनमें जितनी टाँगें हैं उनसे ज्यादा मालूम पड़ती हैं।

ऐरेक्निडा (मकड़ियाँ और उनके संबंधी)

मकड़ियाँ, बिच्छू, चीचड़ (ticks) और किलनियाँ (mites) इस वर्ग के प्राणियों के सामान्य उदाहरण हैं (चित्र 36.5)। ऐरेक्निडा अधिकतर तो स्थल पर ही मिलते हैं, पर कुछ समुद्र में भी होते हैं। चीचड़ और किलनी समूह के प्राणी परजीवी होते है। चार जोड़ी टाँगों को देखकर आप पहचान सकते हैं कि अमुक प्राणी ऐरेक्निड है। इसके अतिरिक्त इनमें मुख के निकट दो बड़े पश्चस्पर्शक या पेडीपाल्प (pedipalpi) और एक जोड़ी कीलिसेरा (chelicerae) होते हैं, जैसे कि बिच्छू में। सिर और वक्ष जुड़कर शिरोवक्ष बनाते है। नेत्र, यदि हों तो सरल होते हैं।

बिच्छू तो हर कहीं मिलते हैं। भारत में इनकी अनेक स्पीशीज मिलती है। विष एक ग्रंथि में से निकलता है जो कि उदर के कुछ-कुछ ऊपर की ओर मुड़े फूले सिर में स्थित होती है। यह नुकीला डंक मारकर ही बिच्छू अपने शिकार की देह में विष पहुँचाता है। आगे की ओर निकले बड़े-बड़े पेडीपाल्प देखने में भले ही भयंकर लगें, पर उनमें जहर नहीं होता। ये केवल शिकार पकड़ने के काम आते है। अधिकांश आर्थ्रोपोडों के विपरीत बिच्छू बच्चे जनता है अर्थात् (जरायुज–viviparous) होता है।

मकड़ियाँ घरों में, बागों में और पेड़ों पर अकसर ही मिलती हैं। इनमें से अधिकतर एक तरह का जाला बुनती
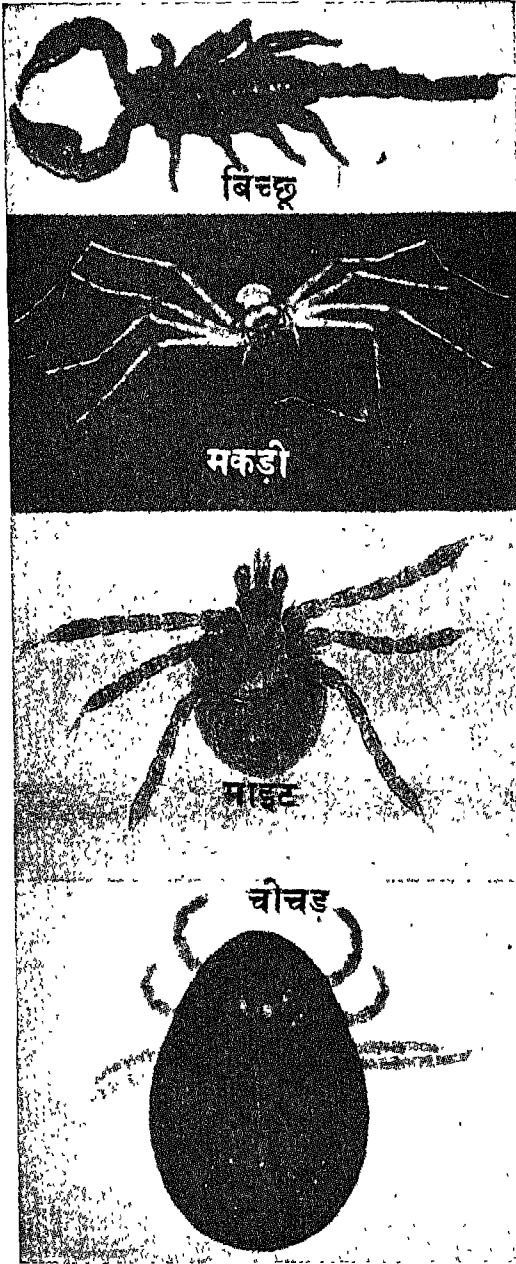
चित्र 36.5 कुछ सामान्य ऐरेक्निड। बिच्छू में उदर के सिरे पर एक डंक होता है। चीचड़ और माइट इस बात में अन्य ऐरेक्निडों से भिन्न होते हैं कि उनकी देह में शिरोवक्ष और उदर का विभाजन स्पष्ट नहीं होता।

है, जिसे छोटे-छोटे कीट या दूसरे किसी शिकार को फँसाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। देह के फूले हुए पश्चभाग में स्थित रेशम-ग्रंथियों (slik-glands) में पैदा होने वाले एक द्रव पदार्थ से जाला बुना जाता है। यह द्रव देह की तली में स्थित तीन बारीक अंगुलीनुमा **तंतु-ग्रंथियों** (spinnerets) से बाहर निकलता है। तंतु-ग्रंथि से द्रव उच्च दाब पर छोड़ा जाता है जो कि निकलते ही सख्त होकर धागा बन जाता है। जब कोई कीट जाले के धागे पर बैठता है तो कंपन मकड़ी तक पहुँच जाते हैं। बस, तुरंत ही मकड़ी जाले से बाहर आकर कीट के पास पहुँचती है और बड़ी तेजी से अपने शिकार के चारों ओर चक्कर काटकर उसकी देह को जाले में फँसा देती है। फँसा हुआ प्राणी छूटने के लिए छटपटाता है, पर वह निकल नहीं पाता और वहीं उसका दम घुट जाता है। तब मकड़ी मृत कीट की देह का सारा रस पी जाती है और कंकाल जाले में लटका छोड़ देती है। कुछ मकड़ियाँ (जैसे कि वुल्फ स्पाइडर) जाला नहीं बुनतीं, बल्कि सिर्फ एक धागा निकालती है, जिसके सहारे वह लटकती है। कुछ में विष ग्रंथि भी होती है। इस वर्ग का ग्रीक भाषा का नाम ऐरेक्निडा (ग्रीक, ऐरेक्ने=मकड़ी) वास्तव में मकड़ियों का जाला बनाने वाली क्रिया के आधार पर ही पड़ा है। यूनानी गाथाओं में ऐरेक्ने कोई कुशल बुनकर मानी गई है जिसने इस कला में मिनर्वा (बुद्धि की देवी) को भी मात दे दी। इस पर नाराज होकर देवी मिनर्वा ने ऐरेक्ने को मकड़ी बना दिया।

किलनी और चीचड़ प्रायः मनुष्य तथा अन्य जंतुओं पर परजीवी होते हैं। किलनी आमतौर पर बहुत छोटी होती है, कभी-कभी इतनी छोटी कि सूक्ष्मदर्शी के बिना दिखाई न दें। किलनी की एक किस्म को खुजली किलनी कहा जाता है (खाज-खुजली पैदा करने वाली)।

यह मनुष्य की त्वचा पर रहती है और उसमें छेद करके अंडे देती है। जब इन अंडों में नन्हीं किलनियाँ निकलकर चारों ओर चक्कर लगाना शुरू करती हैं, तो खुजली पैदा होती है। इसी की एक स्पीशीज़ कुत्तों और पशुओं में यही रोग पैदा करती है। कुछ किलनियाँ पौधों पर भी रहती हैं। चीचड़, किलनी से बड़े होते हैं और इनकी देह कुछ-कुछ फूली हुई सी होती है। प्रायः पशुओं और कुत्तों की देह पर

चीचड़ चिपटे नजर आते हैं, जो कि खासतौर से कान पर लगे-लगे खून चूसते रहते हैं। कुछ आदमी को भी शिकार बना लेते हैं। और उसमें कुछ रोग पैदा करते हैं। कुछ चीचड़ ऐसे भी हैं जो परजीवी नहीं होते और मुक्त-चारी है, जैसे कि लाल रंग की खूबसूरत मखमली देह वाली बीरबहूटी 'राम की गुड़िया' जो बरसात में अकसर दिखाई पड़ जाती है। चीचड़ और किलनी मे देह बाहर से खंडों या हिस्सों में नही बँटी होती (चित्र 36.5)।

इन्सेक्टा (कीट)

कीट शब्द से भला कौन परिचित न होगा। आप अकसर किसी भी छोटे प्राणी को देखकर उसे कीट या कीड़ा कह देते हैं, पर वास्तव मे कीट वह प्राणी है जिसमें सधियुक्त टाँगों के तीन जोड़े हों, यानी कुल छ: टाँगे हों और जिसकी देह तीन भाग—सिर, वक्ष और उदर में बँटी हो (चित्र 36.6)। आमतौर पर इसमें दो जोडी पंख होते हैं। सिर पर एक जोड़ी लंबी **शृंगिकाएँ** (antennae) होती है, संयुक्त नेत्र होते है और मुख द्वार को घेरे हुए मुखांगों का समूह होता है। कीट विशेष की आहार-विधि के अनुसार मुखांग रूपांतरित होते है। वे काटने वाले, बेधने वाले या चूसने वाले हो सकते हैं।
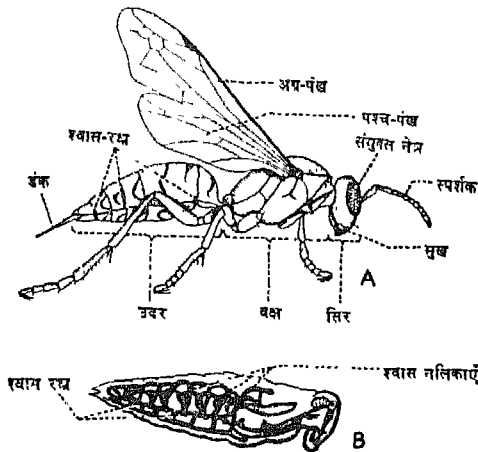
चित्र 36.6 कीट देह के भाग A. एक सामान्य कीट—बर्र के बाहरी हिस्से B. कीट के श्वास-रंध्र (spiracle) और श्वसन-नलिकाएँ। सौजन्य: एस० एस० सहगल, प्राणि-विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

कीटों की कोई दस लाख स्पीशीज़ मिलती हैं। चाहे बर्फ से ढके पहाड़ हों, या तेज़ धाराएँ हों, झील हों या समुद्र हों, या फिर तपते हुए रेगिस्तान हों, हर प्रकार की वनस्पति के ऊपर या उसके आसपास यहाँ तक कि खेत-खलिहान से लेकर बीज गोदाम तक में कीट पाए जाते है। कुछ मनुष्य, पशु तथा अन्य जंतुओं पर परजीवी की भाँति विहार करते हैं। वस्तुत: कीट विविध परिस्थितियों में रहने के लिए भली-भाँति अनुकूलित होते हैं।

लेन्स से देखने पर नेत्रों में छोटे-छोटे अनेक षट्कोणीय क्षेत्र या फलक (facet) दिखाई देते हैं (चित्र 36.7)। प्रत्येक फलक पारदर्शी लेन्स है जो प्रकाश की किरणों को उस संवेदनशील रचना पर फोकस कर देता है जो कि मानव-नेत्र के रेटिना से तुलनीय है। बिम्ब अनेक बँटे हुए प्रतिबिम्बों के रूप में दिखाई देता है, जिनकी संख्या उतनी ही होती है जितने कि फलक हैं। इस तरह की दृष्टि को **मोज़ैक दृष्टि** (mosaic vision) कहते हैं। देह के मध्यभाग अथवा वक्ष में तीन खंड होते हैं, जिनमें से हरेक में एक जोड़ी टाँगें होती हैं। आखिरी दो खंडों पर प्राय: दो जोड़ी पंख लगे होते हैं।

उदर आमतौर पर पंखों के नीचे छिपा होता है। इस पर टाँगें नहीं लगी होतीं। वक्षीय और उदरीय खंडों पर छोटे-छोटे द्वारों के जोड़े होते हैं, जिन्हें **श्वासरंध्र** (spiracles) कहते है। ये श्वासरंध्र बारीक नलिकाओं के एक शाखाजाल में खुलते हैं, जिन्हें **श्वासनलियाँ** (tracheae) कहते है, जो देह के सभी भागों तक पहुँची रहती हैं (चित्र 36.6 B)। ये नलिकाएँ कीट का श्वसन-तंत्र बनाती है। श्वासरंध्रों में होकर हवा प्रवेश करती है और सारी देह में घूमने के बाद श्वासरंध्रों में से ही बाहर निकल जाती है।

मक्खी का जीवन-वृत्त

हमारी जानी-पहचानी मक्खी का नाम प्राणि-विज्ञान नाम **मस्का डोमेस्टिका** (musca domestica) है। इसकी टाँगों में नखर और शूल होते हैं, जिनकी सहायता से यह खिड़की के शीशों जैसी चिकनी सतह पर भी बैठ जाती है। किसी जीवित मक्खी को ध्यान से देखें तो आप

पाएँगे कि वह अकसर अपनी टाँगों को एक दूसरे से रगड़कर साफ करती रहती है।
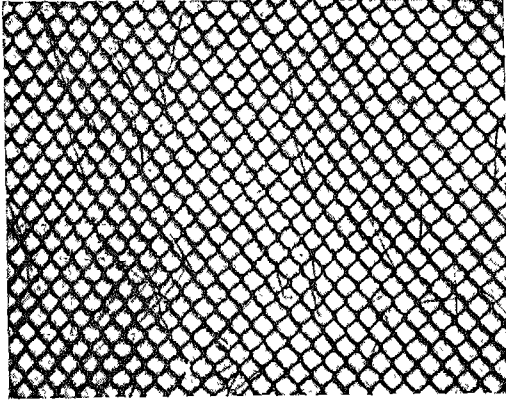
चित्र 36.7 एक कीट के नेत्र का सतही चित्र। प्रत्येक षट्कोणी भाग एक फलक है। इस तरह फलकों के समूह द्वारा बनने वाले प्रतिबिम्बों को 'मोज़ेक दृष्टि' कहा जाता है।

मादा मक्खी एक बार में कोई 100 अंडे देती है जो गोबर, लीद या किसी ऐसे ही सड़े जैव पदार्थ पर दिए जाते हैं। गर्मी के महीनों में तो यह पाँच-छः बार अंडे देती है। अंडे सफेद-से और कुछ-कुछ लंबूतरे होते हैं। कोई 12 घंटों में उनमें से लार्वा निकल आते है, जिन्हें **मैगट** (maggots) कहते हैं (चित्र 36.8)। मैगट मे न तो सिर होता है न टाँगें और वह छोटे कृमि जैसा लगता है। यह सड़ते हुए जैव पदार्थ से पोषण प्राप्त करता है और निर्मोचन द्वारा बढ़ता है। कोई पाँच दिन बाद यह अपनी देह सिकोड़कर गहरे बादामी रंग का पीपेनुमा **प्यूपा** (pupa) बन जाता है। एक सप्ताह में ही प्यूपा परिवर्धित होकर मक्खी बन जाता है और अपने कोकून या आवरण को फाड़कर बाहर आ जाता है। दो सप्ताह की उम्र होते ही मक्खी मैथुन करने और नई पीढ़ी पैदा करने के लिए तैयार हो जाती है।

अनेक बीमारियों के रोगाणु मक्खी से ही फैलते हैं, जैसे कि हैज़ा, पेचिश और टाइफ़ाइड। मक्खी हर तरह की गंदगी और मलबे पर बैठती है, जहाँ से रोगाणु उसकी टाँगों से चिपक जाते हैं। फिर खाद्य सामग्री पर जा बैठी
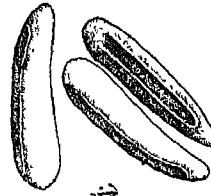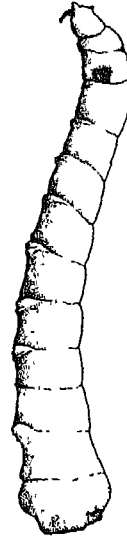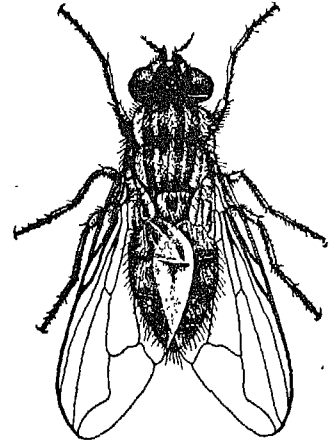
चित्र 36.8 मक्खी के जीवन वृत्त की अवस्थाएँ। अंडे से वयस्क मक्खी पैदा होने में कुछ लगभग दो हफ्ते लगते हैं।

जो संदूषित हो जाती है। इस प्रकार के भोजन को खाने से भयंकर बीमारियाँ हो सकती हैं।

मच्छर का जीवन-वृत्त

मच्छरों के दो जीनस बहुत सामान्य हैं—एक तो मलेरिया फैलाने वाला **ऐनोफेलीज़** (anopheles) और दूसरा श्लीपद या फीलपाँव का प्रसारक **क्यूलेक्स** (culex)। स्वास्थ्य संस्थाओं के प्रयत्नों से मलेरिया तो अब बहुत कम हो गया है और अब श्लीपद उन्मूलन का अभियान चल रहा है।
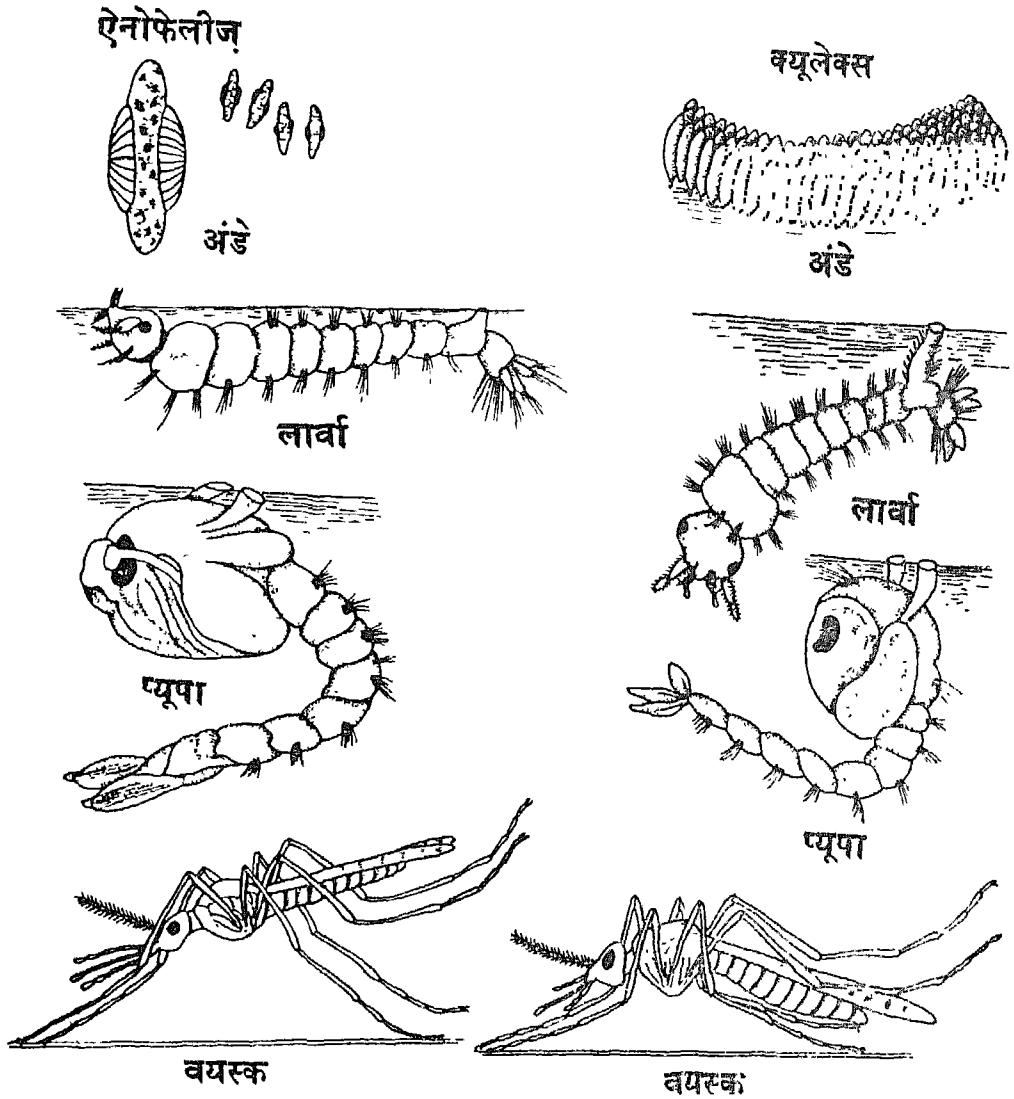
चित्र 36.9 दो क़िस्म के मच्छरों के जीवन वृत की अवस्थाएँ।

बैठने के ढंग से इन दोनों तरह के मच्छरों को सरलता से पहचाना जा सकता है (चित्र 36.9)। क्यूलेक्स अपनी देह को सतह के समांतर रखता है, जब कि ऐनोफेलीज़ एक कोण बनाता है। मादा मच्छरों में छेदने और चूसने वाले मुखांग होते हैं। नर मच्छरों में छेदने वाले मुखांग नहीं होते और वे खुले तरल पदार्थों को केवल चूस सकते हैं।

मच्छर अपने अंडे रुके हुए पानी में देते हैं। इन दोनों तरह के मच्छरों के जीवन-चक्र की अवस्थाएँ बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। क्यूलेक्स में अंडे छोटे-छोटे झुंडों के रूप में दिए जाते हैं जो पानी की सतह पर तैरते रहते हैं, ऐनोफेलीज़ की मादा एक-एक अंडा अलग-अलग छोड़ती जाती है (चित्र 36.9)। प्रत्येक अंडे में एक छोटा-सा वायु अवकाश होता है, जिसकी सहायता से वे तैरते रहते हैं।

लगभग तीन दिन में अंडों से पारदर्शी लार्वा निकल आते हैं जो पानी में फुर्ती से तैरते हुए थोड़ी-थोडी देर बाद वायुमंडलीय हवा मे साँस लेने के लिए सतह पर आते रहते है। इनमें पूँछ के सिरे पर एक श्वसननलिका होती है। तैरते समय क्यूलेक्स लार्वा तो सिर को थोडा नीचे की ओर झुकाए रहता है पर ऐनोफेलीज लार्वा अपनी देह क्षैतिज रखता है। जलीय वनस्पतियों का आहार करके लार्वा आकार मे बढ़ता जाता है। लगभग दो सप्ताह मे यह प्यूपा बन जाता है। इसकी बड़ी देह मे सिर, नेत्र, श्रृंगिका, पंख और टाँगों के आद्यांग (rudiments) निकल आते हैं। वक्ष पर दो श्वसननलिकाएँ होती हैं। दोनों किस्म के मच्छरों के प्यूपा लगभग समान होते हैं, पर ऐनोफेलीज़ प्यूपा की श्वसननलिकाएँ अपेक्षाकृत छोटी और चौड़ी होती है। प्यूपा कुछ नहीं खाता। छेड़ने पर यह तुरंत डुबकी मार जाता है और थोड़ी देर बाद आराम करने के लिए फिर सतह पर उभर आता है। कुछ ही दिनों में प्यूपा का आवरण फट जाता है और उसमें से पंखदार वयस्क मच्छर या **पूर्णकीट** (imago) निकल पड़ता है।

कीटों में कायांतरण

मक्खी और मच्छर के जीवन-वृत्त मे आपने देखा कि अंडे से निकलने वाले लार्वा और वयस्क जीव में कितना अंतर होता है और वयस्क रूप पाने से पहले लार्वा को एक के बाद एक, अनेक अवस्थाओं से गुजरना होता है। इसी संपूर्ण प्रक्रम को **कायांतरण** (metamorphosis) कहते है और यह अधिकांश कीटों में पाया जाता है। यह कायांतरण निर्मोचन यानी बार-बार त्वचा उतरने की क्रिया से संपन्न होता है। निर्मोचन के द्वारा वृद्धि के दौरान आकार में बढ़ोतरी का अवसर मिल जाता है, नहीं तो क्यूटिकल देह पर चढ़ा रहने वाला बड़ा कठोर आवरण है और उसके होते हुए आकार नहीं बढ़ सकता। इसीलिए कायांतरण के दौरान जैसे ही एक अवस्था पूरी हुई कि कीट की देह पर चढ़ा क्यूटिकल पतला होकर मुलायम पड़ जाता है और निकाल फेंका जाता है। इसी बीच नया क्यूटिकल बन जाता है और कीट द्वारा एक सीमा तक आकार-वृद्धि कर लेने के बाद यह नया क्यूटिकल भी कड़ा हो जाता है। यह प्रक्रम कई बार दुहराया जाता है। निर्मोचन कितनी बार होगा यह हर स्पीशीज में निश्चित है। एक बार वयस्क आकार प्राप्त कर लेने के बाद फिर निर्मोचन नहीं होता।

अन्य कीट, जैसे कि तिलचट्टे के परिवर्धन में अंडे से बाहर निकलने वाला जीव और सब बातों में वयस्क के समान होता है, सिवा इसके कि उसमें पंख और कुछ दूसरे अंग नहीं होते। प्रथम निर्मोचन के बाद पंखों के आद्यांग (rudiments) प्रकट हो जाते हैं और फिर बाद के निर्मोचनों में धीरे-धीरे उनका आकार बढ़ता रहता है। इसके साथ ही जनन-ग्रंथियाँ (gonads) भी परिवर्धित हो जाती हैं। टिड्डी, खटमल और ड्रैगन-फ्लाई में भी इसी तरह से कायांतरण होते देखे गए हैं। इन सबमें अपक्व अवस्था मूलतः वयस्क के समान होती है और **अर्भक** (nymph) कहलाती है। इस तरह यहाँ तीन अवस्थाएँ होती हैं: (क) अंडा, (ख) अर्भक और (ग) वयस्क। इस तरह के कायांतरण को **अपूर्ण या क्रमिक कायांतरण** कहते हैं।

दूसरी ओर मच्छर, मक्खी, तितली या रेशम के कीड़े में अंडे से निकले नन्हें जीव रचना और जीवन-विधि दोनों में ही वयस्क से बहुत भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए तितली की इल्ली (caterpillar) में अनेक टाँगें होती हैं। इसमें मजबूत 'जबड़े' होते हैं और यह ठोस खाद्य सामग्री को काट कर चबा जाती है। वयस्क तितली आकृति में बहुत भिन्न होती है, इसमें जबड़े भी नही होते और यह पौधों से केवल रस या मकरंद (nectar) चूसती है। इसी तरह मच्छर का लार्वा वयस्क मच्छर से बहुत भिन्न होता है। पूर्ण वृद्धि के बाद लार्वा से प्यूपा बन जाता है जो सामान्यतया निष्क्रिय रहता है और कोई आहार ग्रहण नहीं करता। प्यूपा में कुछ आमूल परिवर्तन होते हैं——इसमें लार्वा-वाले अंग लुप्त हो जाते हैं और वयस्क मच्छर के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। यहाँ कायांतरण में चारों अवस्थाएँ——अंडा, लार्वा, प्यूपा और वयस्क——शामिल होती हैं और यह **पूर्ण कायांतरण** कहा जाता है।

सिल्वरफिश आदि कुछ कीटों में नन्हें जीव सिवा आकार के और सब बातों में वयस्क के अनुरूप होते हैं। अतः स्पष्ट है कि इनके जीवन-वृत्त में कायांतरण का कोई हाथ नहीं होता।

कीटों का आर्थिक महत्त्व

कीट हमारे जीवन को कई तरह प्रभावित करते हैं। ज्यादा तो हमें नुकसान ही पहुँचाते हैं, पर कुछ बड़े उपयोगी हैं। हानिकर कीटो का सामना मनुष्य को जीवन में हर कदम पर करना पड़ता है।

हानिकर कीट

ऐसे बहुत से कीट हैं जो या तो सीधे ही चोट करते हैं या फिर अपने भीतर ऐसे रोगाणु छिपाए रहते हैं कि आदमी और उसके पालतू पशुओ पर छोड़कर उन्हें रोगी बना दें। यह हानि पहुँचाने की अप्रत्यक्ष विधि है। मच्छर आते हैं तो अपने साथ मलेरिया, श्लीपद और पीत-ज्वर लाते है। मक्खी पेचिश, हैजा, ट्रैकोमा और बहुत-सी बीमारियों के रोगाणु फैलाती है। सैंडफ्लाई नामक मक्खी कालाआज़ार नामक रोग के लिए उत्तरदायी है। सेट्सी मक्खी 'निद्रा रोग' लाती है और चूहे के पिस्सू ग्रंथिल प्लेग (bubcnic plague) फैलाते हैं (चित्र 36.10)। घोड़ों में, गाय-बैल वगैरह पशुओं में, भेड और कुक्कुटों में बहुत से रोग कीटों की ही देन है। इन रोग-कारी कीटो में से अधिकतर खून चूसने वाले है जो रोगी
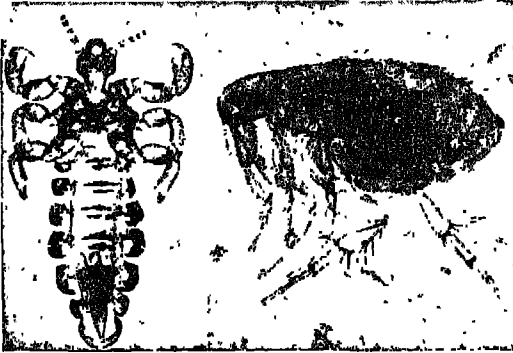
चित्र 36.10 मनुष्य की कपड़ों वाली जूँ (बाएँ) और चूहे का पिस्सू (दाएँ) बाह्यपरजीवी कीट (ectopara-sitic insect) हैं।

से रोगाणु लेकर स्वस्थों में पहुँचा देते है। सारी दुनिया में हर साल हजारों मनुष्य और पशु रोगसंचारी कीटों की बदौलत मर जाते है। जो लोग इन रोगों के चंगुल से जिंदा बच रहते हैं, उनके लिए काम के समय, कार्य-क्षमता और धन की कितनी हानि होती है इसका हिसाब लगाना कठिन है। पशुओं के नाशककीट मास और दूध की पैदावार कम कर देते हैं और चमड़े को घटिया बना देते हैं। संसार भर की म्युनिसिपैलिटियाँ कीटों से युद्ध करने में काफी समय तथा धन व्यय करती हैं।

कुछ कीटों से जान का तो इतना खतरा नहीं है, पर काट लेते है तो बेहद दर्द और तकलीफ होती है। आपको पता होगा कि मधुमक्खी और बर्र या ततैया के डंक की चुभन कितनी तीव्र होती है, चींटी ही काट ले तो हम परेशान हो जाते है और ब्लिस्टर-बीटल नामक भृंग जहाँ काटता है, फफोले पड जाते हैं। जूँ की दो किस्में हैं, एक देह वाला जूँ (bodylice) और दूसरा सिर वाला जूँ (headlice)। त्वचा पर रेंगते समय ये दोनों ही खुजलाहट पैदा करते है। ये टाइफस (typhus) के रोगाणु भी फैलाते है। दीमक लग जाएँ तो फर्नीचर किताब, कागज और गलीचे वगैरह की हुलिया बिगाड़ कर रख दें। कागज या कलफ लगे कपड़ों पर झींगुर और सिल्वरफिश नामक कीट धावा बोल देते हैं। कपड़ों में लगने वाला कीड़ा और गलीचे का कुरा फर, गलीचे और ऊनी कपड़े खा जाता है। चीटियाँ, मक्खियाँ और सुरसुरियाँ (weevils) खाने-पीने की बहुत-सी चीजें खराब कर देते है। तिलचट्टे देखने मे बडे भद्दे लगते हैं और खाद्य सामग्री बिगाड़ देते हैं।

सबसे बड़े दुश्मन तो वे कीट है जो कि फसलों, तर-कारियों, फलों और जंगलो का सफाया कर देते हैं। हर साल इन कीटों की वजह से करोड़ों रुपयों का नुकसान होता है। शायद ही कोई पौधा हो जो किसी न किसी कीट का कोपा भाजन न हो। फसलों के शत्रु कीटों में सबसे कुख्यात टिड्डी है। मानवता के इतिहास में टिड्डियों ने बड़े-बड़े गुल खिलाए हैं और संसार के अनेक भागों मे इन्ही के कारण अकाल पड़ चुके हैं। भारत में कोई छ: तरह की टिड्डियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से रेगिस्तानी टिड्डी बहुत खतरनाक है, क्योंकि यह विशाल झुंड बनाकर चलती है। यह एक तरह से संपूर्ण उत्तर भारत और मध्य प्रदेश को प्रभावित करती है। जहाँ भी टिड्डी दल फसलों पर बैठ जाते हैं, लहराती फसल की जगह सिर्फ टहनियाँ रह जाती हैं। हमारे यहाँ वनस्पति-रक्षण विभाग (प्लांट प्रोटेक्शन डिपार्टमेंट) की शाखाएँ

सभी राज्यों में है, जो हमारी फसलों के शत्रुकीटों के नियंत्रण के लिए सभी संभव उपाय करता है।

बीज गोदामों में और भंडार-घरों में भरे अनाज पर कई तरह के पतंग इल्लियाँ और भृंग धावा बोल देते हैं। काफी दिनों से जमा किए हुए चावल या गेहूँ को देखें तो उसमें घुन वगैरह कोई-न-कोई कीट और उनकी लार्वा अवस्थाएँ मिल जाएँगीं।

वनों में उग रहे पेड़ों के लिए भी तरह-तरह के पतंगे भृंग, मत्कुण और दीमक बराबर खतरा बने रहते हैं।

लाभकारी कीट

ये भी दोनों तरह से सेवा करते हैं--प्रत्यक्ष भी और अप्रत्यक्ष भी। भृंग और चींटियाँ तथा उनके लार्वा धरती में छेद करने की क्रिया से मिट्टी में सुधार करते हैं। चींटी, दीमक और कुछ अन्य छोटे कीट पत्तियों, टहनियों और लट्ठों को नष्ट करके मिट्टी को अधिक उपजाऊ बनाते हैं, क्योंकि इस तरह पौधों की वृद्धि के लिए पोषक द्रव्य सुलभ हो जाते हैं। गोबर-भृंग (dung-beetle) और कुछ शवभक्षी कीट जंतुओं के वर्ज्य पदार्थों और मृत देहों का क्षय बड़ी शीघ्रता से करते हैं। दूसरे कुछ उपयोगी परभक्षी (predator) हैं, जो हानिकर जीवों का सफाया कर देते हैं। इस तरह लेडी-बर्ड बीटल और होवर-फ्लाई के लार्वा एफिडों को खा जाते हैं। ड्रैगन-फ्लाई और डैम्सेल-फ्लाई कुछ अन्य मक्खियों को खा डालती है। प्रेइंग मैंटिस नामक कीट छोटी टिड्डियों और इल्लियों सहित अनेक फसलनाशी कीटों को खा जाता है। एक किस्म का ब्लिस्टर बीटल मिट्टी में अंडों के खोलों मे धँसकर टिड्डियों के अंडे सफाचट कर देता है।

अनेक हानिकर कीटों के लार्वाओं और वयस्कों की देह पर कुछ अन्य कीट परजीवी होकर रहते हैं। इससे शत्रुकीटों के बड़े पैमाने पर फैलने की संभावना कम हो जाती है। संसार के अनेक भागों में कृषि अनुसंधान शालाओं के वैज्ञानिक इस तरह के परजीवी कीटों की उचित किस्में तैयार कर रहे हैं जो मौके पर रोगकारी कीटों की रोकथाम के लिए इस्तेमाल की जा सकें। इस तरह परजीवी या प्राकृतिक शत्रुओं की सहायता से फसल-नाशी कीटों की रोकथाम करना **जैव नियंत्रण** (biological control) कहा जाता है।

परागण करने वालों के रूप में कीटों का योगदान सुपरिचित है। आप पंद्रहवें अध्याय में पढ़ चुके हैं कि कुछ फसलों में परागण के लिए मधुमक्खी पतंगे या तितलियों की सहायता बहुत जरूरी है। तितलियों और पतंगों आदि अनेक कीट इतने खूबसूरत होते हैं कि वैज्ञानिक अध्ययन के लिए ही नहीं, मनोरंजन के लिए भी उनका संग्रह किया जा सकता है। पिछले कुछ दशकों में वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए कीटों का खूब प्रयोग हुआ है। आनुवंशिकता की प्रक्रिया की खोज से संबंधित सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग **ड्रोसोफिला** (drosophila) नामक फलमक्खी पर किए गए हैं।

और अंत में कुछ कीटों का व्यापारिक महत्त्व भी कम नहीं है। इनके कारण सदियों से लाखों लोगों को रोजी मिलती रही है और आज भी मिलती है। मानव के आहार और वस्त्रों में इनका बड़ा योग है और कुछ अन्य उपयोगी चीजें भी सुलभ की हैं।

मधुमक्खियाँ मधु और मधु-मोम (beeswax) प्रदान करती हैं। ये कीट बड़े-बड़े निवह (कालोनी) बनाकर रहते हैं और सामाजिक होते हैं। अच्छी कालोनी में 90 प्रतिशत (60,000 या अधिक) श्रमिक होते हैं। प्रत्येक श्रमिक के पास दो महत्त्वपूर्ण औजार होते हैं : सिर पर मकरंद-संग्रह करने वाली 'जिह्वा' और पिछली टाँगों पर पराग इकट्ठ करने के लिए 'टोकरी'। एक हिसाब से एक किलोग्राम शहद बनाने के लिए 1,000,000 बार मकरंद भरकर लाना पड़ता है। मकरंद फूलों से इकट्ठा करना होता है और इसके लिए श्रमिक मधुमक्खियाँ जाती हैं और अपने मधु-जठरों मे भरकर छत्तों तक ले आती है। छत्ते के कोषों में भरने से पहले मकरंद पर मधुमक्खी की लार में मौजूद एक एन्जाइम क्रिया करता है। इसके फलस्वरूप मकरंद की इक्षु-शर्करा फल-शर्करा में बदल जाती है। छत्ते के कोषों में भरने के बाद पंखों की हवा देकर मकरंद को गाढ़ा किया जाता है। और लीजिए शहद तैयार हो गया। बाद में छेद बंद कर दिया जाता है। शहद बड़ा स्वादिष्ट और पोषक होता है। इतिहास से पता चलता

ानव द्वारा प्रयोग में लाया गया प्रथम मिष्ठकारी ाधु ही था। शर्करा का प्रयोग बाद में जाकर

धुमक्खियों का छत्ता मधु-मोम का बना होता है। मधुमक्खी के उदर के अधरतल पर ग्रंथियां होती से पतली परतों या छिलकों के रूप में मोम पैदा ाै। उद्योग और कला में मधु-मोम का उपयोग जाता है।

हें हम 'रेशम के कीड़े' कहते हैं, वे एक तरह के (moth) होते हैं और उनके कोयों से रेशम है। शहतूती-रेशम सबसे बढ़िया समझा जाता है **बोम्बिक्स मोराइ** (Bombyx mori) नामक ी इल्लियों से पैदा होता है। यह रेशम संसार ई 2000 से भी अधिक वर्षो से ज्ञात है। इन तमाम सदियों में मानव ने इस शलभ की इतनी देखभाल की है कि अब यह जंगली रूप में तो पाया ही नहीं जाता, बस पालतू रूप में मिलता है। यह शहतूत की पत्तियाँ खाता है। पूर्ण वृद्धि के बाद लार्वा अपने चारों ओर कोया बना लेता है। इसकी देह के भीतर पूरी लंबाई में लगी दो बड़ी ग्रंथियों के स्राव से कोया बनता है। जब यह चिपचिपा द्रव बाहर निकलता है तो वायु के संपर्क में आकर पतले रेशम के धागे के रूप में कड़ा हो जाता है। इस धागे को निकालते समय इल्ली अपना सिर अगल-बगल घुमाता है और धागे को एक खोल के रूप में डालती जाती है। एक पूरा कोया बिनने में लगभग तीन दिन लग जाते हैं। एक कोया में रेशम का कोई 800 मीटर लंबा धागा होता है। सामान्यतः दो हफ्ते में शलभ कोया फाड़कर बाहर निकल जाता है (चित्र 36.11)
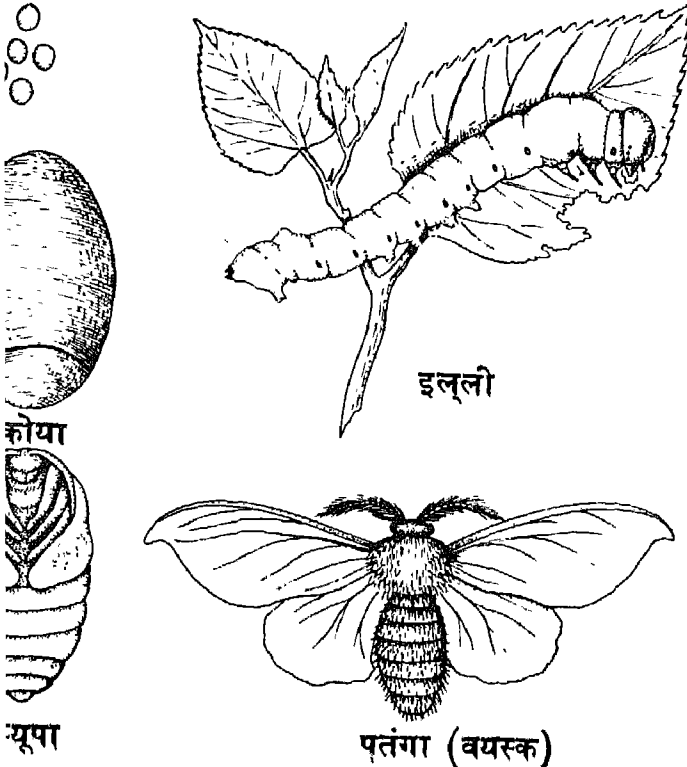
चित्र 36.11 रेशम के कीड़े के जीवन-वृत की अवस्थाएँ। 'रेशम' निकालना शुरू करने के दो हफ्ते बाद प्यूपा वयस्क पतंगे के रूप में कोया फाड़कर बाहर आ जाते हैं।

औद्योगिक खपत के लिए रेशम प्राप्त करने के लिए इल्ली द्वारा बिनाई शुरू करने के लगभग एक हफ्ते बाद कोया इकट्ठे किए जाते हैं। खौलते पानी में डालकर उनमें के प्यूपा मार दिए जाते हैं। चार या पाँच कोयों के तंतु धागे के रूप में बँटकर उनकी पिंदिया बना ली जाती हैं। भारत, चीन और जापान सबसे बड़े रेशम उत्पादक देश हैं। कश्मीर, मैसूर और असम मे रेशम के बड़े-बडे उद्योग चल रहे हैं।

लाख का कीट पलाश, पीपल और बेर आदि पेड़ों की टहनियों पर रहने वाला छोटा-सा कीट है। भारत में इसका पालन बिहार में सबसे अधिक होता है। ये कीट टहनियों से चिपके रहते हैं और एक गोंदनुमा पदार्थ स्रवित करते हैं जो अंत में उन्हे चारों ओर से ढक लेता है। टहनियाँ भी इसकी मोटी-मोटी पपड़ियों से ढक जाती है। समय-समय पर लाख इकट्ठी करके ग्रामोफोन के रिकार्ड बनाने, बिजली के सामान के लिए विद्युत्-रोधन सामग्री के रूप में, और खिलौने, चूड़ियाँ और दूसरी बहुत-सी वस्तुएँ बनाने के काम लाई जाती हैं। पेन्ट और पालिशों में काम आने वाला एक लाल रंजक (dye) भी लाख से नाया जाता है।

लाख कीट के ही एक संबधी से 'अलता' नामक लाल रंजक प्राप्त किया जाता है। यह नागफनी-कुल के कुछ पौधों पर निर्वाह करता है। यह रंजक कुछ पेयों और सौन्दर्य प्रसाधनों को रंगने के काम आता है।

कीटों का सामाजिक जीवन

मधुमक्खी, चींटी, कुछ किस्म के बर्र और दीमक बड़े सुसंगठित समुदाय बनाकर रहते है। ये हमेशा किसी-न-किसी तरह का नीड़ बनाते हैं। इनकी 'बस्तियों' में कुछेक से लेकर हजारों तक कीट हो सकते हैं जो पूर्णतः अनुशासनमय जीवन बिताते हैं। इनमें श्रम-विभाजन होता है और विभिन्न 'जातियाँ' बनी होती हैं।

एक मधुमक्खी की बस्ती में प्राय: 50,000 सदस्यों के ऊपर तक एक जननक्षम रानी होती है (चित्र 36.12)। पनपती हुई कालोनी में जो संतति पैदा होती है, उन्ही में से नई रानी भी पैदा होती है। अपने कोप से निकलते ही यह नई रानी आमतौर पर अन्य रानी बनने
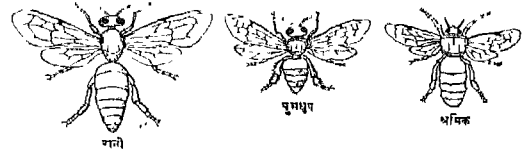
चित्र 36.12 मधुमक्खी की तीन जातियाँ।

वाले लार्वाओ को मार देती है और कभी-कभी तो पुरानी रानी अर्थात् अपनी माँ को भी मार डालती है। कुछ दिन बाद नई रानी एक छोटी-सी उड़ान भरती है। इधर कई सौ **पुंमधुप** (drone) भी सक्रिय होकर रानी का पीछा करने लगते हैं, हालाँकि आमतौर पर वे निष्क्रिय ही रहते हैं। इनमें से एक रानी के साथ मैथुन करता है और उसकी देह में शुक्राणु विसर्जित कर देता है। एक बार के मैथुन में ही रानी इतने शुक्राणु इकट्ठे कर देती है कि उसकी उम्र भर (लगभग 4-5 साल) के लिए काफी है। किसी भी कालोनी में 90 प्रतिशत से भी अधिक की आबादी श्रमिकों (बंध्य मादाएँ) की होती है। ये नीड-निर्माण से लेकर 'शिशु-पालन' और रानी के पोषण तक सभी काम करते हैं। कही से मकरंद लेकर आने पर श्रमिक एक खास तरह का नृत्य करते हैं जिसे देखकर छत्ते के दूसरे सदस्य समझ जाते हैं कि पोषण पाने की जगह किस दिशा में है और कितनी दूर है। हर छत्ते के सदस्य एक दूसरे को देखकर नहीं, सूँघकर पहचानते हैं और किसी भी घुसपैठिया को बर्दाश्त नहीं करते। मधुमक्खियो में लिंग और जाति-निर्धारण का मामला बड़ा रोचक है। अनिषेचित अंडे तो नर लार्वा पैदा करते है जो बड़े होकर पुंमधुप बन जाते हैं और निषेचित अंडे मादा लार्वा बनाते हैं जो कि श्रमिक या रानी का रूप पाने के लिए सक्षम होते हैं। अब जिन लार्वाओ को अधिक पौष्टिक खाद्य (देखभाल करने वाले वयस्क श्रमिकों द्वारा स्रवित रॉयल जेली) मिलता है वे तो रानी का रूप प्राप्त करते हैं, जबकि शहद और पराग पर पोसे गए लार्वा श्रमिक बनते हैं।

चीटियों के एक नीड में एक या अधिक रानियाँ हो सकती हैं। बंध्य मादाएँ श्रमिक होती हैं और ज्यादातर काम ये ही करती हैं। कुछ मजबूत और बड़े श्रमिक कालोनी की रक्षा करते है अतः सैनिक कहे जाते हैं।
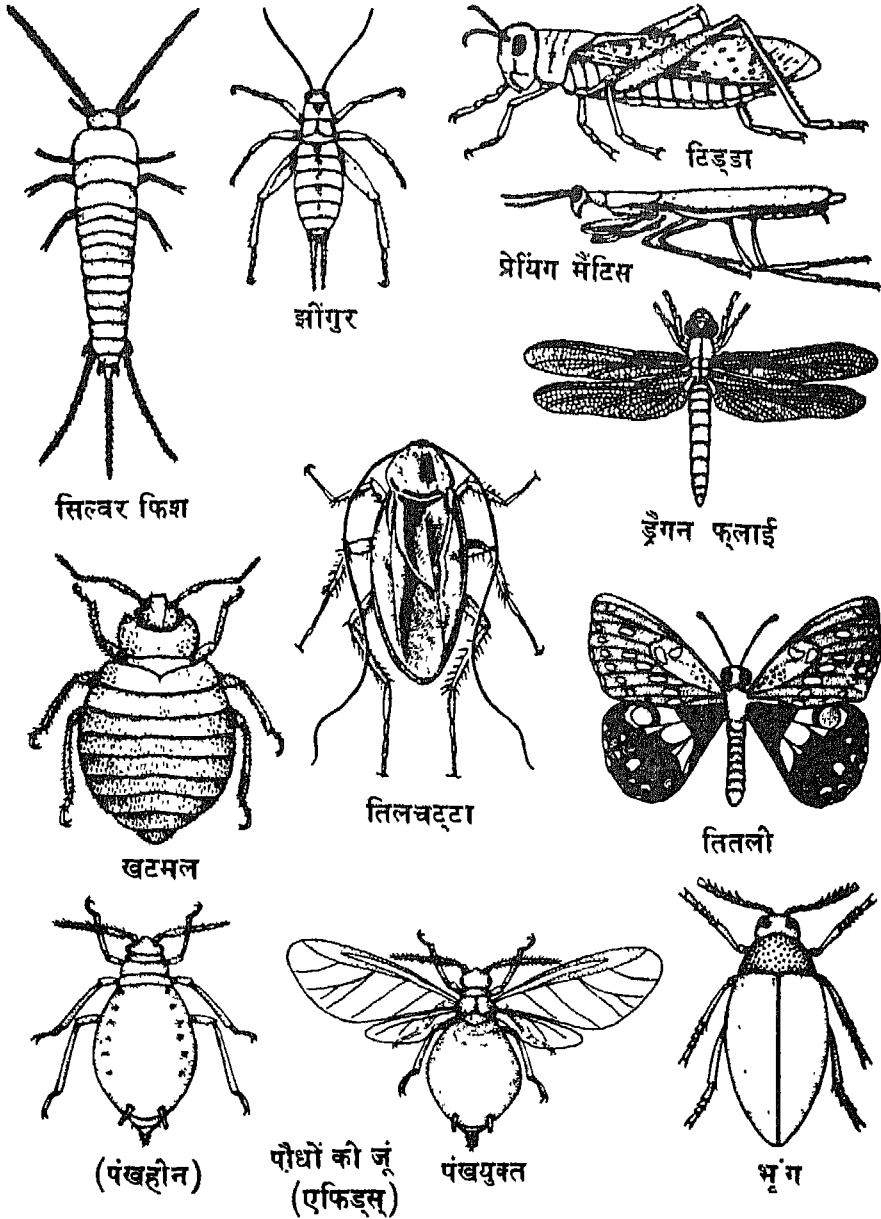
चित्र 36.13 कुछ कीट। सिल्वर फिश तेज दौड़ने वाला, पंखहीन, रुपहला कीट है जो अलमारियों में और किताबों में मिल जाता है। इसे स्टार्चयुक्त आहार प्रिय है। अँधेरे कोने में किट-किट की आवाज़ करने वाले कीट का नाम है झींगुर। टिड्डा अपने चबाने वाले मुखांगों से फ़सलों की पत्तियाँ खा जाता है और काफ़ी नुक़सान पहुँचाता है। विश्राम करते समय इसके मोटे अग्र-पंख पतले और बड़े पश्च-पंखों से ढक लेते हैं। लंबी टाँगों के तीसरे जोड़े की सहायता से यह ऊँची कूद भी लगा सकता है। प्रेयिंग मैंटिस अपनी अगली टाँगों को इस तरह मोड़ लेता

है जैसे दुआ माँग रहा हो। हालाँकि इसके नाम के साथ तो दुआ माँगने की वृत्ति जुड़ी हुई है, पर असल में इसका स्वभाव बड़ा हिंसक है। अपने मज़बूत जबड़ों से यह बड़ी आसानी से टिड्डे का सिर काट कर अलग कर सकता है। ड्रैगनफ्लाई अपनी लंबी पतली देह के द्वारा आराम के समय भी लंबे झिल्लीदार पंख फैलाए रहती है। खटमलों में पंख नहीं होते, जबकि उनके अन्य संबंधी मत्कुण (Bugs) दो पंखवाले होते हैं जो एक नली-सी बना लेते हैं। इनसे यह त्वचा में छेद करके खून चूसता है। पौधों के जूँ या ऐफिड छोटे हरे या भूरे से कीट होते हैं जो अनेक फसलों की पत्तियों पर मिलते हैं। इनके भी मुखांग होते हैं, जिनकी सहायता से यह पत्तियों का रस चूसते हैं। अँधेरे घरों के कोनों में तिलचट्टे खूब पनपते हैं। स्पर्श और गंध द्वारा अपने आस-पास की टोह लेने के लिए तिलचट्टा अपने दो लंबे स्पर्शकों को हिलाता रहता है। तितलियाँ तो बागों का सुपरिचित खूबसूरत कीट है। उनके पंखों का रंग-बिरंगापन उनमें मौजूद अनेक छोटे-छोटे शल्कों की देन है। जब आप तितली पकड़ते हैं तो हाथ में जो चिकना पाउडर सा लग जाता है, वे वास्तव में शल्क ही होते हैं। भृंग के अग्र-पंख कवच जैसे कड़े होते हैं जोकि देह पर जोर से कस जाते हैं और अपने नीचे पतले झिल्लीदार पश्च-पंखों का जोड़ा छिपा लेते हैं। अनाज में लग जाने वाले घुन, पटबीजना या जुगनू भी एक तरह के भृंग ही हैं। ये रेखाचित्र कीटों के वास्तविक आकार के अनुपात में नहीं हैं।
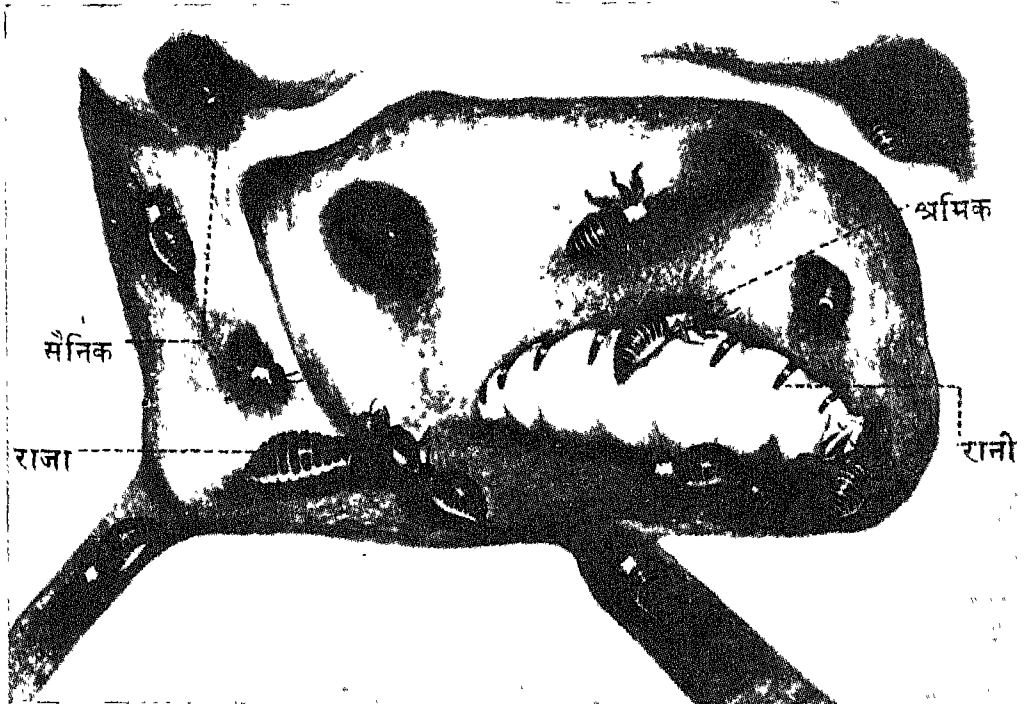
चित्र 36.14 एक दीमक का घर (बांबी)। रानी का अपना कक्ष अलग होता है। उसके बड़े उदर पर ध्यान दीजिए। राजा रानी से बहुत छोटा होता है। सैनिक का सिर नुकीला होता है जिसमें से जहरीला रसायन फेंका जा सकता है। आधार : बी० एस० सी० एस० "मोलीक्यूल्स टू मैन", हाफ्टन मिफ्लिन कंपनी, बोस्टन, 1963।

चींटी-कालोनी के सभी सदस्य सामान्यतया पंखहीन होते हैं। परंतु बरसात के दिनों में पंखयुक्त चींटियाँ (नर-मादा दोनों) पैदा होते हैं जो नीड से बाहर आकर उड जाते हैं। मैथुन के बाद वे अपने पंख गिरा देते हैं और मादा नई कालोनी शुरू करती है या किसी पुरानी की सदस्या बन जाती है। चींटियों का गंधबोध बहुत तीव्र होता है। वे अपनी देह से एक तरह की गंध निकालते हुए पथ बना देती हैं। आपने जमीन पर या दीवार पर एक निश्चित कतार में चलती हुए चींटियाँ अवश्य देखी होंगी।

दीमकों (चित्र 36.14) की भी सुव्यवस्थित कालोनियाँ होती हैं जिनमें राजा, रानी, श्रमिक और सैनिक होते हैं। हर कालोनी में आमतौर पर एक शाही जोड़ा होता है —राजा-रानी जिनके जीवन के प्रारंभ में ही पंख लगते हैं। श्रमिक वंध्य (बांझ) होते हैं, पंखहीन होते हैं और नेत्रविहीन होते हैं। वे नर या मादा हो सकते हैं। सैनिकों में बड़े मजबूत हनु (जबड़े) होते हैं और वे किसी भी लिंग के हो सकते हैं। वर्षाकाल में हर-बार पंख वाले पूर्ण नर-मादा पैदा किए जाते हैं जो कि रोशनी के आस-पास झुंड बनाकर मँडराते हैं। वे मैथुन करते हैं और अपने पंख गिरा देते हैं। फिर मिट्टी में छेद करके एक नई कालोनी शुरू कर देते हैं। शुरू-शुरू में उनके जितने भी बच्चे पैदा होते हैं वे सबके सब श्रमिक और सैनिक होते हैं। आयु बढ़ने के साथ रानी का तो आकार भी बढ़ता है, पर राजा वैसा ही रहता है।

कुछ सामान्य कीट

कीटों की विचित्रताओं का पूर्ण परिचय देने लगें तो इस पुस्तक से बड़ी कई पोथियाँ भर जाएँगी। चित्र 36.13 को देखकर आप कुछ दिलचस्प कीटों से परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

सारांश

फाइलम आर्थ्रोपोडा सबसे बड़ा है। संपूर्ण प्राणि-जगत का तीन-चौथाई भाग ये ही हैं। आर्थ्रोपोडों की पहचान इन लक्षणों से होती है : सखंड देह, देह-भित्ति पर मढ़ा क्यूटिकल का कड़ा आवरण और संधियुक्त टाँगें। टाँगों की संख्या विविध वर्गों को पहचानने में सहायक होती है।

अधिकतर क्रस्टेशिया जलीय प्राणी होते हैं। उनमें से ज्यादातर गिलों से साँस लेते हैं। क्रेफिश और केकड़े आदि कुछ क्रस्टेशिया प्राणी आहार के रूप में उपयोगी हैं। कुछ सूक्ष्म क्रस्टेशिया मछलियों का आहार बनते हैं।

मिरियापोड स्थलीय आर्थ्रोपोड हैं, जिनमें टाँगों की संख्या बहुत बड़ी होती है। शतपादों या सेन्टीपीडों के प्रत्येक देह-खंड में एक जोडी टाँगें होती हैं, जबकि सहस्रपादों या मिलीपीडों के प्रत्येक देह-खंड में दो जोड़ी टाँगें होती हैं।

ऐरेक्निडों को चार जोड़ी टाँगों और एक जोड़ी पश्चस्पर्शकों (पेडिपैल्पों) से पहचाना जाता है। बिच्छुओं और कुछ मकड़ियों में विष-ग्रंथियाँ होती हैं।

कीटों में सबसे अधिक विविधता और विचित्रता मिलती है। इनमें तीन जोड़ी टाँगें और आमतौर पर दो जोड़ी पंख होते हैं। हानिकर कीटों की बहुसंख्या है। वे लहलहाती फसलों, गोदामों में भरे अनाज को ही नहीं, और बहुत-सी चीजों को भी नष्ट कर देते हैं और मनुष्य तथा जानवरों में बीमारियाँ फैलाते हैं। मधुमक्खियाँ, लाख-कीट, रेशम-कीट औद्योगिक दृष्टि से उपयोगी हैं। तितलियाँ, शलभ और मधुमक्खियाँ अनेक फसलों में फूलों का परागण करके बड़ी महत्त्वपूर्ण सेवा करते हैं। मधुमक्खियाँ, चींटियाँ और दीमक अद्भुत सामाजिक जीवन बिताते हैं।

प्रश्न

1. किसी संधिपाद (आर्थ्रोपोड) को आप अन्य प्राणियों से अलग कैसे पहचानेंगे ?
2. शतपाद (सेंटीपीड) और सहस्रपाद (मिलीपीड) में क्या अंतर है ?
3. बिच्छू का डंक कहाँ लगा होता है ?
4. कीटों में किस तरह के श्वसनांग पाए जाते हैं ? मनुष्य और कीट के श्वसन में मुख्य भेद क्या हैं ?
5. भारत में औद्योगिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तीन कीटों के नाम गिनाइए ?
6. मक्खी और मच्छर के जीवन-वृत्त की अवस्थाएँ पाने के लिए आप कहाँ खोजेंगे ?
7. मधुमक्खियों की कौन-सी जाति फूलों पर जाती है ?
8. पंखयुक्त चींटियों और दीमकों का क्या कार्य है ?
9. दोनों में कौन श्रेष्ठ है : संधिपादों का बाह्य कंकाल या कशेरुकियों (वर्टीब्रेटों) का आंतरिक कंकाल ? क्यों ?
10. कुछ कीट कभी कोई संतान नहीं पैदा करते । जड़ और चेतन के बीच जनन-क्रिया एक महत्त्वपूर्ण भेद माना जाता है, फिर आप इन बाँझ कीटों को चेतन कैसे कह सकते है ?
11. कुछ कीटों के पिता नहीं होते । यह कैसे ?
12. मकड़ी और कीट में आप कैसे भेद करेंगे ?
13. इन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए : (क) अर्भक (निम्फ), (ख) लार्वा, (ग) प्यूपा और (घ) कोया (कोकुन) ।
14. चीटियाँ वापस अपने बिलों तक कैसे पहुँचती हैं ?
15. मधुमक्खियाँ और अन्य कीट अपनी-अपनी कालोनियाँ बसाकर मिल-जुलकर रहना कैसे सीखे होंगे ? इस बारे में अपने विचार बताइए ।
16. कीटों का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों को आप किस नाम से पुकारेंगे ?
17. कुछ लोगों का ख्याल है कि मक्खियाँ गंदगी से और मच्छर गंदे पानी से पैदा हो जाते हैं । इस तरह के अंधविश्वास पनपने का क्या कारण है ?

अन्य पठनीय सामग्री

अज्ञात 1962, एक्सोस्केलेटन्स—दी एक्सोस्केलेटन्स ऑफ आर्थ्रोपोड्स **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-1, अंक 11, पृ० 166-167 ।

अज्ञात 1963, इन्सेक्ट लाइफ । **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-3, अंक-33, (आवरण के पिछले पृष्ठ के अंदर) ।

अज्ञात 1963, इन्सेक्ट कम्यूनिटीज । **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-5, अंक-47 (आवरण के पिछले पृष्ठ के अंदर) ।

अज्ञात 1963, दी लैंग्वेज ऑफ बीज़ । **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-4, अंक-52 (आवरण के पिछले पृष्ठ के अंदर) ।

अज्ञात 1963, सम हाउसहोल्ड इन्सेक्ट्स । **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-6, अंक-61, पृ० 964-965 ।

अज्ञात 1963, दी स्पाइडर्स वैब । **अंडरस्टैंडिंग साइंस**, भाग-6, अंक-62, पृ० 992 ।

अज्ञात 1963, दी ऐण्ट कालोनी । **अंडरस्टैंडिंग साइंस,** भाग-6, अंक-65, पृ० 1028-1029 ।

अज्ञात 1963, इन्सेक्ट्स दैट ट्रांसमिट डिजीज । **अंडरस्टैंडिंग साइंस** भाग-6, अंक-72, पृ० 1148-1149 ।

फ्रीमैन, आर० बी० 1953, फेमस ऐनीमल्स-5, दी फ्ली । **न्यू बायोलोजी** अंक-14, पृ० 111-124 ।

हैस्केल, पी० टी० 1956, दी लोकस्ट प्रोब्लम । **साइंस न्यूज** । अंक-42, पृ० 23-40 ।

जॉनसन, सी० जी० 1952, दी बेड-बग । **न्यू बायोलोजी** अंक-13, पृ० 80-97 ।

जॉनसन, एम० एल० 1945, मलेरिया, मोस्कीटोज एंड मैन । **न्यू बायोलोजी** अंक-1, पृ० 96-109 ।

सैंडरसन, ए० आर० एंड हाल, डी० डब्ल्यू० 1951, सैक्स इन दी हनी-बी । **एंडेवर** भाग-10, पृ० 33-39 ।

स्मिथ, आर० एफ० एंड एलन, डब्ल्यू० डब्ल्यू० 1954, इन्सेक्ट कंट्रोल । **साइंटीफिक अमेरिकन,** भाग-10, अंक-6 पृ० 38-42 ।

विलियम्स, सी० बी० 1953, इन्सेक्ट ब्रीदिंग । **साइंटीफिक अमेरिकन,** भाग-188 अंक-2, पृ० 28-32 ।

37

एकाइनोडमेंटा—काँटेदार-त्वचा वाले प्राणी

एकाइनोडर्म अरीय सममिति वाले समुद्री प्राणी है जिनकी त्वचा काँटेदार होती है। इनकी देह खंडहीन और तारे-सी या गेंदनुमा होती है। सिर नहीं होता। मुख देह की निचली सतह पर होता है और गुदा उसके विपरीत सिरे पर।

तारामीन या स्टारफ़िश (**पेन्टासिरॉस**–pentaceros) हमारे समुद्रतटों के निकट उथले जल में पाया जाने वाला बड़ा सामान्य एकाइनोडर्म है। इसकी देह ताराकार होती है जिसमें एक केन्द्रीय बिंब (central-disc) और पाँच भुजाएँ होती है—अरों की तरह निकली हुई (चित्र 37.1 A)। मुख चपटी निचली सतह के केन्द्र में स्थित होता है और बिंब की ऊपरी सतह पर गुदा होती है। उसकी देह काँटों से घिरी होती है। ये शूल आधार के पास उन केल्सेरियस पट्टिकाओं से जुड़े होते हैं जो तारामीन की त्वचा में जमी रहती है। प्रत्येक भुजा की निचली सतह पर एक खाँच होती है जिसमें मांसल नालपद (tube-feet) रहते है (चित्र 37.1 B)। तारामीन की सारी देह में जल-वाहिकाओं का जाल बिछा होता है, जिनसे पंप किए हुए पानी के दाब से नालपद कभी अंदर तो कभी बाहर की ओर धकेल दिए जाते है। नालपदों से इस प्राणी को चलने में मदद मिलती है। तारामीन कृमियों, सीपी और शुक्तियाँ (oysters) वगैरह को खाती है। जब भी कोई सीपी मिली कि यह प्राणी अपने नालपदों से उसको पकड़ लेता है। और उनके दोनों कवच खींचकर अलग कर देता है। इसके साथ ही यह एक रस स्रवित करता है

चित्र 37.1 स्टारफ़िश (पेंटासिरास-Pentroaces) यह न तो मीन (मछली) है न तारा। A. ऊपर सतह का चित्र। B. निचली सतह का चित्र।

जिसके प्रभाव से कवच की मजबूत पेशियाँ ढीली हो जाती हैं। फिर आमाशय मुख में से उलट कर आ जाता है और शिकार बनाए गए मोलस्क के कोमल भागों पर फैल जाता है। आमाशय के पाचक रस मोलस्क के मांस को घुला देते हैं और यह पचा हुआ आहार अंदर कर लिया जाता है। तारामीन मुक्ताशुक्ति को खा जाती है इसलिए जहाँ नकली मोती बनाने के लिए मुक्ताशुक्ति संवर्धन किया जाता है, उस क्षेत्र से इन्हें साफ कर दिया जाता है।

समुद्री अर्चिन (**इकाइनस**–echinus) समुद्र-तल पर पाया जाता है और काँटेदार गेंद सा लगता है (चित्र 37.2)। इसकी देह एक कवच में बंद होती है। कवच पट्टिकाओं पर हिलाए-डुलाए जा सकने वाले शूल लगे होते हैं। तारामीन की पाँच भुजाओं की तरह यहाँ नालपदों की पाँच कतारें होती हैं जो इस तरह लगी होती है कि दो नालपदी कतारों के बीच में बिना नालपद वाला भाग रहता है। पाँच नुकीले दाँतों वाला मुख निचली सतह पर स्थित होता है। समुद्री अर्चिन अधिकतर सड़ी-गली वनस्पतियाँ खाते हैं और इस प्रकार अपमार्जक (scavengers) का काम करते हैं।

चित्र 37.2 समुद्री अर्चिन (एकाइनस—echinus) हालाँकि यह स्टारफिश से भिन्न लगता है, पर इसकी देह की बनावट उसी नमूने पर है। यह प्राणी काँटों से टंकी गेंद की शक्ल में होता है।

चित्र 37.3 खीरे-जैसा समुद्री कुकंबर (होलोथूरिया—holothuria) B. भंगुरतारा (ओफियोथ्रिक्स—ophiothrix) मुखवाली सतह का चित्र। इसका एक नाम 'सर्प तारा' भी है, क्योंकि इसकी लचीली भुजायें देखने में और गति में साँप-सी लगती हैं।

समुद्री खीरा या समुद्री कुकबर (**होलोथूरिया**–holothuria) खीरा-जैसी आकृति वाला प्राणी है, जिसकी देह कोमल होती है। यह उथले जल में पाया जाता है। एक सिरे पर मुख होता है और दूसरे सिरे पर गुदा (चित्र 37.3 A)। भंगुर तारा या ब्रिटिल स्टार

(**ओफियाथ्रिक्स**–ophiothrix) नामक प्राणी में पाँच लंबी और भंगुर भुजाएँ होती हैं, जो एक केन्द्रीय बिंब से निकलती है। इसे सर्प तारा (सर्पेंट स्टार) भी कहते है (चित्र 37.3 B)। इसका नाम भंगुर तारा इसलिए पड़ा, क्योंकि यह शत्रु का हमला होते ही अपनी भुजाओं के कई टुकड़े बिखेर देता है। जो भाग टूट जाते है वे फिर बाद मे उग आते है। इसके पाचन-तंत्र की एक विशेषता यह है कि गुदा नही होती और आहार का अनपचा अंश मुख से ही बाहर निकलता है। पंख तारा (**एंटेडोन**–antedon) अन्य एकाइनोडर्मो मे विपरीत कुछ जड़ो जैसे प्रवर्धो (चित्र 37.4) या सिर्फ एक वृंत के द्वारा समुद्र तल से चिपका रहता है। इसकी भुजाएँ शाखित होती है और मुख तथा गुदा दोनों ही ऊपरी सतह पर स्थित होती है।

चित्र 37.4 पंख तारा (एंटेडान—antedon) का पार्श्व-चित्र। आधार टी०जे०पार्कर, डब्ल्यू०ए० हैसवैल और ओ० लोवेन्स्टीन, ए टैक्स्टबुक आफ जूलोजी, मैक्मिलन एंड कंपनी, लि० लंदन, 1957।

सारांश

एकाइनोडर्म शूलमय त्वचा वाले समुद्री प्राणी हैं। इनकी देह तारे या गेंद की शक्ल में होती है। इनका सर्वोत्तम उदाहरण तारामीन है। यह समुद्र तल पर कोमल नालपदो से रेंगती है और सीपियों वगैरह के नरम भागो को आहार बनाती है। इस मांस को पचाने के लिए तारामीन का आमाशय उलटकर बाहर आ जाता है और आहार को घेर लेता है। मुक्ताशुक्तियों को भी आहार बना लेने के कारण तारामीन काफी नुकसान पहुँचाती हैं। अन्य सामान्य एकाइनोडर्मों में समुद्री अर्चिन, समुद्री कुकंबर और भंगुर तारा उल्लेखनीय हैं।

प्रश्न

1. एकाइनोडर्म अन्य प्राणियों से किस तरह भिन्न है ?
2. तारामीन (स्टारफ़िश) की पाचन क्रिया अन्य प्राणियों की पाचन क्रिया से किन बातों में भिन्न या समान है ?

अन्य पाठ्य सामग्री

बक्सबाम, आर० 1948, **ऐनीमल्स विदाउट बैकबोन्स**। यूनीवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

हैन्सन, ई० डी० 1961, **जंतु विविधता** (अनु० डा० हरचरन सिंह विश्नोई) यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, रामनगर, नई दिल्ली।

अन्य भागों की झाँकी

प्रथम भाग—जीवन के बारे में कुछ आधारभूत बातें

चपटे कृमि (फाइलम प्लेटीहेल्मिन्थीज़। गोल कृमि (फाइलम नेमेटोडा)—कोमलदेही जंतु (फाइलम मोलस्का)—सखंड कृमि (फाइलम ऐनेलिडा) जोड़दार टाँगों वाले जंतु (फाइलम आर्थोपोडा)—काँटेदार त्वचा वाले जंतु (फाइलम इकाइनोडर्मेटा) रीढ़वाले जंतु—कशेरुकी (फाइलम कॉर्डेटा : उपफाइलम वर्टीब्रेटा)—जंतुओं का आर्थिक महत्त्व।

द्वितीय भाग—वनस्पतियों की विविधता

10. पौधे की देह

पौधे की देह, जीवन-अवधि, आवास और स्वभाव, द्विबीजपत्री और एकबीजपत्री

11. जड़

आकारिकी, शारीर, जल और खनिजों का अवशोषण, उपयोग

12. तना

आकारिकी, शारीर, कार्य, उपयोग

13. पत्ती

आकारिकी, शारीर, कार्य, उपयोग

14. फूल

फूल के भाग, फूल की बनावट के भेद, उपयोग

15. परागण और निषेचन

परागण, स्व-परागण और पर-परागण, परागण करने वाले कारक, हवा में उड़ता हुआ पराग और एलर्जी, निषेचन

16. बीज

बीजों की बनावट (सेम, अंडी, मक्का), बीज का अंकुरण (सेम, मटर, अंडी, मक्का), उपयोग

17. फल और उसका प्रकीर्णन

फल और उसके प्रकार, बीजों या फलों का बिखरना, वायु और जंतुओं द्वारा प्रकीर्णन, आदमी के साथ बीजों की लम्बी-लम्बी यात्राएँ

18. अनावृतबीजी (जिम्नोस्पर्म)

कुछ सामान्य भारतीय अनावृत बीजी, पाइनस : रचना और जनन, आर्थिक महत्त्व

19. सूक्ष्माणु और वाइरस

जीवाणु, सर्वव्यापी, आकृति, जनन, पोषण और वृद्धि, निर्जर्मीकरण, पाश्चुरीकरण और परिरक्षण, जीवाणु का महत्त्व, विषाणु (वाइरस)

20. शैवाल

क्लैमाइडोमोनास, स्पाइरोजाइरा, आर्थिक महत्त्व

21. कवक

राइजोपस, पक्सीनिया, आर्थिक महत्त्व

चतुर्थ भाग—वनस्पतियों और जंतुओं का क्रिया विज्ञान (फिजिओलोजी)

अध्याय

पंचम भाग—स्व-पुनरुत्पादन या जनन

अध्याय

षष्टम भाग—आनुवंशिकता, विकास और अनुकूलन

अध्याय

सप्तम भाग—सामान्य

अध्याय